संयोजक और प्रकाशक

श्री० राजराजेश्वरप्रसाद भार्गव,

एजूकेशनल पब्लिशिङ्ग कंपनी लिमिटेड,

चारबाग़, लखनऊ,

इस अंक की विषय-सूची

विश्व की कहानी

पृथ्वी की कहानी

मनुष्य की कहानी

पं० भृगुराज भार्गव द्वारा अवध-प्रिंटिंग-वर्क्स, चारबाग़, लखनऊ, में मुद्रित तथा
एजूकेशनल पब्लिशिङ्ग कम्पनी लिमिटेड, चारबाग़, लखनऊ, के लिए प्रकाशित

विश्व की कहानी
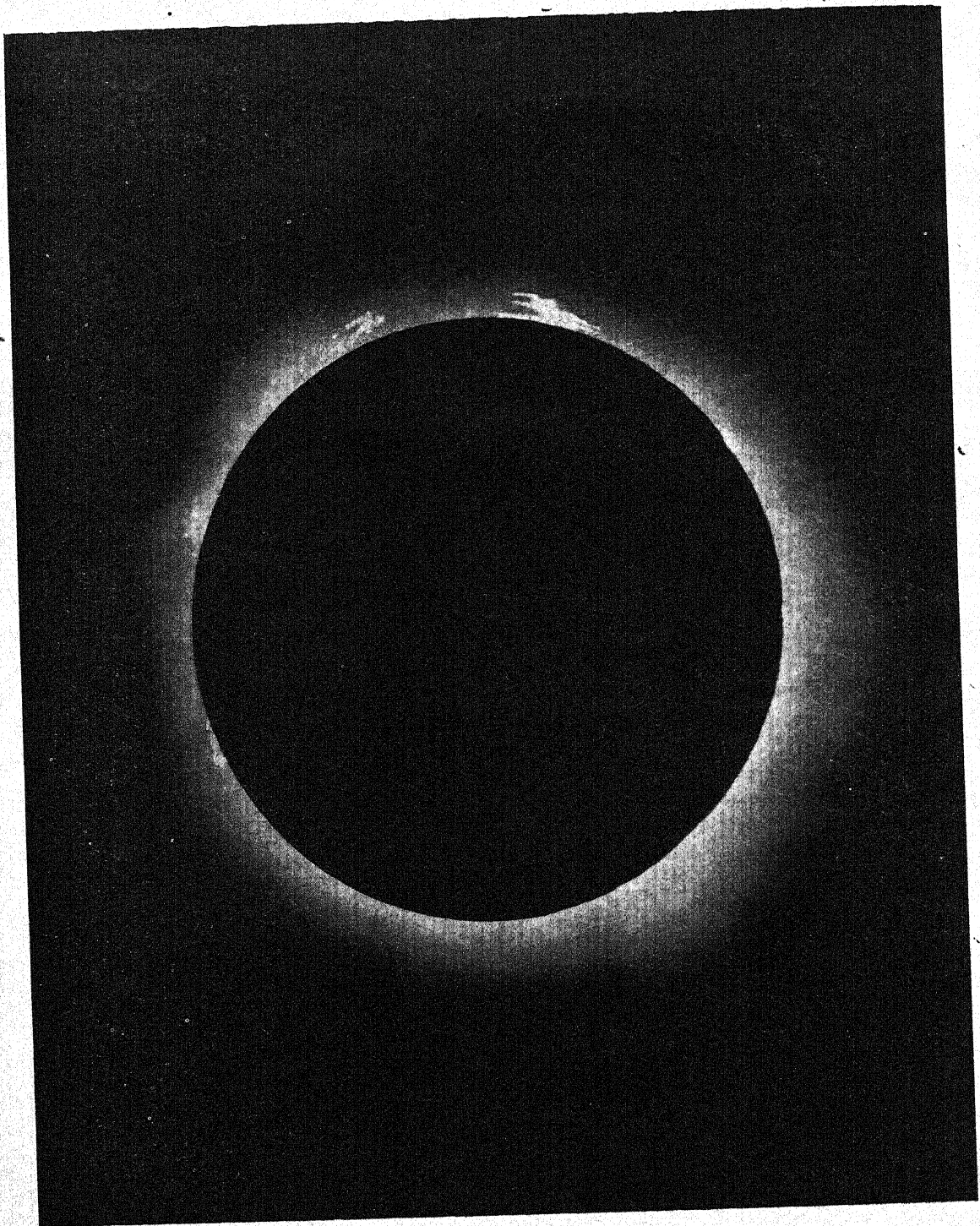
सर्व-सूर्यग्रहण के समय कॉरोना और सूर्योन्नत ज्वालाओं का दृश्य

सर्व-सूर्यग्रहण का यह फ़ोटो दक्षिणी अमेरिका के चाइल नामक प्रदेश के एक स्थान से अप्रैल १६, १८९३, को लिक वेधशाला की ग्रहण-पार्टी द्वारा लिया गया था। सूर्य-बिम्ब काले चंद्रमा द्वारा पूरी तरह ढक लिया गया है और आस-पास कॉरोना का प्रकाश फैला हुआ दिखाई दे रहा है। किनारे पर स्थान-स्थान में अधिक तीव्र प्रकाशवाली लपटें ही सूर्योन्नत ज्वालाएँ हैं, जो कई हज़ार मील ऊपर तक उठती रहती हैं। [फ़ोटो—'लिक वेधशाला, केलिफ़ोर्निया यूनिवर्सिटी, माउण्ट हेमिल्टन, केलिफ़ोर्निया (अमेरिका)' से प्राप्त।]

सूर्य की बनावट

सूर्य की ऊपरी सतह की जाँच करने से जो मुख्य बातें मालूम हुई हैं, उनमें से कुछ तो पिछले अध्यायों में बताई जा चुकी हैं और शेष इस लेख में बताई जा रही हैं।

सूर्य के संबंध में बहुत-सी बातों का पता सूर्य के सर्व-ग्रहणों के समय लगा है। इसीलिए सूर्य के सर्व-ग्रहण ज्योतिषियों के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण होते हैं। उनको देखने के लिए ज्योतिषी अक्सर दूर-दूर से आते हैं और आवश्यक यंत्रों के बनाने और लाने में बहुत धन व्यय करते हैं। कभी-कभी कुछ ज्योतिषियों को एक सर्व-ग्रहण देखने के लिए आधी पृथ्वी की यात्रा करनी पड़ती है। बात यह है कि सर्व-सूर्यग्रहण समस्त पृथ्वी पर नहीं दिखलाई पड़ता है। सूर्य बड़ा है और चंद्रमा छोटा। इसलिए चंद्रमा की वह छाया—प्रच्छाया—जहाँ सूर्य का कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता, सूचिकाकार होती है। ज्यों-ज्यों हम चंद्रमा से दूर होते जाते हैं, त्यों-त्यों छाया छोटी होती जाती है। पृथ्वी तक पहुँचते-पहुँचते यह कुछ ही मील व्यास की रह जाती है। हाँ, पृथ्वी के घूमने और चंद्रमा
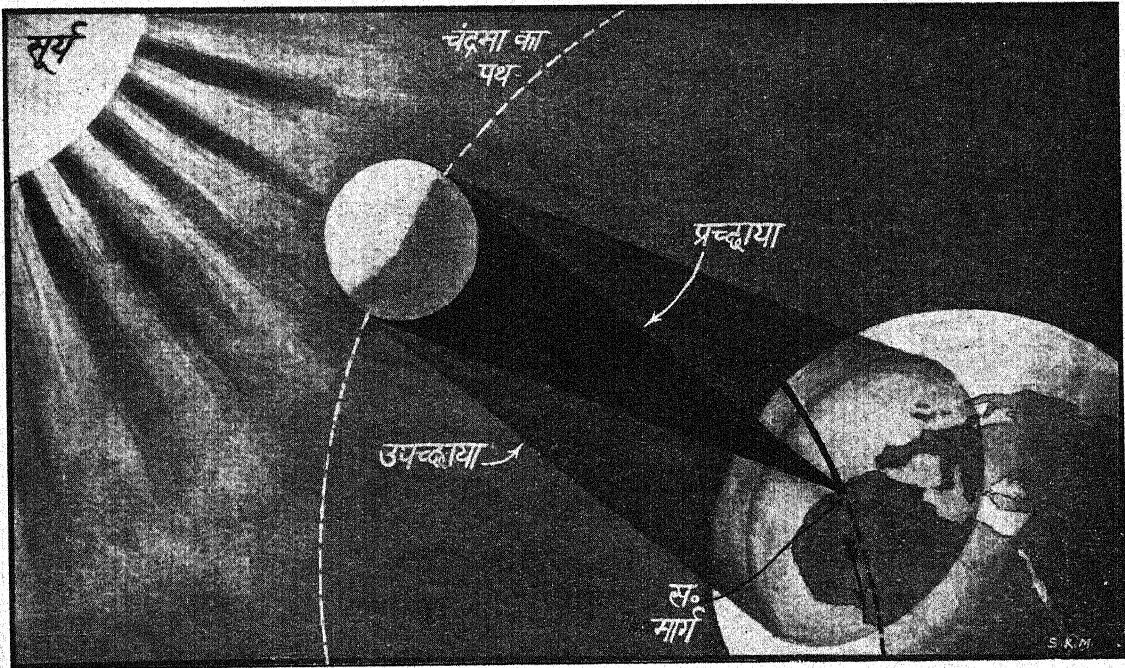
ग्रहण के समय चंद्रमा की प्रच्छाया तथा सर्व-सूर्यग्रहण का छाया-मार्ग

ग्रहण के समय सूर्य की आड़ में चंद्रमा के आ जाने से पृथ्वी पर दो प्रकार की छाया पड़ती हैं—एक बहुत गहरी जो पृथ्वी पर पहुँचते-पहुँचते सूचिकाकार हो जाती है। इसे 'प्रच्छाया' कहते हैं। यह छाया जिन भागों पर पड़ती है, वहाँ से सर्व-सूर्यग्रहण दिखलाई पड़ता है। दूसरी कम गहरी छाया 'उपच्छाया' कहलाती है। यह छाया जहाँ पड़ती है, वहाँ से खंडग्रहण दिखलाई देता है। 'प्रच्छाया' का मार्ग ही सर्व-सूर्यग्रहण का मार्ग है, जो ऊपर के चित्र में रेखा द्वारा दिखाया गया है।

के चलते रहने के कारण छाया भिन्न-भिन्न क्षणों में भिन्न-भिन्न स्थानों पर पड़ती है। परिणाम यह होता है कि छाया-मार्ग साधारणतः पृथ्वी की एक लंबी और केवल कुछ ही मील चौड़ी पट्टी पर दौड़ता हुआ निकल जाता है*। केवल उन्हीं को सर्व-सूर्य-ग्रहण दिखलाई पड़ता है, जो इस छाया-मार्ग में पड़ते हैं। दूसरों को खंड-सूर्यग्रहण दिखलाई पड़ता है। छाया-मार्ग से बहुत दूर पर किसी प्रकार का ग्रहण नहीं दिखलाई पड़ता।

ग्रहण के समय उग्रह होते हुए सूर्य का हीरे की अँगूठी के समान दिखाई पड़ना

छाया का वेग भूमध्य-रेखा के पास एक हज़ार मील प्रति घंटे के लगभग होता है। दूसरे स्थानों में वेग कुछ अधिक होता है। सर्व-सूर्यग्रहण किसी एक स्थान में कुछ ही मिनटों तक दिखलाई पड़ता है। कभी भी साढ़े सात मिनट से अधिक समय के लिए सर्व-ग्रहण नहीं लग सकता। यदि पाँच या छः मिनट के लिए भी सर्व-ग्रहण लगे, तो ज्योतिषी इसे खूब लंबा सर्व-सूर्यग्रहण समझेंगे और इसके लिए दूर तक जाने के लिए तैयार हो जायँगे। साधारण ग्रहण सर्व-ग्रहण के लगभग एक घंटे पहले आरंभ होता है और इसी प्रकार सर्व-ग्रहण के लगभग एक घंटे बाद समाप्त होता है। परन्तु साधारण ग्रहण से ज्योतिषीगण कुछ विशेष सीख नहीं पाते। वे सब बातें केवल कुछ मिनटों के सर्व-सूर्यग्रहण ही में सीख पाते हैं।

इन अवसरों पर ज्योतिषी क्या करते हैं, उन्हें क्या दिखलाई पड़ता है, उन्होंने क्या-क्या सीखा है, आदि बातें नीचे बतलाई जायँगी।

सूर्य के सर्व-ग्रास का एक फ़ोटो

यह फ़ोटो मई १७, १८८२, को मिस्र में लिया गया था। चंद्रमा की आड़ से प्रज्वलित मणियों के रूप में सूर्य-बिंब झलक रहा है। ये मनकाएँ 'बेली-मनका' के नाम से मशहूर हैं; क्योंकि बेली-नामक व्यक्ति ने सर्वप्रथम ज्योतिषियों का ध्यान इनकी ओर आकर्षित किया था।

कोरी आँख से क्या दिखलाई पड़ता है

सर्व-सूर्यग्रहण अत्यंत मनोहर दृश्य है। जिसने कभी भी कोई सर्व-सूर्य-ग्रहण देखा है, वह उसे जन्म भर नहीं भूल सकता।

सर्व ग्रास के लगभग दस मिनट पहले से अँधेरा मालूम होने लगता है। उस समय रोशनी थोड़ी और सो भी केवल सूर्य के किनारे से आती है, इसलिए इसका रंग कुछ असाधारण होता है। फलतः, आकाश और पृथ्वी

* कभी भी १८५ मील से अधिक चौड़ी छाया नहीं पड़ सकती। साधारणतः छाया की चौड़ाई इससे बहुत कम होती है।

दोनों विचित्र रंग के हो जाते हैं। तापक्रम घट जाता है और एकाएक ठंढक मालूम पड़ने लगती है। फूलों की पँखुड़ियाँ बंद होने लगती हैं, मानो रात्रि आ रही हो। चिमगादड़ अपने बसेरों से निकलकर इधर-उधर फड़फड़ाने लगते हैं, परंतु अन्य पक्षी घबराकर गिरते-भहराते अपने घोंसलों की ओर दौड़ते हैं या कहीं आड़ पाकर अपना सिर अपने पंख के नीचे दबाकर पड़ रहते हैं। प्रायः जानवर पंक्तिबद्ध होकर और सींग ऊपर उठाकर एक घेरे में खड़े हो जाते हैं, मानो किसी भयानक शत्रु से मुक़ाबला करना हो। मुर्गी के बच्चे दौड़कर अपनी माँ के पंख के नीचे छिप जाते हैं और कुत्ते दुम दबाकर अपने मालिक के पैर से लिपट जाते हैं। स्वयं मनुष्य भी, यद्यपि वह अँधेरा होने के कारण को जानता है—इतना ही नहीं, वह इस घटना के समय की गणना वर्षों पहले से कर लेता है—इस अशान्ति से बच नहीं सकता। उसके भी हृदय में एक प्रकार का भय उत्पन्न हो जाता है।

अपने कार्य पर मुस्तैद एक ग्रहण-पार्टी

यह १९३७ के सर्व-सूर्यग्रहण के अवसर पर प्रशान्त महासागर के बीच कैंटन द्वीप पर जानेवाले एक अमेरिकन ज्योतिषी-दल के प्रधान दूरदर्शक और उसके संचालकों का फ़ोटो है।

जहाँ दूरस्थ क्षितिज स्पष्ट दिखलाई देता रहता है, वहाँ चंद्रमा की छाया आँधी की तरह और अत्यंत डरावने वेग से आती हुई स्पष्ट दिखलाई पड़ती है।

सूर्य अब क्षीण रेखा-सा प्रतीत होता है, परंतु मिटने के पहले यह प्रज्वलित मणियों के समान कई टुकड़ों में बँट जाता है। इनके मिटते ही एकाएक ऐसा अँधेरा हो जाता है कि मनुष्य चौंक पड़ता है। परंतु क्षण भर बाद, आँखों की चकाचौंध मिट जाने पर पता चलता है कि बहुत अँधेरा नहीं है।

साथ ही अनुपम सौंदर्य और वैभवयुक्त दृश्य आँखों के सामने उपस्थित मिलता है। चंद्र-मंडल, स्याही से भी काला, अधर में लटकता हुआ दिखलाई पड़ता है और इसके चारों ओर मोती के समान झलकता हुआ कोमल प्रकाश का मुकुट दृष्टिगत होता है। इस मुकुट की जड़
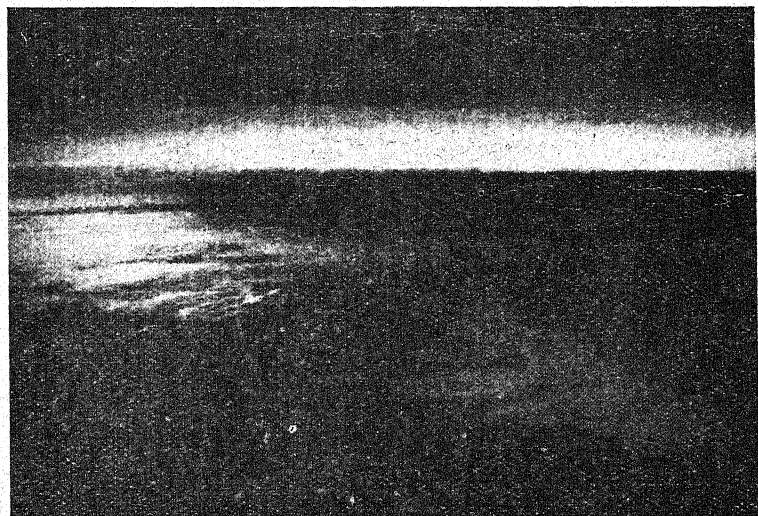
सर्व-ग्रास के समय डरावने वेग से पृथ्वी पर बढ़ती आ रही चंद्रमा की छाया

यह अद्भुत फ़ोटो १९३२ के सर्व-सूर्यग्रहण के समय २७ हजार फ़ीट की ऊँचाई से हवाई जहाज़ में उड़कर लिया गया था। दूरस्थ क्षितिज पर कुछ प्रकाश शेष है, बाक़ी जगह डरावना अँधेरा छा गया है। प्रकाश में कहीं-कहीं बादल श्वेत दिखाई दे रहे हैं।

त्रिपार्श्व द्वारा रश्मि-विश्लेषण

तीन पहल के इस शीशे के टुकड़े त्रिपार्श्व (prism) में से होकर जब प्रकाश निकलता है, तो फैलकर वह दाहिनी ओर दिखाये गये रंगों की सात किरणों में विभाजित हो जाता है, जिसे 'वर्णपट' (Spectrum) कहते हैं। 'त्रिपार्श्व' के इस अद्भुत सामर्थ्य ने यह संभव कर दिया है कि हम किसी भी नक्षत्र से आनेवाले प्रकाश का विश्लेषण कर इस बात की जाँच कर सकें कि नक्षत्र पर कौन-कौन-से तत्त्व हैं या वहाँ कितना ताप है; क्योंकि प्रत्येक तत्त्व के तप्त वाष्प से निकले प्रकाश का 'वर्णपट' भिन्न होता है। नीचे ग्रहण के समय लिये गये सूर्य-प्रकाश के दो वर्णपटों के रश्मिचित्र दिये गये हैं। इन चित्रों की श्वेत या काली रेखाएँ सूर्य के वर्ण-मंडल में उपस्थित विभिन्न तत्त्वों का दिग्दर्शन करती हैं।

के पास स्थान-स्थान पर अत्यंत अनोखे आकारों की रक्त-वर्ण ज्वालाओं की जिह्वाएँ काले चंद्र-मंडल के पीछे से लपकती हुई दिखलाई पड़ती हैं। जिस "वर्ण मंडल" से ये ज्वालाएँ लपकती हैं, वह भी अत्यंत दीप्तिमान और चंद्र-मंडल से सटा हुआ दिखलाई पड़ता है। इस समय आकाश में प्रायः नक्षत्र भी दिखलाई देने लगते हैं।

सूर्य के फिर से निकलने के पहले उसके वायुमंडल का सबसे नीचे का भाग इस्पात के समान श्वेत वर्ण का चमकता हुआ दिखलाई पड़ता है। तब एकाएक चकाचौंध पैदा करनेवाला प्रकाश-मंडल निकल पड़ता है। सब जगह प्रकाश भर जाता और कॉरोना प्रायः छिप जाता है। केवल एक-आध मिनट तक इसकी जड़ अँगूठी की भाँति दिखलाई पड़ती है।
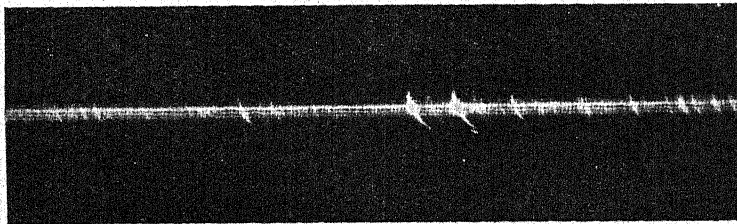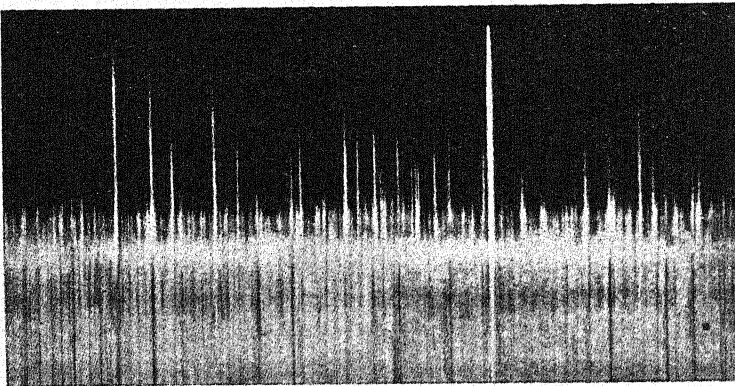
प्रकाश-प्रसरण* के कारण प्रकाश - मंडल का प्रथम भाग असली आकार की अपेक्षा बहुत बड़ा दिखलाई पड़ता है, इसीलिए सूर्य हीरे की अँगूठी के समान जान पड़ता है।

एक मिनट ही में कॉरोना आदि का लेश-मात्र भी नहीं रह जाता।

* बहुत चमकीली चीजें हमको अपने असली आकार से बड़ी दिखलाई पड़ती हैं। उदाहरणार्थ, चमकीले तारे अन्य तारों की अपेक्षा हमको बड़े दिखलाई पड़ते हैं, यद्यपि नाप में वे बराबर होते हैं। प्रकाश के इस प्रकार फैलने को 'प्रकाश-प्रसरण' कहते हैं।
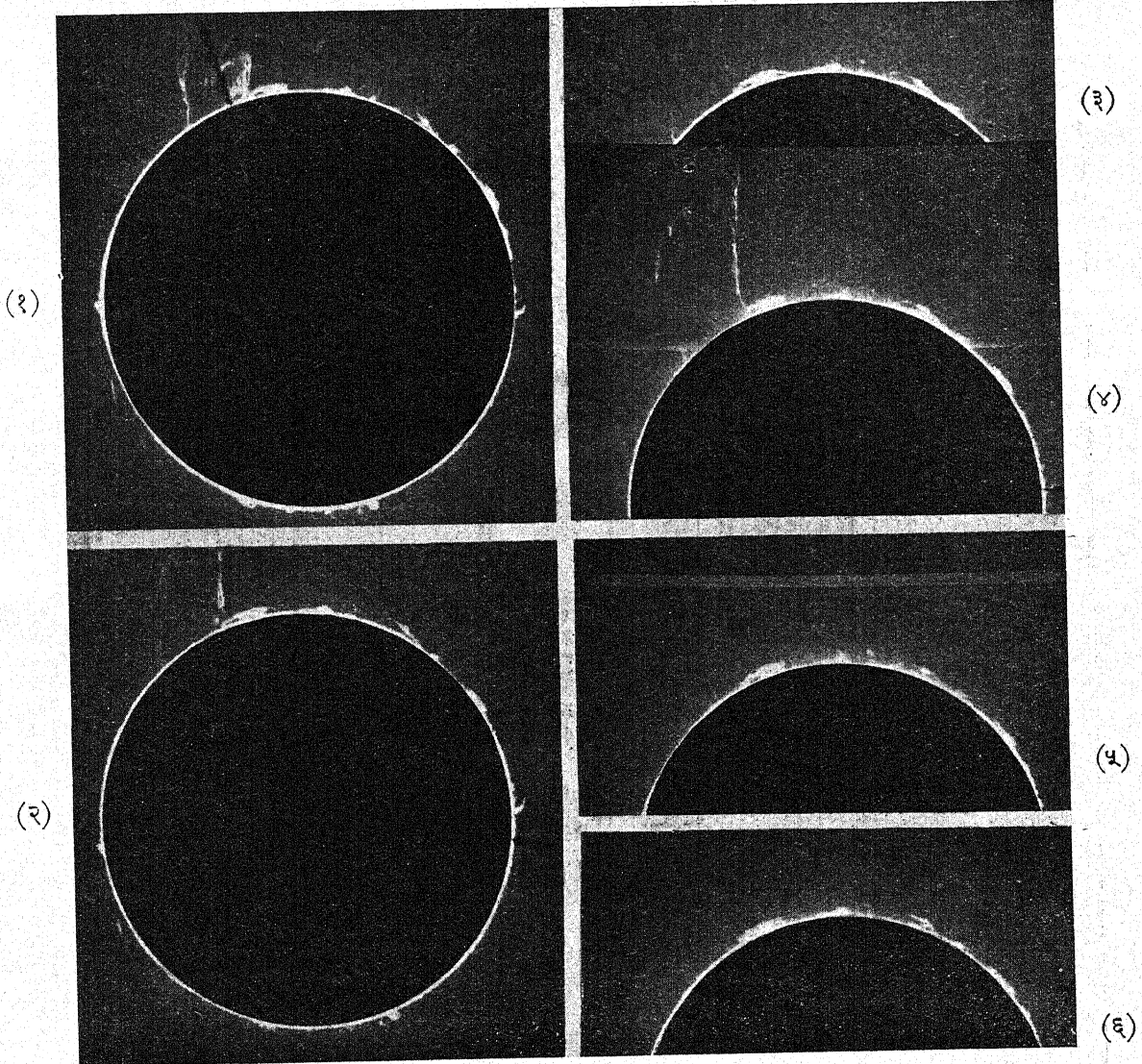
सूर्योन्नत और उद्‌गारी ज्वालाएँ, २६ मई, १९१६

ये फ़ोटो ग्रहण के समय के नहीं हैं, वरन् रश्मि-चित्र-सौर-कैमेरे से कैलिशयम-प्रकाश द्वारा साधारण दिवस पर थोड़ी-थोड़ी देर के बाद लिये गये हैं। इनसे यह स्पष्ट है कि सूर्योन्नत या उद्‌गारी ज्वालाएँ किस भयानक वेग से अपना रूप बदलती और ऊपर की ओर उठती हैं। नं० १ फ़ोटो ८ बजकर १८ मिनट ५० सैकंड पर लिया गया था; नं० २ फ़ोटो ८ बजकर ४४ मिनट ६ सैकंड पर; नं० ३ फ़ोटो ८ बजकर ५७ मिनट पर; नं० ४ फ़ोटो ९ बजकर ४ मिनट पर; नं० ५ फ़ोटो ९ बजकर १० मिनट पर; और नं० ६ फ़ोटो ९ बजकर २० मिनट पर। [फ़ोटो—'कोदईकैनाल वेधशाला, दक्षिण भारत,' की कृपा से प्राप्त।]

सर्व-सूर्यग्रहण देखने के लिए बहुत-से ज्योतिषी महीनों से तैयारी करते हैं। आवश्यक धन प्रायः किसी लखपती या सरकार की उदारता से मिल जाता है। सर्व-ग्रहण साधारणतः पाँच ही छः मिनट के लिए लगता है, इसलिए बहुत पहले से निश्चय किया जाता है कि ग्रहण के समय क्या-क्या और किस प्रकार काम किया जायगा। वर्षों पहले से चंद्रमा के छाया-मार्ग में स्थित स्थानों की जाँच की जाती है, जिससे पता लग जाय कि ग्रहण के समय वहाँ आकाश के स्वच्छ रहने की संभावना है या मेघाच्छन्न। फिर जल-वायु के अध्ययन करनेवालों की
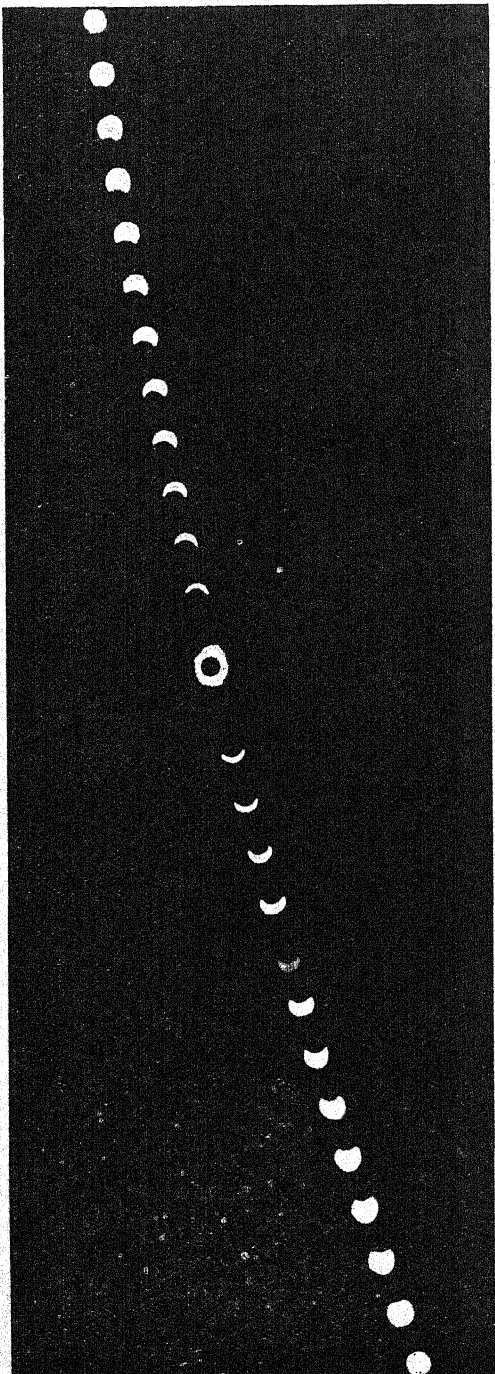
ग्रहण की प्रगति

इस चित्र में एक ही प्लेट पर पाँच-पाँच मिनट के बाद लिये गये सूर्य के २६ फ़ोटो हैं, जिनमें दिखाई दे रहा है कि किस तरह धीरे-धीरे ग्रहण लगकर सूर्य का उग्रह हुआ।

रिपोर्ट, उस स्थान तक पहुँचने और वहाँ रहने के सुभीते, तथा वहाँ सर्व-ग्रहण कितने समय तक लगा रहेगा आदि बातों पर विचार करके निश्चय किया जाता है कि किस-किस वेधशाला से ज्योतिषी कहाँ-कहाँ जायँगे। यथासंभव प्रयत्न किया जाता है कि ज्योतिषियों के समूह भिन्न-भिन्न स्थानों पर अपना डेरा डालें, ताकि एक स्थान पर बादलों से काम बिगड़ जाने पर दूसरे स्थानों में कुछ प्रत्यक्ष फल मिले। तब भी, कभी-कभी ग्रहण-मार्ग का अधिकांश जल ही पर पड़ता है और एक ही दो टापू या निर्जन स्थान इसके भीतर पड़ते हैं। ऐसी दशा में लाचार होकर ज्योतिषियों को वहाँ ही जाना पड़ता है। एक बार ऐसा भी हुआ था कि एक ही बादल के टुकड़े से सब ज्योतिषियों का महीनों का कठिन परिश्रम मिट्टी हो गया!

इधर स्थान तय हुआ करता है, उधर ज्योतिषी लोग अपना कार्य-क्रम निश्चित करके अनेक प्रकार की तैयारी करते हैं। अनेक बार ग्रहण के अवसर पर उपयोग करने के लिए विशेष यंत्र बनाने पड़ते हैं। इन यंत्रों की पहले पूरी जाँच करके उनकी छोटी-से-छोटी त्रुटि भी मिटाई जाती है। ग्रहण के समय सफलता प्राप्त करने के लिए प्रयोगशाला और वेधशाला में महीनों नये-नये प्रयोग किये जाते हैं।

स्थान निश्चित हो जाने, सब सामान ठीक हो जाने, और रुपये-पैसे, पासपोर्ट, रेल और जहाज़ इत्यादि यात्रा-संबंधी सब बातों का प्रबंध हो जाने पर ज्योतिषी-सेना का अग्रभाग यंत्रों को लेकर कार्य-क्षेत्र में पहले पहुँचता है। आवश्यकतानुसार शिविर तैयार होते हैं, यंत्र आरोपित किये जाते हैं और उनकी पूरी जाँच की जाती है। इतने में शेष ज्योतिषी भी आ पहुँचते हैं।

किसी दूरदर्शक से कॉरोना और रक्त-ज्वालाओं के कई एक बड़े फ़ोटोग्राफ़ लिये जायँगे, किसी से सूर्य के चारों ओर के आकाश का फ़ोटोग्राफ़ लिया जायगा, किसी से सूर्य के वायु-मडल के भिन्न-भिन्न भागों का 'वर्णपट' (इसके संबंध में विशेष हाल इसी लेख में आगे देखिए) लिया जायगा, किसी से अन्य अनुसंधान होगा। कहीं-कहीं तापक्रम आदि नापने का प्रबंध किया जायगा। कोई ग्रहण का सिनेमा-चित्र लेगा।

अभी ग्रहण लगने को कई दिन हैं, परंतु अभी से सब क्रियाओं का पूर्वाभ्यास (रिहर्सल) जारी है। प्रतिदिन कई बार अभ्यास किया जाता है। छोटी-से-छोटी बात भी पहले से सोच ली जाती है, जिसमें समय पर कोई तरह की गड़बड़ी न होने पावे।

अंत में ग्रहण का दिन भी आ जाता है।

साधारण ग्रहण आरंभ होता है। सब सामान दुरुस्त है। लोग अपने-अपने स्थान पर मुस्तैद हैं। धीरे-धीरे उत्सुक ज्योतिषियों को जान पड़ता है, मानो चींटी की चाल से भी धीरे-धीरे खिसककर चंद्रमा सूर्य को ढक चलता है। ग्रहण की इस ढिलाई से ज्योतिषियों को दम मारने की फ़ुरसत मिल जाती है; परंतु इतने पर भी सभी व्यग्रचित्त रहते हैं, विशेषकर सर्वग्रास के दो-चार मिनट पूर्व जब प्रतीक्षा करने के सिवाय और कुछ करना नहीं रहता है।

जिस क्षण सर्व-ग्रहण आरंभ होता है, इसी काम के लिए नियुक्त एक ज्योतिषी सूचना देता है और तुरंत सब अपने-अपने पूर्व-निश्चित कार्यक्रम को पूरा करते हैं।

यह समझने के लिए कि ग्रहणों से ज्योतिषियों ने क्या सीखा है, रश्मि-विश्लेषण का थोड़ा ज्ञान आवश्यक है। जब किसी रेखाकार छेद से निकला श्वेतप्रकाश त्रिपार्श्व* (दे० पृ० ३८६ का चित्र; ऐसा शीशा झाड़-फ़ानूस में लगता है) से होकर बाहर निकलता है, तब वह श्वेत रहने के बदले इंद्र-धनुष के समान कई रंगों में फैल जाता है, जिसे 'वर्ण-पट' (Spectrum) कहते हैं। प्रसिद्ध गणितज्ञ और वैज्ञानिक न्यूटन ने पहलेपहल बताया कि श्वेत प्रकाश असंख्य रंगीन प्रकाशों से बना है और त्रिपार्श्व में से होकर आने पर श्वेत प्रकाश अपने विभिन्न अवयवों में विभक्त हो जाता है। इन अवयवों को साधारणतः सात समूहों में बाँटा जाता है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—बैंगनी, नीला, आसमानी, हरा, पीला, नारंगी, और लाल। परंतु वर्णपट को इस प्रकार सात भागों में बाँटना मन-माना है। वस्तुतः वर्णपट की प्रत्येक रेखा एक भिन्न रंग की होती है। हाँ, दो समीपवाली रेखाओं के रंगों में अंतर अवश्य इतना सूक्ष्म होता है कि हम उसे शब्दों द्वारा सूचित नहीं कर सकते, परंतु उनमें अंतर होता है अवश्य।

वैज्ञानिकों का मत है कि प्रकाश किसी प्रकार की लहर है। श्वेत प्रकाश में छोटी बड़ी कई नाप की लहरें होती

(दाहिनी ओर) एक ही उद्गारी ज्वाला के तीन फ़ोटो

ये फ़ोटो १९ नवंबर, १९२८, को क्रमशः (ऊपर से नीचे की ओर) ७ बजकर ५५ मिनट ५ सैकंड, ८ बजकर ५८ मिनट, और ९ बजकर ४ मिनट पर कैलिशयम-प्रकाश द्वारा लिये गये थे। ऊपर के चित्र में उद्गारी ज्वाला सूर्य सतह से ३६८००० मील की ऊँचाई तक उठ गई है। लगभग १ घंटे बाद बीच के चित्र में वही ज्वाला ४५१००० मील की ऊँचाई पर जा पहुँची है। इसके छः ही मिनट बाद वही ज्वाला नीचे के फ़ोटो में ४९५००० मील की ऊँचाई पर जा पहुँची है। [फ़ोटो—'कोदईकैनाल वेधशाला' से प्राप्त।]
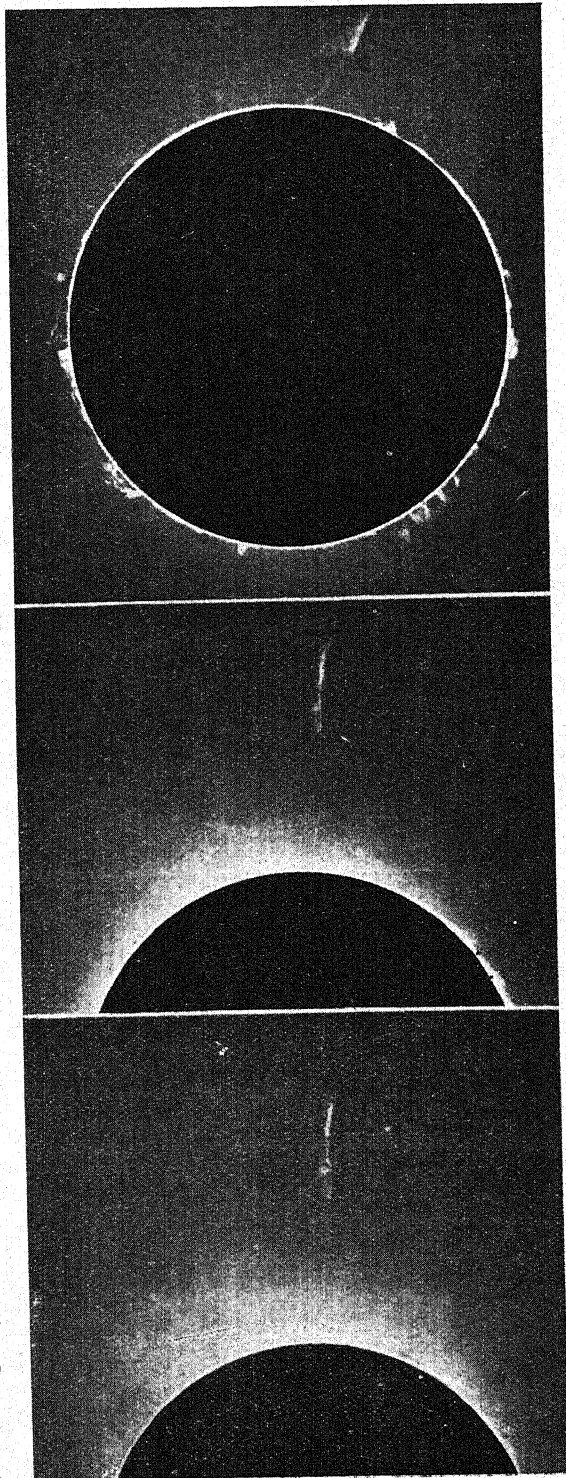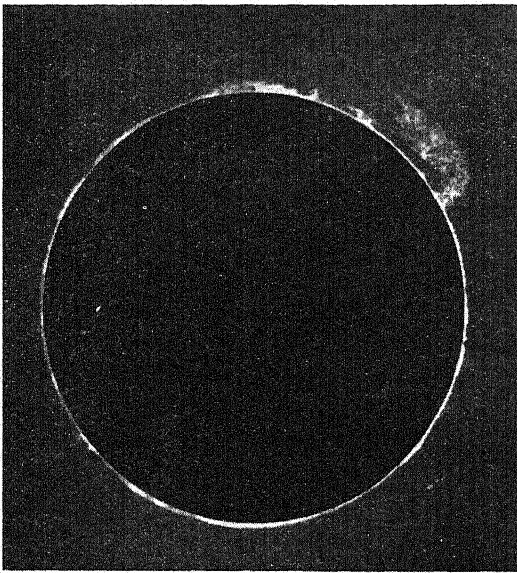
कैल्शियम सूर्योन्नत ज्वालाएँ, २६ मई, १६१६

यह फ़ोटो ६ बजकर ४ मिनट ५८ सैकंड पर कैल्शियम प्रकाश द्वारा लिया गया था। ['कोदईकैनाल वेधशाला' की कृपा से प्राप्त।]

हैं। यदि लहर की एक चोटी से दूसरी चोटी तक की दूरी को 'लहर-लंबाई' कहा जाय, तो हम कह सकते हैं कि श्वेत प्रकाश में असंख्य अवयव हैं और प्रत्येक अवयव की लहर-लंबाई भिन्न है। जब श्वेत प्रकाश त्रिपार्श्व से होकर निकलता है, तब प्रत्येक भिन्न लहर-लंबाई का प्रकाश एक भिन्न दिशा में चलता है और इस प्रकार श्वेत प्रकाश अपने अवयवों में बँट जाता है। इसीलिए, यद्यपि वर्णपट के विभिन्न रेखाओं के रंगों को शब्दों से सूचित करना असंभव है तो भी, किसी विशेष रेखा का उल्लेख उसकी लहर-लंबाई बतलाने से किया जा सकता है।

सौभाग्य की बात है कि प्रत्येक तत्त्व के तप्त वाष्प से निकले प्रकाश का वर्णपट विभिन्न होता है। अनेक तत्त्वों के मिश्रण रहने पर भी वर्णपट से इन तत्त्वों की पहचान करने में कोई कठिनाई नहीं पड़ती। इसलिए सूर्य से (या कहीं से भी) आये प्रकाश के वर्णपट को देखकर हम बतला सकते हैं कि वहाँ कौन-कौन-से तत्त्व हैं।

बिजली की रोशनी का या किसी भी अत्यंत तप्त ठोस पदार्थ से निकली रोशनी का, वर्णपट 'अटूट' होता है। वह कहीं से टूटा नहीं रहता। उसमें कहीं काले भाग नहीं रहते। यदि किसी तप्त गैस से निकले प्रकाश का वर्णपट बनाया जाय, तो उसमें केवल चमकती हुई रेखाएँ ही दिखलाई पड़ती हैं, शेष भाग काला रहता है। उदाहरणार्थ यदि हम किसी स्टोव की लौ में कुछ नमक छोड़ दें तो लौ, जो पहले नीली और प्रायः प्रकाशरहित रहती है, पीली और प्रकाशमय हो जाती है। यदि हम इस पीले प्रकाश का वर्णपट बनावें, तो हमें उसमें केवल दो प्रायः सटी हुई पीली रेखाएँ दिखाई पड़ती हैं। नमक में सोडियम होता है और जब कभी प्रकाश सोडियम के गरम वाष्प से आता है, तब वर्णपट में ये दो पीली रेखाएँ ही दिखलाई पड़ती हैं।

यदि प्रकाश बिजली के बल्ब से या अन्य किसी अत्यन्त तप्त ठोस पदार्थ से चले और बीच में किसी तप्त गैस को पार करके निकले, तो रश्मि-चित्र में काली रेखाएँ दिखलाई पड़ती हैं (गैस का तापक्रम तप्त ठोस के तापक्रम से कम होना चाहिए)। उदाहरणार्थ, यदि बिजली की रोशनी नमक-पड़े स्टोव की लौ पार करके त्रिपार्श्व पर पड़े, तो वर्णपट में दो प्रायः सटी हुई काली रेखाएँ ठीक उसी स्थान में दिखलाई पड़ती हैं जहाँ पहले दो चमकीली रेखाएँ दिखलाई पड़ती थीं।

जब कभी किसी वर्णपट में काली रेखाएँ दिखलाई पड़ती हैं, तो समझा जा सकता है कि प्रकाश किसी तप्त ठोस वस्तु से चलकर कुछ कम तप्त गैसों को पार करके आ रहा है।
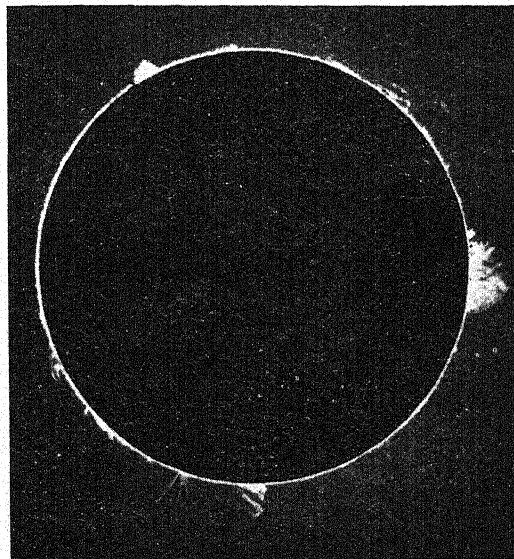
कैल्शियम सूर्योन्नत ज्वालाएँ, २ जून, १६३७

यह फ़ोटो ७ बजकर ४१ मिनट २८ सैकंड पर कैल्शियम-प्रकाश द्वारा रश्मि-चित्र-सौर-कैमैरे से लिया गया था। ['कोदईकैनाल वेधशाला' की कृपा से प्राप्त।]

जर्मन वैज्ञानिक फ़ाउनहोफ़र ने पहले-पहल देखा कि सूर्य के प्रकाश के वर्णपट में भी काली रेखाएँ हैं। इससे सिद्ध हुआ कि सूर्य का मध्य भाग ठोस है, या यदि गैस है तो इतना दबा हुआ है कि उसका प्रकाश तप्त ठोस की जाति का वर्णपट देता है। इसके चारों ओर तप्त गैसों की एक तह है, जिसे "पल्टाऊ तह" कहते हैं, क्योंकि इसके कारण सोडियम आदि धातुओं की चमकीली रेखाएँ पलटकर काली हो जाती हैं। इस तह में क्या-क्या वस्तुएँ हैं, यह हम वर्णपट की सूक्ष्म जाँच से निश्चयपूर्वक बतला सकते हैं।

वस्तुतः सूर्य में प्रायः वे सभी तत्त्व हैं, जो पृथ्वी पर हैं, और इसलिए संभवतः सूर्य की रासायनिक बनावट प्रायः वैसी ही होगी, जैसी पृथ्वी की। परन्तु भयानक गरमी के कारण अवश्य ही सूर्य पर यौगिक पदार्थ न होंगे। ऐसे पदार्थ टूटकर अपने मौलिक तत्त्वों में विभक्त हो गये होंगे।

१६२२ के सर्व-सूर्यग्रहण के समय कॉरोना

१६२२ में सूर्य-कलंक अपनी महत्तम अवस्था पर थे, इसलिए फ़ोटो में कॉरोना लगभग समान रूप से चारों ओर फैला दिखाई दे रहा है। नीचे के फ़ोटो से तुलना कीजिए।

जब सौर वर्णपट की पहले-पहल सूक्ष्म जाँच हुई, तो पता लगा कि उसमें अन्य तत्त्वों की रेखाओं के साथ ही एक समूह ऐसी रेखाओं का था, जो किसी ज्ञात पदार्थ की नहीं थीं। इस पदार्थ का नाम वैज्ञानिकों ने 'हीलियम' रक्खा, जो ग्रीक शब्द हीलियस (=सूर्य) से बनाया गया। ध्यान देने की बात है कि हीलियम का अस्तित्व केवल उपरोक्त सिद्धांतों के आधार पर टिका था। यदि सिद्धांत अशुद्ध होता, अथवा यदि एक ही धातु वर्णपट में कभी कोई और कभी कोई रेखाएँ उत्पन्न किया करतीं तथा वैज्ञानिकों को इसका पता न रहता, तो हीलियम की कल्पना कोरी कल्पना ही रहती। परंतु कुछ वर्षों के बाद पृथ्वी ही पर एक नवीन गैस का पता चला, जिसके वर्णपट में ठीक उन्हीं स्थानों में (अर्थात् ठीक उन्हीं लहर-लंबाइयों की) चमकीली रेखाएँ दिखलाई पड़ती थीं, जहाँ सूर्य में हीलियमवाली काली रेखाएँ थीं। इतना काफ़ी था। सिद्ध हो गया कि सूर्य की वह अज्ञात गैस अवश्य ही हीलियम थी। वैज्ञानिक
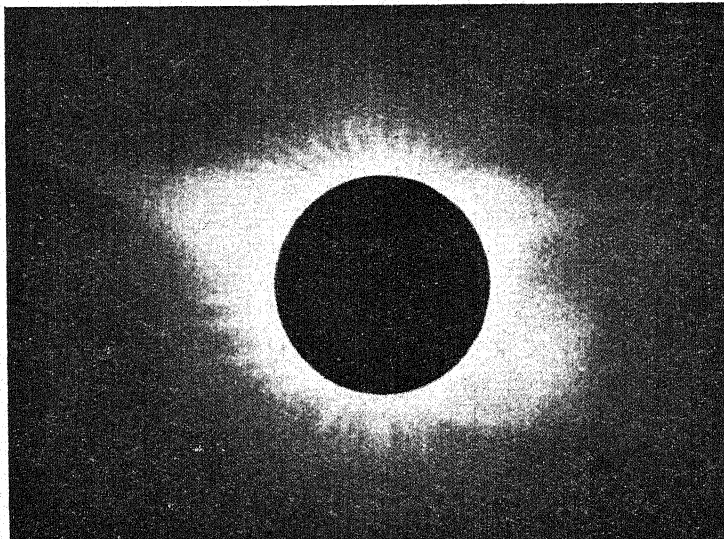
१६३२ के सर्व-सूर्यग्रहण के समय कॉरोना

इस समय सूर्य-कलंक लघुतम अवस्था में थे, अतएव कॉरोना में रश्मियाँ समान रूप से चारों ओर फैलने के बदले दो ओर दूर तक फैली दिखाई दे रही हैं।

सिद्धान्तों का कैसा सुन्दर समर्थन हुआ! अज्ञात रहने के बदले हीलियम अब ज़ेपलिन की जाति के हवाई जहाज़ों में भरी जाती है।

सूर्य की बनावट

उस साधारण-सी वस्तु—त्रिपार्श्व—से हमने कितना अधिक सीखा है! इस त्रिपार्श्व तथा कुछ अन्य यंत्रों और गणित के आधार पर अब हम प्रायः निश्चय रूप से कह सकते हैं कि सूर्य की बनावट ऐसी है।

सूर्य का जो भाग हमको प्रतिदिन दिखलाई पड़ता है, वह अत्यंत गरम और दबी हुई गैसों से बना है। सूर्य के इस भाग को 'प्रकाश-मंडल' या 'फ़ोटोस्फ़ियर' कहते हैं। इसके भीतर देखने का कोई उपाय नहीं है, परंतु गणित के सहारे हम कई एक बातों का अनुमान कर सकते हैं। सूर्य के केंद्र पर दबाव, घनत्व और तापक्रम सभी बहुत अधिक होंगे। वहाँ प्रति वर्ग इंच पर २०,००,००,००,००० मन का दबाव होगा और तापक्रम ४,००,००,००० डिग्री सेंटीग्रेड होगा। बाहर से भीतर तक सर्वत्र गैस-ही-गैस होगी—कोई भी भाग ठोस नहीं होगा। तो भी भयानक दबाव के कारण सूर्य का मध्य भाग पानी की अपेक्षा लगभग २८ गुना भारी होगा! पृथ्वी पर सबसे भारी पदार्थ प्लैटिनम है, परंतु यह पानी की अपेक्षा केवल २१ गुना ही भारी है। इस प्रकार सूर्य का मध्य भाग प्लैटिनम से भी भारी—लगभग सवाई गुना भारी—है। पहले वैज्ञानिकों को विश्वास ही नहीं होता था कि कोई गैस इतनी भारी हो सकती है। सोचा जाता था कि जब गैस इतनी दब जायगी कि उसके सब परमाणु एक दूसरे को छू लेंगे, तब उसे अधिक भारी करना असंभव होगा, चाहे दबाव कितना भी बढ़ाया जाय। परंतु भौतिक विज्ञान के अध्ययन से अब अनुमान किया जाता है कि परमाणु स्वयं ठोस नहीं हैं। प्रत्येक परमाणु के केंद्र में एक समूह 'धनाणुओं' का होता है और इसके चारो ओर एक या अधिक 'ऋणाणु' चक्कर लगाया करते हैं। वैज्ञानिकों का विश्वास है कि सूर्य के केंद्र पर प्रचंड ताप के कारण परमाणुओं में से ऋणाणु निकल गये होंगे। ऐसे टूटे हुए परमाणु भीषण दबाव के कारण दब-कर साधारण ठोस पदार्थों से भी भारी हो गये होंगे।

ये तो हुईं प्रकाश-मंडल के भीतर की बातें। स्वयं प्रकाश-मंडल पर कलंक दिखलाई पड़ते हैं, जिनकी चर्चा पहले की जा चुकी है। प्रकाश-मंडल या फ़ोटोस्फ़ियर देखने में ठीक गोल जान पड़ता है और इसका किनारा चिकना प्रतीत होता है, जिससे अनुमान होता है कि सूर्य पर गड्ढे नहीं हैं। परंतु सूर्य इतनी दूर है कि वहाँ के सौ-दो सौ मील व्यास के गड्ढे हमको दिखलाई नहीं पड़ सकते!

सूर्योन्नत ज्वालाओं के आकार की पृथ्वी से तुलना

वर्त्तुलाकार काला भाग सूर्य के प्रकाश-मंडल का एक भाग है, जिसमें से ज्वालाएँ लपलपाती हुई ऊपर उठ रही हैं। नीचे के काले भाग सफ़ेद गेंद के रूप में इसी अनुपात में पृथ्वी का आकार दिखाया गया है।

प्रकाश-मंडल के ऊपर गैसों की एक तह है, जो प्रकाश मंडल से कुछ कम गरम है। इसको 'पल्टाऊ तह' कहते हैं, क्योंकि इसी के कारण सौर प्रकाश के वर्णपट में काली रेखाएँ उत्पन्न होती हैं। अनुमान किया जाता है कि पल्टाऊ तह केवल हज़ार-पाँच सौ मील ही मोटी होगी।

पल्टाऊ तह के बाहर दस-पाँच हज़ार मील गहरी एक तह गैसों की है, जो सर्व-ग्रहण के समय चटक लाल रंग की झालर के सदृश दिखलाई पड़ती है। अपने चटक रंग के कारण यह "वर्ण मंडल" कहलाती है। ग्रहण के समय इसकी ऊपरी सतह से लाल रंग की ज्वालाएँ लपकती हुई दिखलाई पड़ती हैं और एक विशेष यंत्र से इनका फ़ोटोग्राफ़ बिना ग्रहण लगे भी खींचा जा सकता है। ये ज्वालाएँ 'सूर्योन्नत ज्वालाएँ' कहलाती हैं और विविध आकार की होती हैं। कुछ ज्वालाएँ शांत होती हैं और कई दिनों

सर्वग्रास के समय सूर्य के कॉरोना और आसपास झलकती हुई रक्तिम ज्वालाओं का दृश्य

तक प्रायः एक-सी बनी रहती हैं। सौर वायु-मंडल में ये बादल के समान जान पड़ती होंगी। अन्य ज्वालाएँ 'उद्गारी ज्वालाएँ' कहलाती हैं और ये कलंकों के आस-पास से उठती हैं। शांत ज्वालाओं की अपेक्षा ये बहुत अधिक चमकीली होती हैं और बड़े वेग से ऊपर उठती हैं। कभी-कभी ये इतने वेग से उठती हैं कि घंटे-डेढ़ घंटे में ये पाँच लाख मील ऊपर चली जाती हैं!

वर्ण-मंडल के बाहर सूर्य का कॉरोना या मुकुट है। यह अनियमित आकार का होता है और सूर्य के प्रकाश-मंडल से बीस-पचीस लाख मील ऊपर तक फैला हुआ देखा गया है।

बराबर सर्व-ग्रहणों के नियम फ़ोटोग्राफ़ लेते रहने से इतना पता लगा है कि कॉरोना का स्वरूप भी ११ वर्षीय सूर्य-कलंक-चक्र के साथ बदलता रहता है। कम कलंक के समय में सूर्य की मध्य रेखा के पास कॉरोना की रश्मियाँ लंबी और ध्रुवों के पास की रश्मियाँ छोटी होती हैं। अधिक कलंक के समय कॉरोना का आकार प्रायः गोल रहता है। अभी तक पता नहीं चल सका है कि क्यों ऐसा होता है।

कॉरोना का घनत्व अति सूक्ष्म होगा। १८४३ में एक पुच्छल-तारा कॉरोना को चीरता हुआ निकल गया। पुच्छल-तारे का वेग उस समय ३५० मील प्रति सैकंड था। इतने प्रचंड वेग से चलने पर भी कॉरोना के कारण पुच्छल-तारे को न कुछ रुकावट मालूम हुई और न उसको कोई क्षति ही पहुँची। एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक का अनुमान है कि कॉरोना का घनत्व इतना कम है कि प्रत्येक पंद्रह घन गज़ में केवल एक सूक्ष्म कण होगा। वैज्ञानिक अभी तक यह नहीं जान पाये हैं कि इतना सूक्ष्म होते हुए भी कॉरोना किस प्रकार इतना अधिक चमक सकता है।

सर्व-ग्रहण में वर्णमंडल और कॉरोना से लगभग सप्तमी की चाँदनी इतना प्रकाश आता है।

अभी तक कॉरोना का फ़ोटोग्राफ़ केवल सर्व सूर्यग्रहण के समय ही खींचा जा सकता था, परन्तु हाल में (मई १९३९ में) प्रोफ़ेसर बरनर्ड लॉयट ने एक भाषण दिया है, जिसमें बिना ग्रहण के ही कॉरोना का फ़ोटोग्राफ़ लेने
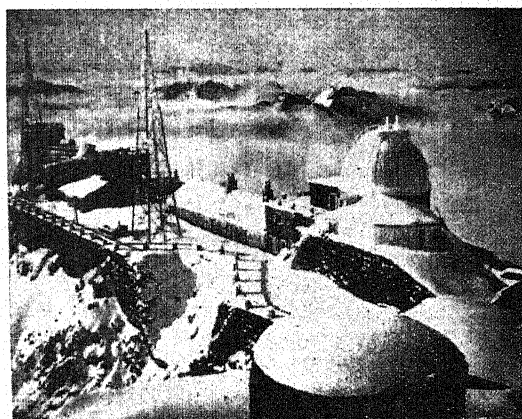
पिक-दु-माइदी वेधशाला

यह वेधशाला पिरनीज़ पर्वतमाला के एक हिमाच्छादित शृंग पर स्थापित है। यहाँ का वायुमण्डल इतना स्वच्छ है कि यहाँ से बिना ग्रहण के ही सूर्य के कॉरोना का फ़ोटो खींचा जा सका है। (सबसे ऊपर) पिक-दु-माइदी शिखर का दृश्य। यहाँ से चढ़ाई शुरू होती है। एक ज्योतिषी दल ऊपर शिखर की ओर जा रहा है। (बीच में) लगभग ९००० फ़ीट की ऊँचाई पर आरोही दल। (नीचे) पिक-दु-माइदी वेधशाला। (फ़ोटो—प्रो० ब० लॉयट द्वारा)।
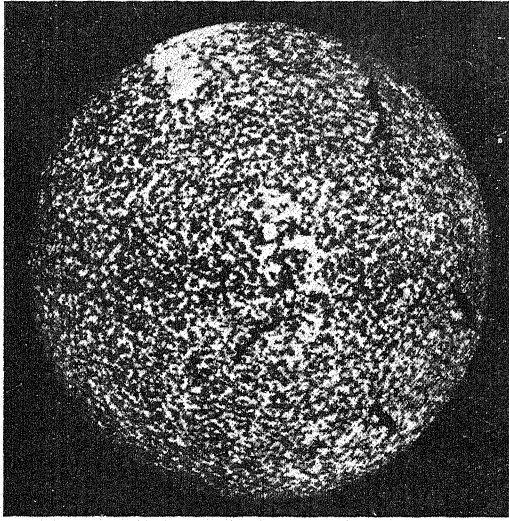
कैल्शियम के बादलों का दृश्य
यह कैल्शियम के प्रकाश से लिया गया सूर्य का फ़ोटो है। ये बादल बड़े ही सुंदर दिखाई पड़ते हैं।

हाइड्रोजन के तप्त बादल और सूर्य-कलंकों के भँवर
यह फ़ोटो हाइड्रोजन के प्रकाश से लिया गया था। बीच के काले चिह्न सूर्य-कलंकों के भँवर हैं।

में सफलता प्राप्त करने की घोषणा की गई है। अत्यंत स्वच्छ लेंज़ों (Lenses) से और खूब ऊँचे पहाड़ पर से फ़ोटो लेने में सूर्य का प्रकाश इतना नहीं बिखरने पाता कि वह कॉरोना को दबा दे। इसलिए अब कॉरोना का फ़ोटोग्राफ़ प्रति दिन लिया जा सकेगा, जिससे उसके संबंध में ज्ञान-वृद्धि की पूरी आशा है।
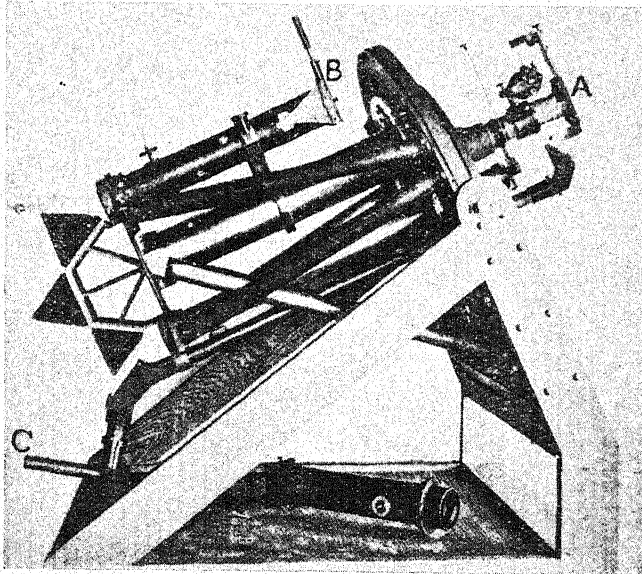
एक रश्मि-विश्लेषक कैमेरा (Spectrograph)
आकाशीय पिण्डों के रश्मि-चित्र ऐसे ही यंत्र के द्वारा लिये जाते हैं। यह दूरदर्शक-यंत्र के मुँह पर लगा दिया जाता है।

हाइड्रोजन और कैल्शियम के बादल

ऊपर हम बतला चुके हैं कि प्रत्येक तत्त्व से उत्पन्न हुआ प्रकाश वर्णपट में पृथक्-पृथक् हो जाता है। अमेरिका के हेल और फ़्रांस के डेलाण्डर्स नामक ज्योतिषियों ने एक ऐसा यंत्र बनाया, जिससे वर्णपट की किसी भी वांछित रेखा से सूर्य का फ़ोटोग्राफ़ लिया जा सकता है। इस यंत्र द्वारा हाइड्रोजन के प्रकाश से लिये गये फ़ोटो में यह स्पष्ट रूप से पता चलता है कि सूर्यबिंब पर हाइड्रोजन कहाँ-कहाँ और किस रूप में है। ऐसे चित्र बड़े सुंदर जान पड़ते हैं। इनमें हाइड्रोजन बादल के रूप में सर्वत्र फैली हुई देख पड़ती और सूर्य-कलंकों के पास भँवर सरीखा चक्कर खाती हुई जान पड़ती है। इसी प्रकार कैल्शियम के प्रकाश से लिये गये फ़ोटोग्राफ़ों में कैल्शियम-वाष्प के बादल दिखलाई पड़ते हैं। ये भी बड़े सुंदर जान पड़ते हैं।
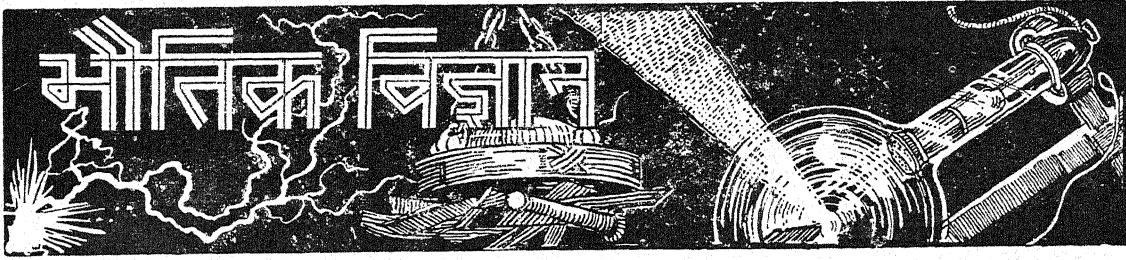
गतिशीलता और शक्ति

विश्व का कण-कण गतिमान है और प्रत्येक कण में शक्ति है। गति ही पर विश्व का विकास निर्भर है।

प्रायः हम देखते हैं कि कुछ चीज़ों में गति या हरकत है, तो कुछ चीज़ें स्थिर पड़ी रहती हैं। संसार की प्रत्येक वस्तु या तो गतिशील है या स्थिर। कमरे में बैठे हुए हम देखते हैं, घड़ी में सैकंड की सुई टिक-टिक करती हुई बड़े वेग से भाग रही है। खिड़की से बाहर नज़र गई, तो आसमान से बादल भागते हुए नज़र आये। फिर आफ़िस भी आप किसी-न-किसी सवारी में ही जाते हैं। सन्ध्या को मनोरञ्जन के लिए सिनेमा-भवन में गये तो वहाँ भी चलती-फिरती तस्वीरें ही आपको परदे पर देखने को मिलती हैं। इन सभी चीज़ों में हम गतिशीलता पाते हैं।

किन्तु संसार की सैकड़ों-हज़ारों वस्तुएँ स्थिर दशा में भी हमें मिलती हैं। मेज़ पर रक्खी हुई पुस्तक, कमरे की
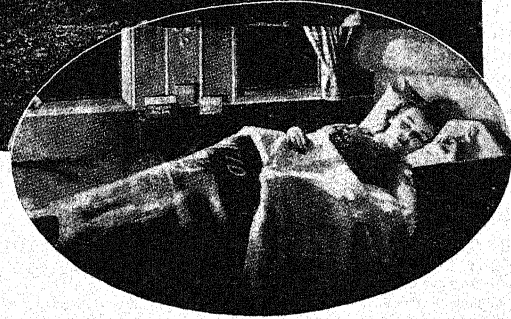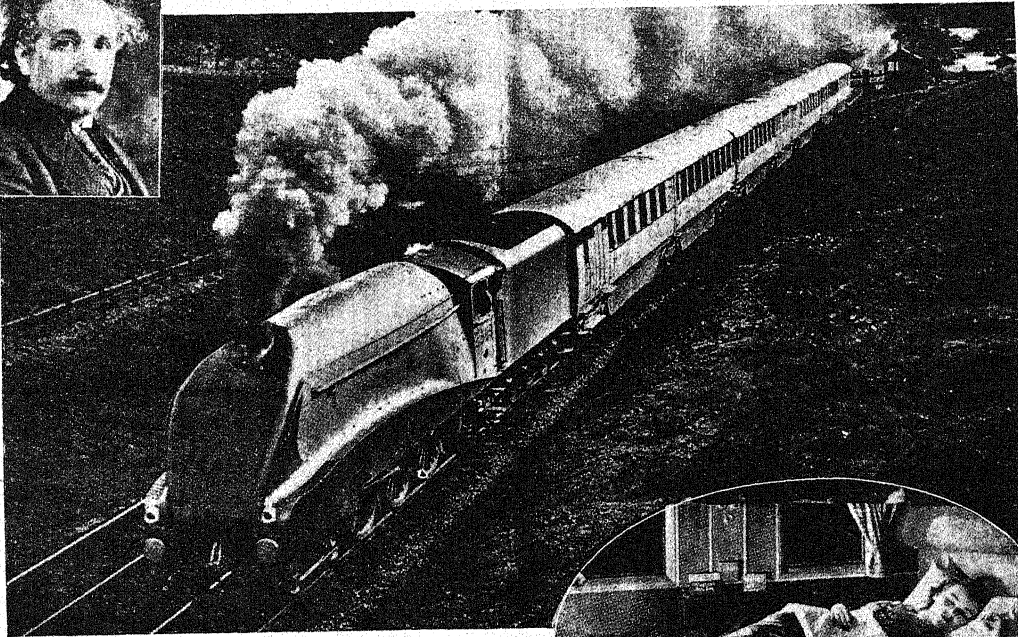
गतिशीलता और स्थिरता सापेक्षिक शब्द हैं

मेलट्रेन में आप बिना हिले-डुले ख़र्राटे की नींद ले रहे हों और ट्रेन फ़ी घंटे ५० मील की रफ़्तार से दौड़ रही हो तब आप अपने को स्थिर मानेंगे या चलायमान? वास्तव में ट्रेन के लिहाज़ से आप स्थिर कहे जा सकते हैं, लेकिन धरती के लिहाज़ से आप ट्रेन ही की तरह गतिमान हैं। अतएव गति सापेक्षिक है। इस युग के महान् क्रान्तदर्शी गणितज्ञ आइन्सटाइन (देखिए ऊपर के कोने का चित्र) के सापेक्षवाद (Theory of Relativity) का यह एक मूल सिद्धान्त है।

कुर्सी, आपका मकान, एकदम स्थिर जान पड़ते हैं। पेड़ की पत्तियाँ हिलती हैं, किन्तु तना स्थिर रहता है; लट्ठे में लगी हुई पताका फरफराती है, किन्तु लट्ठा नहीं हिलता।

विभिन्न पदार्थों की हरकत से हम अच्छी तरह परिचित हैं—फिर भी गति की समस्या उतनी आसान नहीं है, जितनी यह जान पड़ती है। सड़क पर जिस समय आप टहलते हैं, निस्सन्देह आप अपनी गतिशीलता का अनुभव करते हैं, किन्तु जब मेलट्रेन में आप खर्राटे की नींद ले रहे हों, और सनसन करती हुई ट्रेन ५० मील की रफ़्तार से भागती जा रही हो, तब आप अपने को स्थिर मानेंगे या चलायमान? आपको मानना पड़ेगा कि आप अवश्य चलायमान थे, वरना रात भर में ही लखनऊ से बनारस कैसे पहुँच आते! मान लीजिए, आपकी गाड़ी के समानान्तर एक दूसरी ट्रेन भी उसी रफ़्तार से दौड़ रही है, जिस रफ़्तार से आपकी गाड़ी। अब इस दूसरी ट्रेन के मुक़ाबले में आपकी ट्रेन तो स्थिर ही कही जा सकती है।

स्थान-परिवर्त्तनीय गति

वस्तुओं की गति कई प्रकार की होती है। जब पानी में आप कूदते हैं, तो गतिमान होकर आप एक स्थान से दूसरे स्थान को चले जाते हैं। इस तरह की हरकत को 'स्थान-परिवर्त्तनीय गति' कहते हैं।
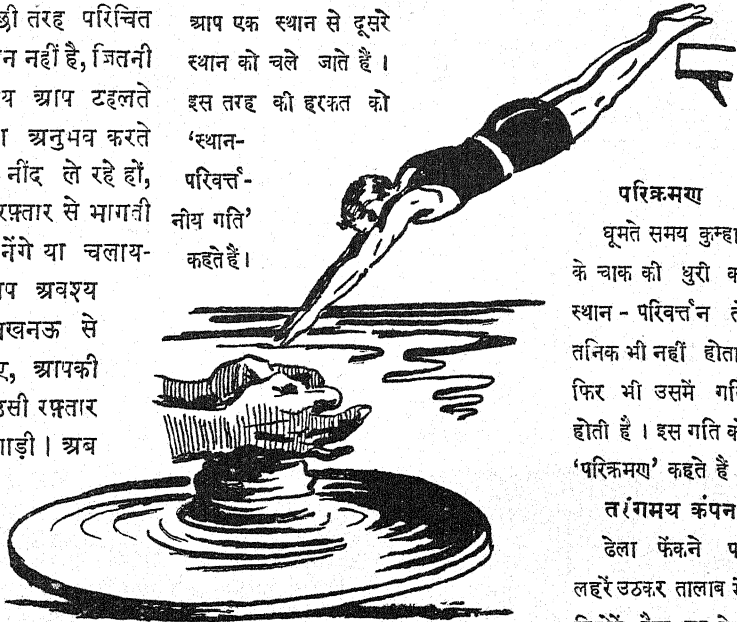
परिक्रमण

घूमते समय कुम्हार के चाक की धुरी का स्थान-परिवर्त्तन तो तनिक भी नहीं होता; फिर भी उसमें गति होती है। इस गति को 'परिक्रमण' कहते हैं।

तरंगमय कंपन

ढेला फेंकने पर लहरें उठकर तालाब में हिलोरें पैदा कर देती हैं। वास्तव में इन लहरों से पानी का स्थान-परिवर्त्तन नहीं होता, वरन् लहरों का आंदोलन-मात्र आगे बढ़ता है। इस तरह की हरकत को 'तरंगमय कंपन' कहते हैं।

वक्र गति

फुटबाल को पैर से मारने पर वह सीधी रेखा में नहीं वरन् एक वक्र रेखा बनाता हुआ गिरता है। यह 'वक्र गति' का उदाहरण है।

सेंट्रीफ़ूगल शक्ति

परिक्रमा करते समय चीज़ों में एक शक्ति पैदा हो जाती है, जिससे वे अपनी वृत्ताकार परिधि से बाहर भाग जाना चाहती हैं। मेले में लगनेवाली चर्ख़ी के घोड़े, कुर्सी आदि का घूमते समय बाहर की ओर तन जाना इसी 'सेंट्रीफ़ूगल' शक्ति का उदाहरण है।

की गति निकालनी होती हैं। निरपेक्षित भाव से गति आप आँक ही नहीं सकते। इस युग के महान् गणितज्ञ आइन्स्टाइन के सापेक्षवाद का यह एक मूल सिद्धान्त है।

गति-नियमन की इस पेचीदगी के बावजूद भी आप गतिशीलता के अनेक पहलुओं से अच्छी तरह परिचित हैं। जब आप क्रिकेट के बल्ले को घुमाकर (अर्थात् उसमें एक विशेष गति उत्पन्न कर) गेंद को मारते हैं, तो गेंद चलायमान होकर तेज़ी से एक ओर दौड़ती है। उसमें गति तो उत्पन्न होती है, साथ ही एक शक्ति भी। क्रिकेट की इस तेज़ गेंद को जब आप हाथ से रोकते हैं, तो आप-

गति से शक्ति की उत्पत्ति

जब क्रिकेट का खिलाड़ी गेंद को मारता है, तो वह न सिर्फ़ गेंद में गति बल्कि एक शक्ति भी पैदा कर देता है, जिसका अनुभव सामने का खिलाड़ी गेंद को हाथ से रोकते समय करता है। इस शक्ति को 'गतिज या काइनेटिक शक्ति' कहते हैं।

किन्तु रेल की लाइन के किनारे खड़ा हुआ व्यक्ति तो कहेगा कि दोनों ही ट्रेनें ५० मील की रफ़्तार से भागी जा रही हैं। डब्बे के अन्दर बैठे हुए व्यक्ति आपस में एक दूसरे के लिहाज़ से स्थिर हैं, किन्तु ज़मीन पर खड़े हुए लोगों की निगाह में तो वे ५० मील की रफ़्तार से सफ़र कर रहे हैं!

यही नहीं कमरे में निश्चल बैठे हुए आप कहते हैं कि आप एकदम स्थिर हैं, किन्तु ज्योतिषी आपको बताता है कि ऐसी बात नहीं है। आपका मकान पृथ्वी के संग सूर्य के चारों ओर १६ मील प्रति सैकण्ड की गति से परिक्रमा कर रहा है। अतः सूर्य के लिहाज़ से तो आप, आपका मकान, बल्कि समूची पृथ्वी चलायमान है।

इस तरह हम देखते हैं कि गतिशीलता तथा स्थिरता आपेक्षिक (relative) शब्द हैं। वस्तुओं की गति का नियमन किसी विशेष पदार्थ के लिहाज़ से करना होता है। बिना किसी विशेष वस्तु का हवाला दिये हुए हम नहीं कह सकते कि अमुक वस्तु स्थिर है या चलायमान। साधारण बोल-चाल में चित्रों के गति-नियमन के लिए पृथ्वी का हवाला देते हैं, किन्तु आकाशपिण्डों की गति निर्धारित करते समय सूर्य्य के लिहाज़ से हम उनकी गति आँकते हैं।

किन्तु सौर परिवार से भी आगे बढ़ने पर हमें पूरी आकाश-गंगा को स्थिर मानकर अनन्त अन्तरिक्ष के नक्षत्रों

स्थितिज या पोटेंशियल शक्ति

स्थिर अवस्था में भी प्रत्येक वस्तु में एक शक्ति होती है, जो उसे गतिमान होने से रोकती है। पहाड़ के ढाल पर छोटे-से पत्थर के अटकाव से रुके विशाल शिलाखण्ड में यही शक्ति निहित रहती है। यदि अटकाव का रोड़ा अलग कर दिया जाय, तो शिलाखण्ड की स्थितिज शक्ति तुरंत गतिज शक्ति में परिणत हो जायगी और वह नीचे लुढ़कने लगेगा।

के हाथ झनझना उठते हैं। इसी तरह गति के कारण सभी वस्तुओं में प्रबल शक्ति का आविर्भाव हो जाता है। गति की बदौलत पैदा हुई इस शक्ति को 'गतिज' या 'काइनेटिक शक्ति' (Kinetic Energy) कहते हैं।

गतिशीलता के कारण वस्तुओं में और भी अनेक नये गुणों का समावेश हो जाता है। एक मोटी ज़ंजीर को हाथ में लेकर तेज़ी के साथ घुमाइए तो ज़ंजीर तनकर एकदम कठोर हो जायगी—मानो वह लोहे का डण्डा हो। ज्योंही रफ़्तार कम हुई, वह फिर ढीली पड़ जाती है। पानी को बन्दूक़ में भरकर लोग साँप को मारते हैं। पानी तेज़ रफ़्तार के साथ बन्दूक़ से बाहर निकलता है, अतः इसमें बहुत ही ज़्यादा काइनेटिक शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है। इसी तरह अगर मोमबत्ती को नली में भरकर बन्दूक़ दागी जाय, तो लकड़ी के दरवाज़े को भी यह मोमबत्ती आसानी से भेद सकेगी, और स्वयं नाममात्र को भी न मुड़ेगी! गति के कारण मुलायम चीज़ें भी सख्त हो जाती हैं; पर गति कम होने पर वे चीज़ें फिर मुलायम पड़ जाती हैं।

रेल के इंजिन की शक्ति के पीछे भी भाप के अणु-परमाणुओं की हरकत ही काम करती है। भाप के अणु तीव्र गति से सिलिण्डर के अन्दर पिस्टन में टकराते हैं। इन अणु-परमाणुओं की गतिज या काइनेटिक शक्ति के धक्के के कारण पिस्टन आगे-पीछे को हरकत करता है।

चीज़ों की हरकत या गति कई प्रकार की होती है। आपके हाथ से क़लम छूटकर सीधे ज़मीन पर आ गिरती है। कोट को खूँटी से उतारकर आप बक्स में रख देते हैं। दोनों ही दशाओं में चीज़ों के स्थान बदल दिये गये। हरकत के बाद ये चीज़ें पहले से भिन्न स्थान पर पहुँच गईं। इस तरह की हरकत को 'स्थान-परिवर्त्तनीय गति कहते हैं। ऐसी हरकत का मार्ग सीधी रेखा भी हो सकता है और वक्र भी। जब आप ढेला फेंकते हैं, तो यहाँ भी स्थान-परिवर्त्तन होता है, किन्तु ढेला एक वक्र मार्ग का अनुसरण करता है।

जब कुम्हार का चाक घूमता है, तो घूमने में चाक की धुरी का स्थान-परिवर्त्तन नहीं होता। इस प्रकार की गति को 'परिक्रमण' कहते हैं। पृथ्वी भी अपनी धुरी पर इसी तरह घूमती हुई सूर्य की परिक्रमा करती है। परिक्रमण में हरकत करनेवाली वस्तु एक ही मार्ग की पुनरावृत्ति करती रहती है। परिक्रमा करते समय चीज़ों के अन्दर एक 'सेन्ट्रफ़ूगल शक्ति' उत्पन्न हो जाती है। परिक्रमा करने की गति जितनी तेज़ हुई, उतनी ही प्रबल यह सेन्ट्रीफ़ूगल शक्ति भी होती है। इस शक्ति के कारण वह वस्तु अपनी वृत्ताकार परिधि से बाहर भाग जाना चाहती है। कार्निवाल में चर्ख़ी जब तेज़ रफ़्तार से घूमने लगती है, तो बैठनेवालों की कुर्सियाँ, घोड़े आदि बाहर की ओर इसी सेन्ट्रीफ़ूगल शक्ति के कारण तन जाते हैं।

एक तीसरे प्रकार की हरकत भी हमें देखने को मिलती है। तालाब में ढेला फेंक दीजिए। जहाँ ढेला गिरेगा, वहाँ से लहरें उठकर सारे तालाब में हिलकोरें पैदा कर देंगी। यदि आप ग़ौर से देखें, तो पायेंगे कि इन लहरों के साथ
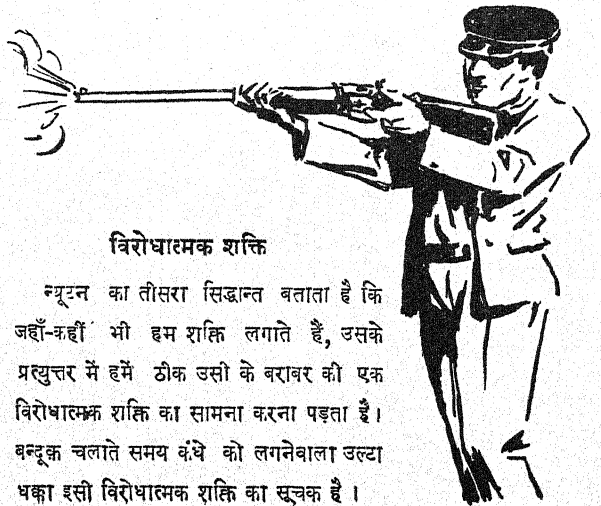
विरोधात्मक शक्ति

न्यूटन का तीसरा सिद्धान्त बताता है कि जहाँ-कहीं भी हम शक्ति लगाते हैं, उसके प्रत्युत्तर में हमें ठीक उसी के बराबर की एक विरोधात्मक शक्ति का सामना करना पड़ता है। बन्दूक़ चलाते समय कंधे को लगनेवाला उल्टा धक्का इसी विरोधात्मक शक्ति का सूचक है।

पानी स्वयं एक स्थान से दूसरे स्थान को नहीं जाता—पानी का स्थान-परिवर्त्तन नहीं होता, वरन् लहरों का आन्दोलन ही आगे को बढ़ता है। जिस समय लहरें आगे को बढ़ती हैं, पानी की सतह पर तैरता हुआ तिनका केवल नीचे-ऊपर हरकत करता है, लहरों के साथ वह स्वयं आगे नहीं बढ़ता। इस तरह की हरकत को 'तरंगमय कम्पन' कहते हैं। सितार के तार में भी हम इसी तरह का कम्पन उत्पन्न करके वाद्य संगीत का आनन्द उठाते हैं।

किसी प्रकार की भी हरकत क्यों न हो, उसके पीछे कोई-न-कोई शक्ति अवश्य होगी। हरकत न तो अपने आप उत्पन्न होती है और न अपने आप ग़ायब। मेज़ पर से किताब इसलिए गिरती है कि उसे पृथ्वी अपनी ओर आकर्षित करती है और इस आकर्षण को रोकने के लिए कोई अन्य शक्ति इस पर काम नहीं करती रहती है। आप हाथ में थैला लटकाये हैं, थैला स्थिर है। क्योंकि यद्यपि पृथ्वी उसे नीचे की ओर खींच रही है, आप उसके खिलाफ़ अपनी मांसपेशियों की शक्ति लगा रहे हैं। जिस क्षण आप अपनी शक्ति बढ़ा देते हैं, थैले में हरकत होती है। आप उसे ऊपर को खींच लेते हैं। चीज़ों की गतिशीलता या स्थिरता दोनों ही उस पर काम करनेवाली शक्तियों पर निर्भर हैं। अतः जब तक अन्य कोई शक्ति दख़ल न दे, संसार की हरएक वस्तु जिस दशा में है उसी दशा में पड़ी रहेगी। यदि उसमें हरकत है, तो उसी रफ़्तार से सीधी रेखा में वह चलती रहेगी, या यदि वह स्थिर है, तो जब तक कोई शक्ति उसे हिलाती-डुलाती नहीं, वह उसी स्थान पर निश्चल पड़ी रहेगी। न्यूटन ने इस सिद्धान्त की ओर सर्वप्रथम लोगों का ध्यान आकर्षित कराया था। यह न्यूटन का गति-सम्बन्धी पहला सिद्धान्त कहलाता है। निस्संदेह यह नियम बड़े महत्त्व का है। बड़ी-से-बड़ी चीज़ में भी यदि किसी नन्हीं शक्ति से हमने हरकत पैदा कर दी, तो वह चीज़ बग़ैर अपना रुख़ बदले उसी रफ़्तार से सीधी रेखा में अनंत तक चलती रहेगी—यदि किसी अन्य शक्ति ने उसके साथ रोक-टोक या हस्तक्षेप न किया!

न्यूटन ने गति-सम्बन्धी दो और भी सिद्धान्तों का पता लगाया था। इनमें से एक सिद्धान्त कहता है कि जब हम किसी चीज़ में गति पैदा करते हैं, तो वह गति उसी शक्ति के अनुपात में होती है, जिसके कारण यह गति उत्पन्न हुई है। साथ ही इस हरकत का रुख़ भी वही होता है, जो इस शक्ति का। यदि शक्ति प्रबल हुई, तो उस चीज़ की रफ़्तार भी उतनी ही अधिक तेज़ होगी।

न्यूटन का तीसरा सिद्धान्त बताता है कि जहाँ-कहीं भी हम शक्ति लगाते हैं, उसके प्रत्युत्तर में हमें ठीक उसी के बराबर एक विरोधात्मक शक्ति का सामना करना पड़ता है। इसका रुख़ पहली शक्ति की ठीक उलटी दिशा में होता है। बन्दूक़ चलाते समय जिस समय गोली तेज़ी के साथ बाहर को निकलती है, उस समय वह बन्दूक़ को एक ज़बर्दस्त धक्का भी देती है। बन्दूक़ के धक्के से कितने ही नौसिखियों के कन्धे की हड्डियाँ टूट चुकी हैं। किश्ती पर से जब आप कूदते हैं, तो किश्ती भी आपके धक्के से पीछे को हट जाती है। काई-लगे फ़र्श पर खड़े होकर लदे हुए ठेले को धक्का देकर ढकेलने की कोशिश कीजिए। आप देखेंगे कि स्वयं आप ही पीछे की ओर फिसल रहे हैं; क्योंकि जब आप ठेले पर ज़ोर लगाते हैं, तो ठेले की ओर से भी प्रत्युत्तर में आपके ऊपर उसी के बराबर शक्ति काम करती है।

गति के अध्ययन में हमें तीन बातों

गति-वर्द्धनीयता का एक उदाहरण

दौड़ते वक्त हम एकदम ही पूरी तेज़ी से नहीं दौड़ पड़ते, बल्कि धीरे-धीरे गति बढ़ाते-घटाते हैं। स्टेशन के समीप पहुँचने या स्टेशन से चलने पर ड्राइवर का रेल के इंजिन को धीमा करना इसी तरह का उदाहरण है। यदि ऐसा न किया जाय तो प्रचंड गति-शक्ति की उत्पत्ति के कारण गाड़ी फ़ौरन उलट जायगी! (देखिए पृष्ठ ४०० का मैटर)।

का विशेष ध्यान रखना होता है। पहले यह कि हरकत कितनी देर तक क़ायम रही; दूसरे इस दर्मियान में उस वस्तु ने कितना फ़ासला तय किया, और तीसरे उस वस्तु की गति क्या थी।

आम बोलचाल की भाषा में गति या रफ़्तार से हमारा अभिप्राय यह होता है कि प्रति सैकंड या प्रति घण्टा वह वस्तु कितनी दूरी तय करती है। वह वस्तु किस दिशा में जाती है, इसका विचार गति निर्धारित करते समय हम नहीं किया करते। किन्तु विज्ञान की भाषा में चीज़ों की रफ़्तार (velocity) के अतिरिक्त वे किस दिशा में जा रही हैं, इस बात का भी समावेश रहता है। रस्सी में बाँधकर पत्थर के टुकड़े को घुमाइये, तो पत्थर का टुकड़ा एक वृत्ताकार परिधि में एक ही ढंग से चक्कर लगायेगा। पर इसकी गति (velocity) निरन्तर बदलती रहेगी; क्योंकि उसका रुख़ भी रास्ते में बराबर बदल रहा है।

गति अपरिवर्त्तनशील और परिवर्त्तनशील दोनों ही प्रकार की हो सकती है। बैलगाड़ी सारे दिन २ मील प्रति घण्टा की रफ़्तार से सड़क पर चलती रहती है। यात्रा के अन्त तक उसकी गति में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आता है। किन्तु रेलगाड़ी स्टेशन से छूटने पर शुरू में बहुत ही धीमी चाल से चलती है, फिर उसकी रफ़्तार बढ़ने लगती है, और सिगनल तक पहुँचते-पहुँचते उसकी गति ४०-५० मील प्रति घण्टा हो जाती है। इसके उपरान्त कुछ दूर तक इसी रफ़्तार से वह जाती है। फिर दूसरे स्टेशन के समीप जब वह पहुँचती है, तो ड्राइवर ट्रेन की चाल धीमी कर देता है। यदि इस यात्रा में हम स्टॉप-वॉच (एक विशेष प्रकार की घड़ी) लेकर देखें कि जिस वक्त ट्रेन रवाना हुई, तब से दूसरे स्टेशन तक पहुँचने के वक्त तक हर-एक सैकंड में ट्रेन की क्या रफ़्तार रही, तो कदाचित् हम पायेंगे कि रवाना होने के १२ सैकंड के बाद ट्रेन की रफ़्तार ६ फ़ीट रही, १६ सैकंड के बाद १४ फ़ीट रही, २० सैकंड के बाद २२ फ़ीट। स्पष्ट है कि ट्रेन की चाल प्रति ४ सैकंड में ८ फ़ीट बढ़ रही थी, अर्थात् प्रति सैकंड २ फ़ीट। रफ़्तार के इस बढ़ने को हम 'गति वर्द्धनीयता' कहते हैं। दूसरे शब्दों में गति-वर्द्धनीयता हमें बताती है कि किसी वस्तु की गति प्रति सैकंड कितनी बढ़ती या घटती है। वस्तुओं की गति शनैः-शनैः घट भी सकती है। ट्रेन भी स्टेशन के समीप आते-आते मीलों दूर से ही उतनी रफ़्तार कम करने लगती है। इस दशा में गति-वर्द्धनीयता ऋणात्मक माने रखती है—अर्थात् प्रति सैकंड ेन की गति कितनी कम हो रही है।

जब चीज़ें ज़मीन पर ऊँचाई से गिरती हैं, तो पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति के कारण उस वस्तु में हरकत पैदा होती है। पहले सैकंड के अन्त में उस चीज़ की रफ़्तार ३२ फ़ीट प्रति सैकंड होती है। दूसरे सैकंड के अंत में उसकी रफ़्तार ६४ फ़ीट और तीसरे सैकंड के अन्त में ९६ फ़ीट प्रति सैकंड। इस तरह पृथ्वी के आकर्षण के कारण उत्पन्न हुई 'गति-वर्द्धनीयता' ३२ फ़ीट प्रति सैकंड है। अर्थात् प्रति सैकंड उस वस्तु की गति ३२ फ़ीट प्रति सैकंड के हिसाब से बढ़ती है। इस तरह जब हम किसी चीज़ को आसमान में लम्बवत् ऊपर को फेंकते हैं, तो पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति उसे ऊपर जाने से रोकती है। 'गतिवर्द्धनीयता' इस हालत में ऋणात्मक है। फलस्वरूप वह वस्तु ज्यों-ज्यों ऊपर चढ़ती है, उसकी रफ़्तार कम होती जाती है। यहाँ तक कि कुछ ऊँचाई पर पहुँचने पर उसकी गति एकदम शून्य हो जाती है। इसके उपरान्त वह वस्तु नीचे की ओर गिरने लगती है। पहले सैकंड के अन्त में ३२ फ़ीट, दूसरे सैकंड के अन्त में ६४ फ़ीट—इस तरह प्रति सैकंड इसकी रफ़्तार ३२ फ़ीट प्रति सैकंड के हिसाब से बढ़ती है।

पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति सभी वस्तुओं के लिए समान नहीं है। पदार्थ की मात्रा के अनुसार यह शक्ति भी घटती-बढ़ती रहती है। न्यूटन का गति-सम्बन्धी द्वितीय सिद्धान्त हमें बताता है कि एक-सी हरकत पैदा करने के लिए भारी वस्तुओं में हलकी वस्तुओं की अपेक्षा अधिक शक्ति लगानी पड़ती है। पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति मानो इस सिद्धान्त से भली-भाँति परिचित है। अतः हरएक वस्तु के लिए फ़ौरन् ही वह अपनी आकर्षण-शक्ति इस तरह सम-तुलित कर लेती है कि इस आकर्षण-शक्ति के फलस्वरूप जब उस वस्तु में हरकत पैदा हो, तो उसकी गतिवर्द्धनीयता हर सैकंड में ३२ फ़ीट प्रति सैकंड ही हो। मानो पृथ्वी के अन्दर एक दानव छिपा हो, जो भिन्न-भिन्न वस्तुओं के लिए भिन्न मात्रा में आकर्षण-शक्ति का प्रयोग करता है और सो भी इस अन्दाज़ से कि जब ये वस्तुएँ अपने आप पृथ्वी पर गिरें, तो उन सबकी गतिवर्द्धनीयता एक-सी हो!

आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि १६वीं शताब्दी तक लोग इस महान् सत्य से एकदम अपरिचित थे। अरस्तू तथा अन्य दार्शनिकों का विचार था कि समान ऊँचाई पर से गिराने पर हलकी चीज़ों में भारी चीज़ों की अपेक्षा कम हरकत पैदा होती है, अतः हलकी चीज़ें वज़नी चीज़ों की अपेक्षा देर में पृथ्वी पर पहुँच पाती हैं। उनका

यों समझना भी कुछ ऐसा था, जिसका समर्थन हमारे नित्य के अनुभव द्वारा होता जान पड़ता है। छत से गिराने पर काग़ज़ का टुकड़ा ज़मीन पर देर में पहुँचता है, किन्तु पत्थर का ढेला जल्दी। फिर इन प्राचीन दार्शनिकों की आलोचना करने का साहस उन दिनों किसे हो सकता था!

१७वीं शताब्दी के आरम्भ में इटली के तत्कालीन प्रमुख वैज्ञानिक गैलीलियो ने 'पीज़ा' के टेढ़े बुर्ज़ पर खड़े होकर इस नियम की जाँच की। उसने एक ही आकार की भिन्न-भिन्न गेंदें बनवाईं, कुछ भीतर से खोखली थीं और कुछ एकदम ठोस। अतः उनके वज़न में काफ़ी अन्तर था। उसने उन गेंदों को जब बुर्ज़ पर से गिराया, तो वे सब-की-सब साथ ही ज़मीन पर पहुँचीं। इस प्रकार गैलीलियो ने पहली बार एक ऐसे ग़लत सिद्धान्त से लोगों को छुटकारा दिलाया, जिसने हज़ारों वर्ष से लोगों को बरबस अन्धकार में रख छोड़ा था।

इस सिलसिले में आप भी एक मनोरंजक प्रयोग कर सकते हैं। एक लम्बा ट्यूब लीजिए और पम्प की सहायता से उसके भीतर की हवा निकाल डालिए—अब ट्यूब के भीतर वैकुअम या वायु-शून्यता पैदा हो जायगी। इस ट्यूब के अन्दर डैने का पंख और लोहे का टुकड़ा दोनों एक ही रफ़्तार से नीचे गिरेंगे। आपकी छत पर से जब एक पत्थर का टुकड़ा और उसके साथ ही साथ एक काग़ज़ का टुकड़ा नीचे को गिरता है, तो काग़ज़ की गति में वास्तव में हवा के कारण रुकावट पैदा होती है, अन्यथा यह भी पत्थर के टुकड़े की ही गति से नीचे पहुँचता।

पीज़ा की टेढ़ी मीनार पर से गैलीलियो का गति-संबंधी प्रयोग

एक ही आकार की भिन्न-भिन्न वज़न की गेंदें बुर्ज़ पर से गिराने पर एक साथ एक ही गति से गिर रही हैं। (बाईं ओर नीचे के चित्र में) गैलीलियो।

गति-संबंधी नियमों का महत्त्व हमारे लिए केवल इसीलिए नहीं है कि उनसे हमारी ज्ञान-वृद्धि होती है, बल्कि हमारे दैनिक जीवन में उनका अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। साधारण-से-साधारण क्रियाओं में भी हम इन नियमों का अनुसरण करते हैं। न्यूटन द्वारा इन नियमों के प्रतिपादन के बाद यंत्रों के निर्माण में उनका उपयोग करके वैज्ञानिकों ने उनसे चमत्कारिक लाभ उठाया है। गति और उससे उत्पन्न होनेवाली शक्ति ही पर विविध प्रकार के यंत्रों की क्रिया निर्भर है। इस संबंध में विशेष बातें हम

आगे के अध्यायों में बतायेंगे। यहाँ गति और शक्ति संबंधी कुछ और महत्त्वपूर्ण बातों का वर्णन कर इस लेख को समाप्त करते हैं।

जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, जब क्रिकेट का खिलाड़ी बल्ले से गेंद को मारता है और उसकी इस हरकत से गेंद दौड़ती हुई मैदान को पार करने लगती है, तब वास्तव में वह गेंद में गति उत्पन्न करने के लिए एक शक्ति का प्रयोग करता है। यह शक्ति क्या है, वैज्ञानिकों ने इसकी तरह-तरह की परिभाषाएँ दी हैं। हमारे विचार में इसका परिचय सबसे सरल रूप में यों कहकर दिया जा सकता है कि शक्ति पदार्थ या द्रव्य को गति देने की एक प्रवृत्ति है। यह शक्ति द्रव्य में न सिर्फ़ गति की अवस्था ही में बल्कि स्थिर अवस्था में भी मौजूद रहती है। शक्ति के इन दो रूपों का 'स्थितिज' और 'गतिज' शक्ति के नाम से हम ऊपर परिचय करा चुके हैं। यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि सृष्टि में अनेक प्रकार की शक्तियाँ हैं और भिन्न-भिन्न रूप में वे अपने आपको अभिव्यक्त करती रहती हैं; किन्तु एक गुण उन सबमें पाया जाता है; वह यह कि द्रव्य में किसी-न-किसी प्रकार की गति उत्पन्न करने की उन सबमें प्रवृत्ति होती है। गुरुत्वाकर्षण शक्ति, चुंबक शक्ति, विद्युत्-शक्ति आदि सभी शक्तियों में यह विशेषता हम पाते हैं।

अब प्रश्न यह है कि इस तरह की शक्ति का नाप क्या है? अवश्य ही यदि उसका कोई नाप लिया जा सकता है, तो वह उस शक्ति द्वारा किसी नियत समय में उत्पन्न की हुई गति ही पर निर्भर होगा। इसके लिए हमें गतियुक्त पदार्थ के द्रव्यमान या जाड्य (mass) और उसकी रफ़्तार या वेग (velocity) इन दो बातों का नाप लेना होगा। इन दोनों के गुणा करने से उक्त पदार्थ में लग रही शक्ति का परिमाण हम जान सकते हैं। नियत समय में उत्पन्न गति की मात्रा को वैज्ञानिक भाषा में गति-शक्ति या 'मुमेण्टम' (momentum) कहते हैं। यह गति-शक्ति पदार्थों की गति के वेग और द्रव्यमान के अनुपात में कम-ज़्यादा होती है। उदाहरण के लिए ४० मील प्रति घंटे के वेग से चलनेवाली एक ऐसी रेलगाड़ी की गति-शक्ति, जिसमें ४० डब्बे हों और २ इंजिन जुते हों, उस रेलगाड़ी से दुगनी होगी, जो उसी वेग से चलती हो, परंतु जिसमें केवल २० डब्बे हों और एक ही इंजिन जुता हो। इसी तरह एक व्यक्ति की शक्ति नाव को घुमा सकती है, पर जहाज़ को टस से मस नहीं कर सकती; यद्यपि दोनों दशाओं में उत्पादित गति-शक्ति समान ही होगी।

इस "मुमेण्टम" की शक्ति अगाध हो सकती है। घाट पर पानी में पैर लटकाये यदि हम बैठे हों और एक मामूली तख्ता साधारण वेग से तैरता हुआ हमारे पैर से आकर टकराए तो हमें कोई विशेष आघात नहीं पहुँचेगा; किन्तु यदि उसी गति से तैरता हुआ एक बड़ा बजड़ा हमारे पैरों से आकर टकराए तो हमारी हड्डियाँ चकनाचूर हो जायँगी! बिल्कुल धीमी चाल से तैरते हुए दो बर्फ़ के पहाड़ (Icebergs) टकराने पर किसी भी बड़े-से बड़े जहाज़ को उसी तरह चकनाचूर कर सकते हैं, जैसे कि हम अपनी चुटकी से मूँगफली के छिलके को तोड़ दें। इसी तरह जब तीव्र गति से दौड़ती हुई दो रेलगाड़ियाँ टकराकर चूर-चूर हो जाती हैं, तब भी उनके विनाश का कारण उनकी गति-शक्ति ही होती है। यदि १०० टन वज़न के दो रेल के इंजिन ६० मील प्रति घंटे की रफ़्तार से दौड़ते हुए इस तरह टकराएँ कि एक सैकंड के शतांश भाग में ही उन दोनों की गति रुक जाय तो उनकी टक्कर की गतिशक्ति ५२,८०० टन के लगभग होगी।

न सिर्फ़ जहाज़, रेल आदि भारी चीज़ों बल्कि बहुत सूक्ष्म वस्तुओं में भी अति तीव्र वेग से गति करने पर प्रचण्ड गति-शक्ति उत्पन्न की जा सकती है। तूफ़ान के समय आँधी की प्रचण्ड शक्ति इसका एक अच्छा उदाहरण है। प्रचण्ड वेग के कारण वायु के सूक्ष्म परमाणुओं में इतनी अधिक शक्ति पैदा हो जाती है कि वह बड़े-बड़े पुलों तक को उखाड़ फेंक सकती है। भाप या अन्य किसी गैस के बल से चलनेवाले इंजिन में भी हम इसी तथ्य की पुनरावृत्ति देखते हैं। दबाव के कारण भाप या गैस के अत्यंत सूक्ष्म अणु-परमाणुओं में इतनी अधिक गति-शक्ति का उत्पादन हो जाता है कि वह सिलिंडर के भारी पिस्टन को धकेलकर बाहर निकाल देती है, जिससे बड़े-बड़े जहाज़ या कलें चलने लगती हैं।

गति-शक्ति पर विचार करते समय इस बात को ध्यान में रखना ज़रूरी है कि यदि किसी पदार्थ की गति का वेग बदलता है, तो उसकी गति शक्ति भी साथ-ही-साथ उसी अनुपात में घटती-बढ़ती है। हाँ, उस पदार्थ का द्रव्यमान (mass) निस्संदेह ज्यों का-त्यों ही बना रहता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि द्रव्यमान से गति-शक्ति का कोई वास्ता नहीं है। वास्तव में, किसी भी गतिशील पदार्थ की गति-शक्ति उसके द्रव्यमान पर उतनी ही निर्भर है, जितनी कि उसके गतिवेग पर।

जीवनप्रदायिनी ऑॉक्सिजन गैस

सृष्टि के बानवे मूलतत्त्वों में ऑक्सिजन तत्त्व न केवल सबसे अधिक व्यापक बल्कि सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण भी है—यह इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि वनस्पति और प्राणी सभी का जीवन मुख्यतः इसी पर निर्भर है। वास्तव में यदि हम इसे 'प्रकृति को प्राणवायु' कहकर अभिहित करें तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

रासायनिक दृष्टि से हमारा और अन्य सभी प्राणियों का जीवन ऑक्सीकरण की एक अविरत क्रिया है। आप अपने मुँह और नाक को बंद कर लीजिए—कुछ ही सैकंडों अथवा एक ही आध मिनट में आप मृत्यु की-सी यातना से घबड़ा उठेंगे। ऐसा क्यों होता है? इसी-लिए कि आप हवा में मिश्रित जीवनप्रदायिनी ऑक्सिजन गैस से वंचित कर दिये गये। हवा में मुख्यतः दो गैसें, नाइट्रोजन और ऑक्सिजन, मिश्रित रहती हैं; वैसे तो कार्बन डाइआक्साइड, जलवाष्प, हीलियम आदि विरल गैसें हाइड्रोजन, धूलिकण आदि कई अन्य पदार्थ भी कुछ-न-कुछ परिमाण में मिश्रित रहते हैं। हवा में चार आयत-निक भाग नाइट्रोजन गैस के रहते हैं, तो एक आयतनिक भाग ऑक्सिजन गैस का। केवल हवा में ही नहीं, संसार में बहुत कम ऐसे प्राकृतिक पदार्थ हैं, जिनमें संयुक्त या असंयुक्त रूप में ऑक्सिजन तत्त्व न रहता हो। पानी के भार के नौ भागों में आठ भाग ऑक्सिजन के होते हैं।

लवॉयसियर (१७४३-१७९४)

प्रीस्टली (१७३३-१८०४)

इसके अतिरिक्त सारे प्राणियों तथा पेड़-पौधों के कलेवर में, और मिट्टी, पत्थर, बालू आदि भू-पदार्थों में ऑक्सिजन गैस बहुत बड़े परिमाण में रहती है। संसार के बानवे मूलतत्त्वों में सबसे अधिक व्यापक मूलतत्त्व ऑक्सिजन गैस ही है।

इतना व्यापक होते हुए भी मनुष्य ने इस मूलतत्त्व को सन् १७७४ ई० तक न पहचाना। इस समय के पहले मानव जाति में विचित्र धारणाएँ प्रचलित थीं। स्वयं वैज्ञानिक तक हवा के अवयवों तथा उनके गुणों से नितान्त अनभिज्ञ थे। आज हम जानते हैं कि जब विभिन्न मूलतत्त्व हवा में जलते हैं, तो ऑक्सिजन से संयुक्त होकर अपनी-अपनी ऑक्साइडें बनाते हैं, किंतु उन दिनों जलने की क्रिया को कोई समझा ही न था। पाश्चात्य वैज्ञानिकों का तो यह विचार था कि जलने पर वस्तुओं से लौ के रूप में एक वस्तु निकलने लगती है, और उस वस्तु का नाम उन लोगों ने 'फ्लोजिस्टन' (या 'जलने-वाला पदार्थ') रक्खा। उन का यह विश्वास था कि कोयला-जैसी वस्तुओं का भार जलने

से इसीलिए कम हो जाता है कि उनका फ्लोजिस्टन निकल जाता है। परंतु बाद में जब यह देखा गया कि सीसा-सरीखी धातुएँ गर्म करने पर भार में बढ़ जाती हैं, तो फ्लोजिस्टनवादी रसायनशास्त्रियों ने इसका अर्थ यों समझाया कि ऐसी धातुओं में रहनेवाले फ्लोजिस्टन का भार ऋण (negative) होता है; अतः धातु में से ऋण फ्लोजिस्टन घटाने से बीज-गणित के सिद्धांत के अनुसार धन फ्लोजिस्टन हो जाता है, [यथा, धातु— (– फ्लोजिस्टन) = धातु + फ्लोजिस्टन = धातु की भस्म]; अतएव भार बढ़ेगा ही!

लवॉयसियर और प्रीस्टली के ऑक्सिजन-संबंधी प्रारंभिक प्रयोग

(दाहिनी ओर) पारदिक ऑक्साइड को आतिशी शीशे द्वारा गर्म करके प्रीस्टली ने पहले पहल ऑक्सिजन तैयार की, लेकिन इस क्रिया को वह स्वयं समझ न सका। (बाईं ओर) लवॉयसियर एक अँगीठी में कई दिन तक पारा गर्म करता रहा। उसने यह दिखा दिया कि वह हवा के पाँचवें भाग (क्रियाशील हवा) से संयुक्त होकर भस्म में परिणत हो जाता है। प्रयोग के अंत में औंधे बरतन में हवा का आयतन पहले आयतन का $\frac{4}{5}$ रह गया। लवॉयसियर ने देखा कि बची हुई हवा में जलती हुई वस्तु डालने से वह तुरंत बुझ जाता है और चूहा उसमें मर जाता है।

आधुनिक विज्ञान के दृष्टिबिन्दु से यह धारणा कितनी उपहासास्पद है; किन्तु उस समय मनुष्य के मस्तिष्क में यह कितनी गंभीरतापूर्वक जड़ जमाये हुए थी।
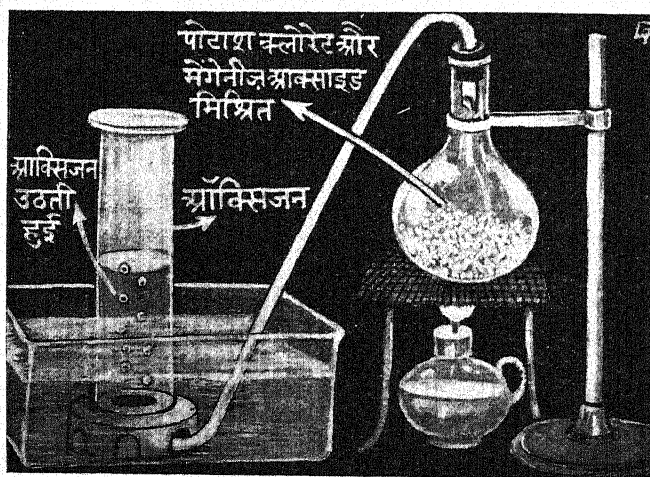
पोटैशियम क्लोरेट से ऑक्सिजन-उत्पादन [दे० पृष्ठ ४०५]

सन् १७७४ में फ्रेंच रासायनिक लवॉयसियर ने उस कार्य का आरंभ किया, जिससे सैकड़ों वर्षों से अड्डा जमाये हुए 'फ्लोजिस्टन' के भूत का भंडाफोड़ संभव हो सका। लवॉयसियर ने जल या पारद से भरे हुए एक नाँद में औंधाये हुए एक शीशे के बरतन के भीतर थोड़ा-सा सीसा और फिर एक दूसरे प्रयोग में राँगा रक्खा, और इन धातुओं को एक ३३ इंच व्यास के आतिशी शीशे से गर्म किया। इन प्रयोगों में उसने देखा कि हवा का कुछ भाग या तो नष्ट हो जाता है, अथवा धातु उसे 'सोख' लेती है। इस शंका का समाधान करने के लिए उसने राँगा (टीन) को गर्म करके पहले भस्म में परिणत किया, और फिर इस भस्म को गर्म करके हवा के उस शोषित भाग को निकालने का प्रयत्न किया, लेकिन सफल न हो सका। इसी वर्ष प्रीस्टली नामक अंग्रेज़ रासायनिक ने यह देखा कि पारे को गर्म करने से जो लाल भस्म बनती है, यदि उसे आतिशी शीशे द्वारा एक बंद बरतन में गर्म किया जाय, तो एक ऐसी 'हवा' निकलती है, जिसमें वस्तुएँ बड़ी शीघ्रता से जल उठती हैं। लेकिन प्रीस्टली अभी फ्लोजिस्टन के भूत से स्वतंत्र नहीं हुआ था। वह समझा कि इस क्रिया में भस्म हवा की फ्लोजिस्टन से मिलकर फिर धातु में परिवर्त्तित हो गई है। उसने इसीलिए पारे की भस्म से निकली हुई 'हवा' का नाम 'फ्लोजिस्टनरहित हवा' (dephlogisticated air) रक्खा। इसी वर्ष प्रीस्टली ने पैरिस

में लवॉयसियर से भेंट की और अपना यह वैज्ञानिक संवाद कह सुनाया। लवॉयसियर ताड़ गया कि यह गैस वही हो सकती है, जिसे वह राँगे की भस्म से निकालना चाहता था। उसने अनेक प्रयोग किये और उनके द्वारा पूर्णतः सिद्ध कर दिया कि हवा में एक आयतनिक भाग 'क्रियाशील हवा' का और चार आयतनिक भाग 'क्रियाहीन हवा' के हैं और वस्तुएँ जलने में इसी 'क्रियाशील हवा' से संयुक्त हो जाती हैं। लवॉयसियर ने यह भी दिखाया कि गंधक और स्फुर (फ़ास्फ़ोरस) के जलने में भी यही बात होती है, लेकिन इनके जलने में जिन यौगिकों का उत्पादन होता है, वे पानी में घुलकर अम्लों में परिणत हो जाते हैं। इस बात से लवॉयसियर को यह भ्रम हुआ कि 'क्रियाशील हवा' सारे अम्लों का एक आवश्यक अवयव है। उसने इसलिए इस हवा का नाम 'ऑक्सिजन' (ऑक्सी=अम्ल, जन=पैदा करनेवाला, अर्थात् अम्ल को जन्म देनेवाला) रक्खा! यद्यपि यह बात बिलकुल ठीक न थी और कई अम्लों में ऑक्सिजन बिलकुल नहीं होती, तथापि यही नाम अब तक चला आ रहा है। लवॉयसियर और प्रीस्टली के लगभग साथ-ही-साथ स्वीडन में शील नामक एक वैज्ञानिक ने भी स्वतंत्र अनुसंधान द्वारा ऑक्सिजन का आविष्कार किया, लेकिन उसने अपने आविष्कार को १७७७ ई० तक प्रकाशित नहीं किया, अतः इस आविष्कार का श्रेय लवॉयसियर और प्रीस्टली को ही दिया जाता है। फ्रांस की राज्यक्रांति में लवॉयसियर का सिर गिलटिन (प्राणदण्ड देने का एक यंत्र) द्वारा धड़ से उड़ा दिया गया। उस समय तो उसके महत्व को कोई समझता ही न था और उसके समर्थकों से अधिक उसके विरोधी थे। प्रीस्टली को स्वयं फ्लोजिस्टन-सिद्धांत इतना प्रिय था कि वह लवॉयसियर के नये विचारों का अंत तक विरोध करता रहा। लेकिन सत्य की विजय हुई और फ्लोजिस्टन का भंडाफोड़ होकर ही रहा। वुर्ट्ज़ नामक फ्रेञ्च रासायनिक ने गर्व के साथ कहा है—"रसायन फ्रांस का विज्ञान है। इसका संस्थापक अमर शहीद लवॉयसियर है।" वास्तव में, वास्तविक रसायनविज्ञान का अध्ययन उसी क्षण से शुरू होता है, जिसमें 'क्रियाशील हवा' का विचार महान् रासायनिक लवॉयसियर के मस्तिष्क में उत्पन्न हुआ था।

कोयला, गंधक, फ़ास्फ़ोरस आदि जलाकर ऑक्सिजन से भरे जार में डालने से और उजाले के साथ जलने लगते हैं।

प्रयोगशाला में ऑक्सिजन गैस उन यौगिकों से बनाई जाती है, जिनमें ऑक्सिजन मूलतत्त्व पर्याप्त परिमाण में रहता है और जो गर्म करने पर विच्छिन्न होकर ऑक्सिजन गैस को निकालने लगते हैं। पारदिक ऑक्साइड (mercuric oxide), शोरा, सीसे की लाल भस्म (red lead) तथा पोटैशियम क्लोरेट इस प्रकार के यौगिकों के कुछ उदाहरण हैं। इन सबमें पोटैशियम क्लोरेट से ऑक्सिजन तैयार करना सबसे अधिक सुविधामय है। जब पोटैशियम क्लोरेट अपनी तौल के चौथे हिस्से मैङ्गनीज़ द्विऑक्साइड से पीसकर मिला दिया जाता है, तो इस मिश्रण को धीमी आँच द्वारा गर्म करने से ऑक्सिजन गैस तीव्र गति से और अधिक सुगमता के साथ निकल आती है। पोटैशियम क्लोरेट के एक अणु में एक परमाणु पोटैशियम का, एक क्लोरीन का और तीन ऑक्सिजन के रहते हैं। इसलिए इसका अणुसूत्र ($KClO_3$) लिखा जाता है। पोटैशियम का प्रतीक K है, क्योंकि इसका लैटिन नाम कैलियम (Kalium) है। जब पोटैशियम क्लोरेट गर्म किया जाता है, तो ऑक्सिजन निकल जाती है और पोटैशियम क्लोराइड (Kcl) रह जाता है। क्रिया समाप्त होने पर मैङ्गनीज़ द्विऑक्साइड में कोई रासायनिक परिवर्तन नहीं पाया जाता, अतः वह केवल योगवाहक (catalyst) का ही काम करता है। पोटैशियम क्लोरेट

और मैङ्गनीज़ द्विओक्साइड के इस मिश्रण को 'ऑक्सिजन-मिश्रण' कहते हैं। कभी-कभी मैङ्गनीज़ द्विओक्साइड में कुछ अंश कार्बन का मिलवाँ रहता है, जिससे कार्बन के एकाएक जल उठने के कारण ऑक्सिजन-मिश्रण के विस्फुटित हो जाने का भय रहता है। इसलिए प्रयोग के पहले थोड़े से ऑक्सिजन-मिश्रण को परीक्षा-नली में गर्म करके परख लेना चाहिए। गैस तैयार करने के लिए थोड़ा-सा ऑक्सिजन-मिश्रण कड़े शीशे की एक मज़बूत फ्लास्क में गर्म किया जाता है और ऑक्सिजन गैस को जारों में पानी नीचे हटाकर इकट्ठा कर लिया जाता है। गैस के बन चुकने पर पहले निकास-नली पानी से हटा ली जाती है, फिर ऑक्सिजन-मिश्रण को गर्म करना बंद किया जाता है, नहीं तो फ्लास्क की हवा के सिकुड़ने के कारण पानी के चढ़ जाने और फलतः विस्फोटन होने का भय रहता है। इस प्रकार, भरे हुए गैस-जारों में जब दीप-चमचियों द्वारा जलती हुई मोमबत्ती अथवा जलते हुए कोयले, गंधक, फ़ास्फ़ोरस, मैग्नेशियम रिबन आदि के टुकड़े प्रविष्ट किये जाते हैं, तो ये वस्तुएँ और भी तेज़ी और उजाले के साथ जलने लगती हैं। (देखिए पृष्ठ ४०५ का चित्र)

ऑक्सिजन गैस पानी के वैद्युत्-विश्लेषण द्वारा भी बनाई जा सकती है, लेकिन उसको अधिक परिमाण में तैयार करने के लिए सबसे सरल और सस्ती रीति यह है कि हवा को द्रवीभूत करके ऑक्सिजन उससे पृथक् कर ली जाय। हवा पर वायुमंडल के दबाव से लगभग २०० गुना दबाव डालकर वह एक सर्पिल नली से होकर ले जाई जाती है और फिर एक छोटे छिद्र द्वारा एक कोष्ठ में निकाल दी जाती है। ऐसा करने से उसका दबाव एकाएक घटता है और वह ठंढी हो जाती है। यह ठंढी हवा एक ऐसे चौड़े नल द्वारा ऊपर चढ़ती है, जिसके अंदर-ही-अंदर पहलेवाली पतली नली आती है और इस प्रकार पतली नली से आती हुई दबी हवा और भी ठंढी हो जाती है। ऐसा होते रहने से हवा अधिकाधिक ठंढी होती रहती है, यहाँ तक कि वह द्रवीभूत होकर कोष्ठ में इकट्ठा होने लगती है। इस तरल वायु का तापक्रम एक विशेष रीति द्वारा सावधानी से बढ़ाया जाता है, जिससे नाइट्रोजन गैस पृथक् हो जाती है और ऑक्सिजन द्रव रूप में रह जाती है। कारण, तरल नाइट्रोजन का क्वथनांक -१९४°c है और तरल ऑक्सिजन का - १८२°c; अतएव नाइट्रोजन नीचे तापक्रम पर उबलकर गैस में बदल जाती है और ऑक्सिजन द्रवरूप में शेष रह जाती है।

वायु के द्रवीकरण द्वारा ऑक्सिजन तैयार करने का यंत्र

अ—पतली सर्पिल नली का मुँह जिसमें दबी हवा प्रवेश कराई जाती है। यह नली चौड़ी नली ब के भीतर-ही-भीतर नीचे तक जाती है। ब—बाहर की चौड़ी नली का मुँह जिसमें से होकर ठंढी हवा निकलती है।

ऑक्सिजन एक अदृश्य, गंधहीन, स्वादहीन गैस है। यह कुछ हद तक पानी में घुलती है। यदि पानी में ऑक्सिजन न घुले, तो अधिकतर जलचरों का जीवन ही असंभव हो जाय। ऑक्सिजन का अणुसूत्र O_2 है, अर्थात् साधारणतया ऑक्सिजन का अस्तित्व ऐसे कणों या अणुओं में होता है, जिनमें प्रत्येक में ऑक्सिजन के दो-दो परमाणु संयुक्त रहते हैं।

हवा में ऑक्सिजन के साथ नाइट्रोजन का मिला रहना परमावश्यक है। यह नाइट्रोजन बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। यदि यह नाइट्रोजन हटा ली जाय और केवल ऑक्सिजन ही रह जाय, तो ज़रा-सी आँच दिखाते ही अधिकतर वस्तुएँ बड़े ज़ोर से जल उठें, यहाँ तक कि धातुएँ भी जलकर भस्म हो जायँ। यदि हवा में केवल ऑक्सिजन ही होती तो अँगीठी में केवल कोयला ही न जलता, वरन् स्वयं अँगीठी भी जलकर शीघ्र भस्म हो जाती। इस प्रकार सारे संसार में आग लगकर केवल उसका भस्मावशेष ही रह जाता। नाइट्रोजन अपने में दूसरी वस्तुओं को नहीं जलने देती और ऑक्सिजन को भी अत्याचार करने से रोकती रहती है। शुद्ध ऑक्सिजन हमारे फेफड़ों के लिए भी अति तीव्र प्रमाणित होती है। केवल ऑक्सिजन में ही हम देर तक साँस नहीं ले सकते हैं।

कुछ को छोड़कर संसार के सारे मूलतत्त्व ऑक्सिजन से संयुक्त होकर ऐसे यौगिकों में परिणत हो जाते हैं, जिन्हें हम ऑक्साइड कहते हैं। लकड़ी, रुई, तेल, मोम आदि
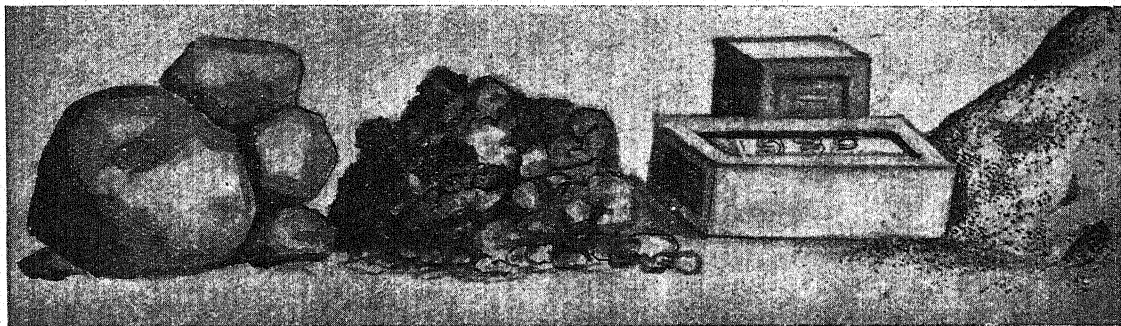
अप्रज्वलनशील वस्तुएँ

पत्थर, मिट्टी, ईंट, बालू आदि ये वस्तुएँ इसीलिए नहीं जल सकतीं कि ये दूसरी वस्तुओं के जलने से ही बनी हैं और इनमें जितनी ऑक्सिजन संयुक्त हो सकती थी संयुक्त हो चुकी है।

बहुत-से यौगिक भी ऑक्सिजन या हवा में जलते हैं। यह यौगिक प्रायः इसीलिए जलते हैं कि उनमें प्रज्वलन-शील कार्बन और हाइड्रोजन की उपस्थिति रहती है। बहुत-से पदार्थ इसीलिए नहीं जलते कि वे दूसरी वस्तुओं के जलने से ही बने हैं और उनमें जितनी ऑक्सिजन संयुक्त हो सकती थी संयुक्त हो चुकी है। मिट्टी, बालू, ईंट, पत्थर आदि वस्तुएँ ऐसे पदार्थों के उदाहरण हैं। बहुधा वस्तुएँ तीव्र गति से जलती हैं और उनके जलने में ताप और ज्वाला दोनों की ही उत्पत्ति होती है। जलने की ऐसी क्रियाओं को 'तीव्रदहन' कहते हैं। लेकिन ऑक्सिजन से संयुक्त होने की अर्थात् ऑक्सीकरण की कुछ क्रियाएँ मंद गति से हुआ करती हैं और उनमें गरमी के धीरे-धीरे निकलने के कारण ज्वालशिखा का उद्भवन नहीं होता। ऐसी क्रियाओं को 'मंददहन' कहते हैं। धातुओं में मोर्चा लगना मंददहन का एक उदाहरण है। यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि यह दहन केवल ऑक्सिजन में ही नहीं, अन्य गैसों में भी हो सकता है; यथा मोमबत्ती, हाइ-ड्रोजन आदि दहनशील पदार्थ क्लोरीन गैस में भी जलते हैं।

प्राणियों के जीवन का रहस्य भी ऑक्सीकरण-संबंधी दहन में छिपा हुआ है। हमारे फेफड़ों में किस प्रकार ऑक्सीकरण होता है और हमें गर्मी और शक्ति किस प्रकार मिलती है, इसकी चर्चा हम अपने पहले ही लेख में कर चुके हैं। ताज़ी हवा हमारे लिए इसीलिए लाभदायक है कि उसमें ऑक्सिजन अधिक परिमाण में रहती है; हमारे कमरों में एक से अधिक दरवाज़े अथवा खिड़कियाँ इसीलिए होना चाहिये कि ऑक्सिजन की कमी की पूर्ति होती रहे; हमें नाक के ऊपर से ओढ़कर इसीलिए नहीं सोना चाहिए कि इससे हमें पर्याप्त ऑक्सिजन उपलब्ध नहीं होती। अत्यधिक भीड़ में हम इसीलिए व्याकुल होने
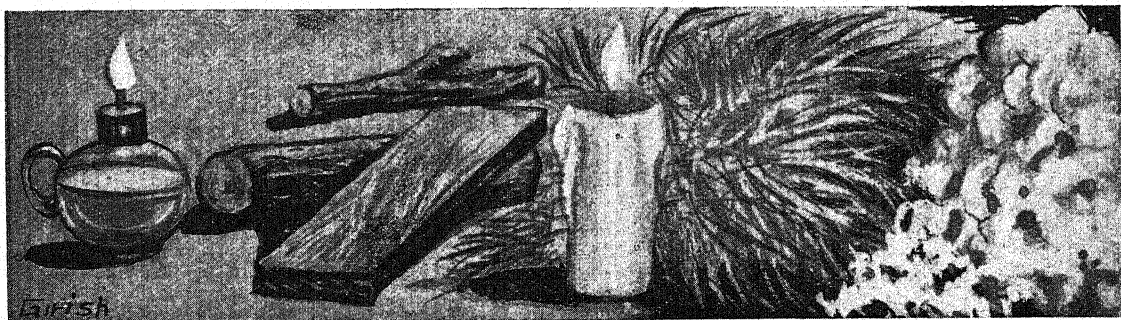
प्रज्वलनशील वस्तुएँ

तेल, लकड़ी, मोमबत्ती, घास, रुई आदि ये वस्तुएँ हवा में इसीलिए जल सकती हैं कि ये ऑक्सिजन से संयुक्त हो सकती हैं।
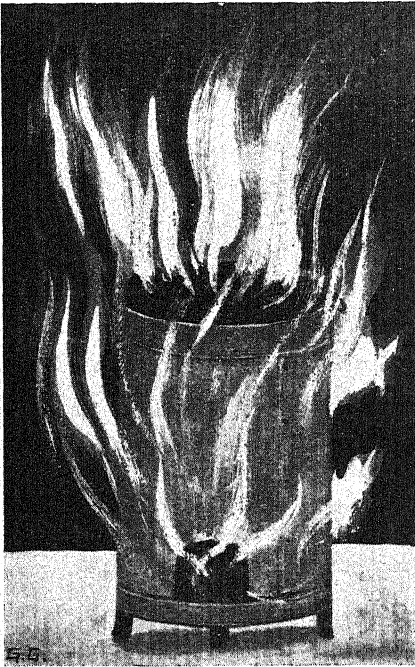
यदि हवा में केवल ऑक्सिजन होती तो क्या होता ?
हवा में मुख्यत: चार आयतनिक भाग नाइट्रोजन गैस के रहते हैं, तो एक आयतनिक भाग ऑक्सिजन गैस का। हवा में नाइट्रोजन का इस तरह मिला होना अत्यन्त आवश्यक है। यदि यह नाइट्रोजन हटा ली जाय और केवल ऑक्सिजन हवा में शेष रह जाय, तो ज़रा-सी आँच लगते ही अधिकतर वस्तुएँ जलकर भस्म हो जायँगी। यदि हवा में ऑक्सिजन के साथ अधिकांश भाग नाइट्रोजन का न होता तो जैसा कि ऊपर के चित्र में दिखाया गया है, न केवल अँगीठी में कोयला ही जलता, वरन् स्वयं अँगीठी भी जलकर भस्म हो जाती ! इस तरह हम देखते हैं कि नाइट्रोजन ऑक्सिजन को अत्याचार करने से रोकती है।

लगते हैं कि वहाँ की हवा में ऑक्सिजन की कमी हो जाती है। बहुधा लोग जाड़े के दिनों में कमरे के अंदर जलती हुई अँगीठी रख देते हैं और कमरे को बिलकुल बंद करके सो जाते हैं। ऐसा करना तो आत्मघात करने का ही एक उपाय है। कारण, कोयले के जलने से कमरे की ऑक्सिजन गैस कार्बन डिऑक्साइड और कार्बन मोनॉक्साइड गैसों में परिणत हो जाती है। कार्बन मोनॉक्साइड ऐसी विषाक्त गैस है कि वह एक ओर तो प्राणी को निद्रित कर देती है और दूसरी ओर मृत्यु के मुँह में ढकेल देती है ; फल यह होता है कि प्राणी न तो जग ही सकता है और न भाग ही सकता है। बहुधा पुराने पड़े हुए कुओं में पैठने से मनुष्य मरते देखे गये हैं। यह इसीलिए होता है कि मंद ऑक्सीकरण द्वारा कुओं में ऑक्सिजन समाप्त हो जाती है और विषाक्त अथवा दूषित गैसें उसमें रह जाती हैं, जो कुएँ के अंदर हवा के प्रवाह के न होने के कारण निकल भी नहीं पातीं। अतः ऐसे कुएँ में घुसने के पहले उसमें एक जलती हुई लालटेन लटकाना चाहिए, और यदि वह अंदर जाकर बुझ जाय, तो उसमें कदापि न पैठना चाहिए।

आजकल ऑक्सिजन गैस ऐसे व्यक्तियों को सुँघाने के काम में लाई जाती है, जिनका दम घुट गया हो। वायुमंडल के ऊपरी स्तरों में हवा बहुत पतली होती है, इसलिए पर्वत-शिखरों पर चढ़नेवाले तथा उड़ाकू लोग अपने साथ ऑक्सिजन के थैले ले जाते हैं। समुद्र के पनडुब्बे भी पानी के अंदर साँस लेने के लिए ऑक्सिजन गैस का उपयोग करते हैं।

ऑक्सिजन का उपयोग

ऑक्सिजन हमारे जीवन के लिए एक आवश्यक तत्त्व है। आप अपने मुँह और नाक को बंद कर लीजिए—कुछ ही सैकंडों में आप घबड़ा उठेंगे। क्यों ? इसीलिए कि आप हवा में मिली हुई ऑक्सिजन से वंचित कर दिये गये। जीवन के लिए ऑक्सिजन की

इस उपयोगिता के ही कारण आज दिन हमारे दैनिक जीवन में ऑक्सिजन का अनेक प्रकार से उपयोग किया जाने लगा है। जहाँ भी साँस लेने के लिए हवा की कमी रहती है, वहाँ अब कृत्रिम रूप से साँस लेने के लिए ऑक्सिजन का प्रयोग किया जाता है। ऊपर के चित्र में एक उड़ाका थैलों में भरी ऑक्सिजन द्वारा कृत्रिम रूप से साँस लेने का एक यंत्र लगाकर हवाई जहाज पर चढ़ रहा है। यह जानी हुई बात है कि वायुमंडल के ऊपर स्तरों में हवा पतली रहती है, इससे वहाँ साँस लेने में दिक्कत होती है। ऑक्सिजन-यंत्र के कारण ऐसे वातावरण में साँस लेना अब सुगम हो गया है।

अनन्त

अंतिम रहस्यात्मक तत्त्व को जानने के प्रयास में ज्यों-ज्यों हम अग्रसर होने का प्रयत्न करते हैं, त्यों-त्यों नई-नई पहेलियाँ सामने आकर हमें चुनौती देने लगती हैं—'तुम उसे नहीं जान सकते, नहीं जान सकते।' अपनी सीमित बुद्धि की डोर से हम उस असीम को नापने चले हैं—गज़, मील, वर्ष, युग की इयत्ता में उसे बाँधने ! किन्तु पहले ही साक्षात्कार में अपने अनन्तत्व की एक झलक दिखाकर वह मानो हमारी लघुता पर खिलखिला उठता है ! वास्तव में, यदि मनुष्य बलपूर्वक उस अनंत को अपनी बुद्धि के शिकंजे में कसने का आग्रह करे तो अवश्य ही मानवी मस्तिष्क फटकर आकाश में उड़ जायगा !

नमोस्त्वनन्ताय सहस्रमूर्तये

उस सहस्र रूपोंवाले अनन्त पुरुष को हमारा प्रणाम हो, इन शब्दों में भारतवर्षीय विद्वानों ने अनन्त के चरणों में अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है। ब्रह्म के स्वरूप का साक्षात्कार करते हुए ऋषियों को जिस अनुभव ने सबसे अधिक आश्चर्यचकित किया, वह भगवान् का अनन्त रूप था। ऋग्वेद का पुरुषसूक्त सहस्रशीर्षा पुरुष की महिमा का वर्णन करता है। वेदों की परिभाषा में 'सहस्र' शब्द अनन्त या अपरिमित का ही पर्यायवाची है। सहस्रशीर्षा विराट् पुरुष इस अनन्त ब्रह्माण्ड को सब ओर से व्याप्त करके स्थित है। यह विश्व उसके एक अंश से निर्मित हुआ है। वह अनन्त ईश्वर इस जगत् के बाहर भी है। सृष्टि के निर्माण में ब्रह्म का समस्त अंश परिच्छिन्न नहीं हो सका। सृष्टि के बाहर ब्रह्म का जो भाग बच गया, वह सृष्टि में प्रयुक्त होनेवाले भाग से कहीं अधिक है। यही उसकी महिमा है। इसी भाव को प्रकट करने के लिए वेद में कहा है—

एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥
[पुरुषसूक्त]

अर्थात् यह जितना दृश्यमान जगत् है, सब उस पुरुष की महिमा है। पुरुष अपनी इस महिमा से भी अधिक महान् है। समस्त ब्रह्माण्ड उसके चौथाई भाग में है। पुरुष का तीन-चौथाई भाग द्युलोक में अमृत अंश है। यहाँ पर एक-चौथाई और तीन-चौथाई शब्द सापेक्षिक और निदर्शनमात्र हैं। शब्दातीत तत्त्व को वाणी के द्वारा प्रकट करने के लिए यह एक कल्पना है; अन्यथा अनन्त वस्तु में इस प्रकार के योग-विभाग का स्थान ही कहाँ है ! एक दूसरे स्थान पर अनन्त पुरुष को और सृष्टि में व्याप्त उसके अंश को आधा-आधा कहा गया है:—

अर्धेन विश्वं भुवनं जजान।
यो अस्यार्धः कतमः स केतुः।

अर्थात् पुरुष के अर्ध भाग से सब भुवनों का निर्माण हुआ है ; उसका जो दूसरा अर्धांश है, उसका निशान क्या है ?

आधे भाग का प्रतीक तो जगत् के रूप में हमारे सामने है, परन्तु दूसरा जो अमृत अंश है, उसका प्रतीक किसी को ढूँढने से भी नहीं मिल रहा है। एक दूसरी दृष्टि से उसी के दो भागों को मर्त्य और अमृत कहा गया है। जो भाग सृष्टि में समाया हुआ है, वह काल के वशीभूत हो जाने के कारण मर्त्य बन गया है। और जो उससे बाहर है, वह देश और काल से परे है, इसलिए अमृत है। मर्त्य भाग को अन्न भी कहा जाता है, क्योंकि वह काल के द्वारा खाया जाता है। परन्तु अमृत भाग पर काल का कोई प्रभाव नहीं होता, वह स्वयं अन्नाद (अन्न को खानेवाला) है। मर्त्य और अमृत अथवा अन्न और अन्नादि की संधि ही सान्त और अनन्त की ग्रन्थि है।

जो देश से परिच्छिन्न है और काल से मर्यादित है, वही सान्त है। जगत् केवल इसी दृष्टि से सान्त (finite) कहा जा सकता है, अन्यथा क्या परमाणु और क्या विराट्

(Microcosm and Macrocosm) दोनों दिशाओं में विश्व की इयत्ता और रहस्य को ढूँढ़नेवाले वैज्ञानिकों को भी अभी तक वह अन्तिम आधार-बिन्दु नहीं मिल सका है, जहाँ पहुँचकर यह कहा जा सके कि बस अब इससे आगे कुछ नहीं है।

आधुनिक विज्ञान ने अत्यन्त चमत्कारी यंत्रों के द्वारा विश्व की अनन्त कहानी को पढ़ने का प्रयास किया है। माउण्ट विल्सन पर जो १०० इंच व्यास के शीशेवाला दूरदर्शक यन्त्र है, वह वैज्ञानिकों का दूरतम जानेवाला नेत्र है। उस दिव्य चक्षु से विश्व के परदे के भीतर का जो दर्शन हमें प्राप्त हुआ है, वह मानव बुद्धि को तथाकथित सत्य से परे ले जाकर कल्पना की गोद में छोड़ देता है। गीता के शब्दों में ब्रह्माण्ड के विराट् 'ऐश्वर योग' को देखने की क्षमतावाले इस दिव्य चक्षु से जो दृश्य हमें साक्षात् होता है, वह महान् से भी महान् है। हमारे सामने बीस लाख नीहारिकाएँ या नक्षत्र-जगत् (Nebulæ or Island Universes) विस्तृत हैं। ये विश्व इतनी दूर हैं कि १,८६,००० मील प्रति क्षण की गति से चलने वाला प्रकाश वहाँ से ५ करोड़ वर्षों में हमारे समीप तक पहुँचता है। ऐसे प्रत्येक नक्षत्र-जगत् में अरबों नक्षत्र हैं, अथवा उन नीहारिकाओं में कोटानुकोटि नक्षत्रों के निर्माण की सामग्री विद्यमान है। परन्तु हमारे दूरदर्शक यंत्र की फ़ोटोग्राहिणी शक्ति से भी परे इस अनन्त ब्रह्माण्ड में शंखानुशंख नक्षत्र-जगत् एवं नीहारिकाओं का अस्तित्व और भी है। क्या मानव बुद्धि कभी उस सत्य का साथ दे सकती है? क्या केवल कल्पना ही वहाँ एकमात्र हमारा अवलम्ब नहीं रह जाती? मेटरलिंक के शब्दों में देश, काल, चैतन्य, अनन्तता और शाश्वतता केवल अगम्य रहस्य हैं।*

अनुभव की इस उच्च भूमिका में पहुँचकर ही 'एतावानस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पूरुषः' का सच्चा अर्थ हमारी समझ में आ सकता है। उस सृष्टिकर्ता की इतनी विशाल महिमा है! ज्ञान-सूर्य की पहली पौ फटने के साथ ही ऋग्वेद के मनीषियों के ये उद्गार हमारे सामने आते हैं—

सहस्रधा महिमानः सहस्रम्

[ऋ० १०।११४।८]

अर्थात् उस सृष्टिकर्ता की महिमाएँ अनन्त एवं अनन्त प्रकार की हैं। यदि मनुष्य की बुद्धि बलपूर्वक उस अनन्त को अपनी समझ के शिकंजे में कसने का आग्रह करे, तो अवश्य ही मानवी मस्तिष्क फटकर आकाश में उड़ जायगा। जनक के बहुदक्षिण यज्ञ में जिस समय कुतूहल से प्रेरित होकर गार्गी ने इस विश्व के सम्बन्ध में 'अति-प्रश्न' पूछे, उस समय याज्ञवल्क्य ने उसे चेतावनी देते हुए कहा—'हे गार्गि! अतिप्रश्न मत पूछो, कहीं तुम्हारी बुद्धि का आधार यह मस्तिष्क भी अपने स्थान से न हट जाय।' वस्तुतः मानव मस्तिष्क भी विल्सन पर्वत की चोटी के सौ इंची दूरवीक्षण-यंत्र की भाँति एक यंत्र ही तो है। अनन्त आकाश के कुछ आवरणों को पार करके बीस लाख नीहारिकाओं के दर्शन कर लेने के बाद उस सौ इंची यंत्र की शक्ति थक जाती है, उसका 'मूर्च्छापतन' होने लगता है। क्या विल्सन पर्वत के इस सौ इंची वैज्ञानिक 'जटायु' की असमर्थता में और राम के उदर में 'अनेक अंडकटाहों' का दर्शन करके थक जानेवाले तुलसीदास के कागभुशुंडि में तत्त्व की दृष्टि से कोई अन्तर है? दोनों अपना अन्तिम अनुभव एक ही प्रकार से हमारे सामने रखते हैं—

'उदर माँझ सुनु अंडजराया।
देखेहुँ बहु ब्रह्माण्ड निकाया॥
एक-एक ब्रह्माण्ड महँ रहेउँ बरस सत एक।
यहि विधि मैं देखत फिरेउ अंडकटाह अनेक॥

(रामायण)

वैज्ञानिकों के सुपरिचित 'कोटि-कोटि नक्षत्र' (millions and millions of stars*) और पुराणों के शतकोटि ब्रह्माण्ड-निकाय अन्ततोगत्वा एक ही हैं। अनादि और अनन्त संसाररूपी अश्वत्थ की इयत्ता का अनुभव दोनों को नहीं मिल सका। सापेक्षतावादी वैज्ञानिकों (Relativists) के मत में यह ब्रह्माण्ड सान्त है। इस सान्त विश्व का व्यास १४०

---

*'....unfathomable mysteries, such as life, being, infinity, eternity, time, space and, in general, if you look into the depths of things, nearly all that exists.'

The Supreme Law, p. 152.

* "About 2,000,000 minor or island universes are seen to be hurtling bodily through the tenuity of space at speeds of the order of 1000 miles a second, and probably there are many millions more beyond the range of our telescopes."

—*An Outline of the Universe by J. G. Crowther, p. 23*
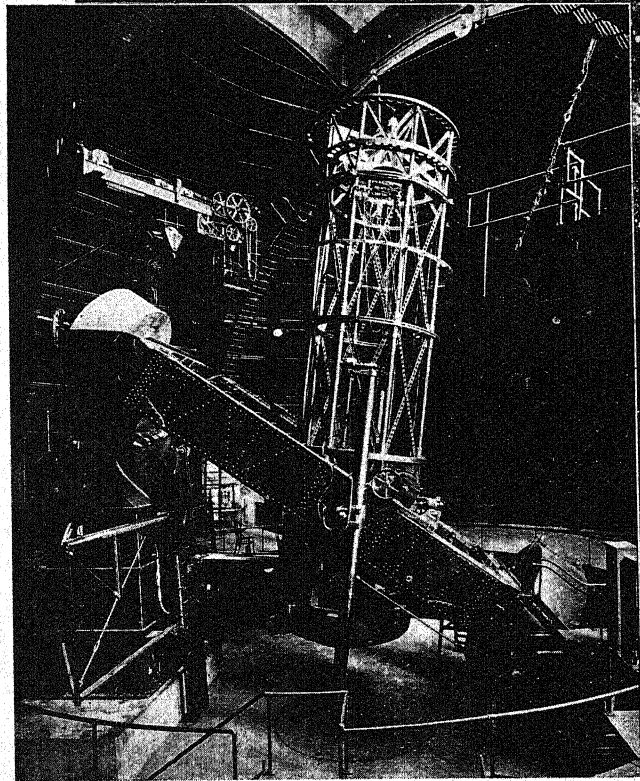
दृश्यमान जगत् के अनंतत्व की एक झलक

(बाईं ओर) माउन्ट विल्सन पर स्थापित १०० इंच व्यास के शीशेवाला दूरदर्शक, जो आज दिन विज्ञान का सबसे दूरतम दृष्टिवाला नेत्र है। (दाहिनी ओर) उपर्युक्त दूरदर्शक द्वारा दिखाई देनेवाले लाखों प्रकाश-वर्ष दूर स्थित अनंत कोटि नक्षत्रों की एक झलक । हमारे दूरदर्शक यंत्र की फ़ोटोग्राहिणी शक्ति से परे इस अनन्त ब्रह्माण्ड में शंखानुशंख ऐसे नक्षत्र-जगत् और हैं। [फ़ोटो—'माउण्ट विल्सन वेधशाला' से ।]

करोड़ प्रकाशवर्ष बताया जाता है ! इसी से इसकी परिधि* की कल्पना हो सकती है। उन लोगों के मत में एक प्रकाश की रश्मि अपने नियत स्थान से चलकर ब्रह्माण्ड की परिक्रमा करती हुई फिर उसी स्थान पर लौट आती है। इससे यह ज्ञात होता है कि ब्रह्माण्ड सान्त है, अर्थात् आकाश पोलाकार है। परन्तु इस प्रकार के सान्त ब्रह्माण्ड की कल्पना भी विज्ञान का अन्तिम पड़ाव नहीं है। सापेक्षतावाद के प्रतिपादक आइन्स्टाइन के प्रमुख समर्थक वैज्ञानिक एडिंगटन ने अपने 'एक्सपेंडिंग यूनिवर्स' ग्रन्थ में यह प्रतिपादित किया है कि इस विश्व का पोला उदर नक्षत्र और नीहारिकाओं की प्रगति से गुब्बारे की तरह नित्यप्रति बढ़ रहा है। अनुमान किया जाता है कि १४० करोड़ प्रकाशवर्ष के समय में ब्रह्माण्ड का व्यासार्ध द्विगुणित हो जाता है। महाकवि तुलसी के शब्दों में 'नभशत कोटि अमित अवकाशा' † जिसका स्वरूप है, उस आकाश की अनन्तता के सम्बन्ध में विज्ञान की ये धारणाएँ उस अनन्तता के मौलिक स्वरूप में तिलमात्र भी परिवर्त्तन नहीं कर सकतीं। यदि एक सूक्ष्म परमाणु के केन्द्र का रहस्य हमारे बुद्धिवाद को चुनौती देने के लिए पर्याप्त है, ‡ तो विराट् आकाश को गणित के अंकों द्वारा बाँधने के प्रयास भी निष्फल हैं।

शेष और विष्णु

गणित के गुरुतर अंकों के भार से दबी हुई कातर मानवी बुद्धि को अनन्त का स्वरूप समझाने के लिए शेषशायी विष्णु की कल्पना अवश्य ही काव्यमय आनन्द से ओतप्रोत मालूम होगी। विष्णु शेष के आश्रय से योगनिद्रा में निमग्न रहते हैं, यह एक छोटा-सा सूत्र है। भारतीय शिल्प में शेषशायी विष्णु इसी का मूर्त रूप है। परन्तु विष्णु कौन हैं और शेष क्या है, इन प्रश्नों की मीमांसा बड़ी मनोहर है। निरञ्जन ब्रह्म का जो अंश सृष्टि में परिच्छिन्न या व्याप्त हो गया है, वही 'वेवेष्टि व्याप्नोति इति विष्णुः' इस परिभाषा के अनुसार विष्णुसंज्ञक है। विष्णु ब्रह्माण्ड का अधिपति तत्त्व है। वह विष्णु शेष के आश्रय से प्रतिष्ठित रहता है। सृष्टि की परिधि से बचा हुआ जो ब्रह्म का भाग है, वही 'शेष' है। कहा भी है:—

एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।

अर्थात् पुरुष अपनी विश्वरूपी महिमा से बहुत बड़ा है। उसका वह शेष भाग अनन्त है। इसीलिए विष्णु का आधार 'शेष' पुराणों में अनन्त-संज्ञक कहा गया है। विष्णु उस अनंत शेष की शय्या पर सोते हैं, यह एक काव्यमय कल्पना है। विज्ञान के शब्दों में हम कुछ-कुछ इस प्रकार कहेंगे कि सान्त विश्व आनन्द के आश्रय से प्रतिष्ठित है। विष्णु सान्त विश्व का प्रतीक है और शेष अनन्त का। विष्णु की नाभि (Navel or Central Point) से ही सृष्टि की बृंहण-प्रक्रिया का प्रथम अंकुर उत्पन्न होता है। सृष्टि के भीतर ही उसकी वृद्धि और लय के रहस्य अन्तर्हित हैं। विष्णु से व्यतिरिक्त शेष सहस्रसंज्ञक या अनन्त है। अनन्त की शिल्पगत कल्पना सीधी रेखा से नहीं हो सकती, उसके लिए कुंडलित रेखा ही उपयुक्त है। यही सर्पाकृति है। पुराणों की भाषा में अनन्त शेष के सहस्र मुख हैं; उन फणों के अनन्त विस्तार में हमारे इस ब्रह्माण्ड की तुलना ऐसी ही है, जैसे समस्त पृथ्वी की तुलना में एक छोटा रजकणः—

स्फारे यत्फणाचक्रे धरा शरावश्रियं वहति।

एक ओर पुराणों की यह भाषा है। दूसरी ओर अर्वाचीन विज्ञान ने मानो 'दो और दो चारवाली' तथ्यात्मक भाषा से उकताकर एक नवीन शैली का आश्रय लिया है। विद्वद्वर जेम्स जीन्स ने 'इओस' या 'ब्रह्माण्ड विज्ञान के व्यापक पहलू' (Eos or Wider Aspects of Cosmogony) नामक अपनी पुस्तक में एक स्थान पर लिखा है कि हमारी इस पृथिवी का विस्तार विश्व की अपेक्षा से इतना ही है जितना कि अटलांटिक महासागर में भरे हुए असंख्य बालू के कणों की तुलना में एक बालुका-कण। अवश्य ही अनन्त के आँगन में विज्ञान और पुराण एक दूसरे से हाथ मिलाते हुए प्रतीत होते हैं।

---

* व्यास से परिधि लगभग तिगुनी होती है। १ अरब ४० करोड़ व्यास की परिधि ४ अरब ४० करोड़ हुई। प्रकाशवर्ष को छोड़कर यह संख्या लगभग उतनी ही है, जितनी हिन्दू गणना के अनुसार एक कल्प की आयु – ४ अरब ३२ करोड़।

† उत्तरकांड के दोहा १३० — १३१। इस प्रकरण को शतकोटि उपनिषद् कहा जा सकता है।

‡ 'अणोरणीयान् महतोमहीयान्' कहकर श्रुतियों ने जिसकी अनंतता की ओर संकेत किया है उस परम तत्त्व के दृश्यमान रूप विश्व की अनंत महानता की झलक जहाँ हमें विज्ञान के दूरदर्शक यंत्रों से मिल रही है, वहाँ सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा उसकी अनंत लघुता का भी आभास हमें मिलता है। वैज्ञानिकों का कथन है कि कोई चाहे आकाश के तारों की भी गणना कर ले किंतु वृक्ष की एक पत्ती में जितने कोश और उनमें जितने अणु-परमाणु होते हैं, उनकी गणना नहीं कर सकता। इतनी अधिक उन कोशों की संख्या होती है !

पृथ्वी की कहानी

ठंढी होकर जमी हुई लावा

आजकल भी ज्वालामुखियों द्वारा पृथ्वी के गर्भ का जो तप्त पिघला पदार्थ लावा के रूप में बाहर निकलकर जम जाता है, वह कठोर होने पर आग्नेय चट्टानों के सदृश्य गुणवाला ही पाया गया है। ऊपर के फ़ोटो में ज्वालामुखी से निकली हुई वाला के जमने से बने हुए एक पर्वत का दृश्य है।

आग्नेय चट्टानें

इस फ़ोटो में दिखाई दे रही चट्टानें पृथ्वी के भीतर के पिघले हुए तप्त पदार्थ के जम जाने से बनी हैं। आरंभ में ये चट्टानें पृथ्वी के चिप्पड़ में ही दबी थीं, किन्तु बाद में संतुलन-क्रिया या अन्य भौगर्भिक क्रिया के फलस्वरूप पर्वतों के रूप में बाहर निकल आई हैं।
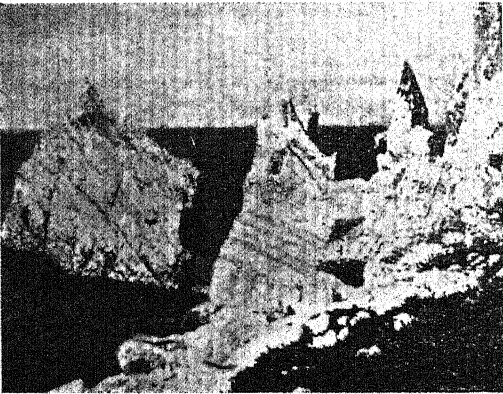
प्रस्तरीभूत चट्टानें

इस फ़ोटो में दिखाई दे रही चट्टानें खड़िया मिट्टी (Chalk) की चट्टानें हैं। ये चट्टानें किसी सुदूर अतीतकाल में जलाशय की तलहटी में जल के द्वारा लाई हुई बालू, मिट्टी, पत्थर आदि के कणों की तलछट तथा अति सूक्ष्म क्षारीय जलचरों के प्रस्तर विकल्पों के मिश्रण से बनी हैं। समुद्र के जल की सतह के ऊँचे-नीचे हो जाने के कारण ही ये चट्टानें पर्वतरूप में ऊपर उठी दिखाई दे रही हैं।

चट्टानों के स्तर या परतें

इस चित्र से आभास मिलता है कि पृथ्वी के चिप्पड़ को बनानेवाली चट्टानें किस प्रकार स्तरों या परतों के रूप में एक के ऊपर दूसरी फैली हैं। ऐसे स्तर प्रायः प्रस्तरीभूत चट्टानों के ही होते हैं।

पृथ्वी के चिप्पड़ को बनानेवाली आग्नेय और प्रस्तरीभूत चट्टानों के कुछ नमूने
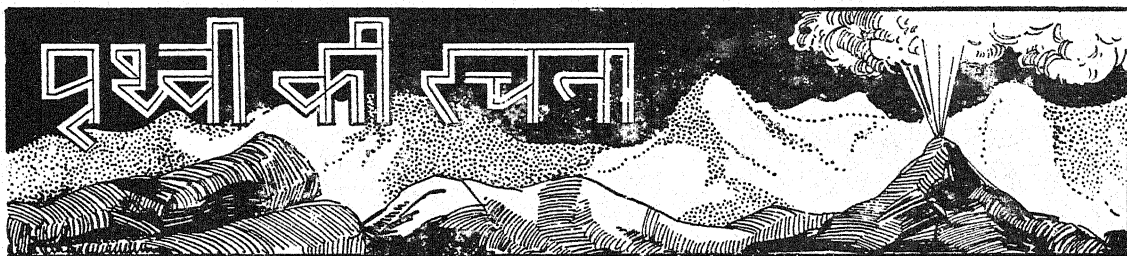
भूपृष्ठ अथवा पृथ्वी का चिप्पड़ और उसकी रचना

पिछले अध्यायों में हम कह चुके हैं कि पृथ्वी के अध्ययन की पहली सीढ़ी उसके ऊपरी पृष्ठ अथवा चिप्पड़ का अध्ययन है। यह भूपृष्ठ जिस पदार्थ से बना है, भूविज्ञान की भाषा में उसे "चट्टान" कहकर पुकारा जाता है। इस अध्याय में इसी चिप्पड़ और उसको बनानेवाली चट्टानों का वर्णन आरंभ किया जा रहा है।

पृथ्वी के पृष्ठ को, जिस पर हम सब रहते हैं, भूपृष्ठ अथवा पृथ्वी का चिप्पड़ कहते हैं। ८००० मील व्यासवाली पृथ्वी के चिप्पड़ की गहराई ५० मील से अधिक नहीं है। पृथ्वी का चिप्पड़ पृथ्वी के शेष भाग पर नारंगी के छिलके के समान चढ़ा हुआ है और इसीलिए 'चिप्पड़' कहलाता है। पृथ्वी-पृष्ठ के भीतर क्या है, यह हम आगे के पृष्ठों में बताएँगे, परन्तु यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि भीतर के पदार्थ की अपेक्षा चिप्पड़ का घनत्व हल्का है। चिप्पड़ का घनत्व सम्पूर्ण पृथ्वी के घनत्व की अपेक्षा आधे के लगभग है।

चिप्पड़ जिस पदार्थ का बना है, उसे 'शिला' या 'चट्टान' कहते हैं। साधारणतः चट्टान पत्थर-जैसे कड़े या कठोर प्राकृतिक पदार्थ को कहते हैं, परन्तु भूविज्ञान की भाषा में मिट्टी और बालू की तहों को भी चट्टान कहते हैं। चट्टान जिस पदार्थ की बनी है, उसे 'खनिज' के नाम से पुकारते हैं। एक या अनेक खनिजों के सम्मिश्रण से चट्टान की रचना होती है। अधिकतर चट्टानों में एक से अधिक खनिज सम्मिश्रित रहते हैं, परन्तु कभी-कभी केवल एक ही खनिज भी चट्टान कहलाता है, जैसे 'चूने का पत्थर'।

चट्टानों की रासायनिक रचना निश्चित नहीं होती। खनिजों के किसी भी अनुपात के मिश्रण से चट्टान बन जाती है। एक ही चट्टान के विभिन्न भागों में खनिजों के अनुपात में विभिन्नता पाई जाती है। विभिन्न खनिजों के विभिन्न अनुपातों के मिश्रण से बनी लगभग समान गुण-वाली चट्टानें भी पाई जाती हैं। चट्टानों के गुण उनमें मिश्रित खनिजों के अनुपात पर निर्भर रहते हैं। खनिजों की रासायनिक रचना, आकृति और गुण सभी निश्चित रहते हैं। चट्टानों की रचना में जिन विशेष खनिजों की अधिकता पाई जाती है, उन्हें 'शिलानिर्माणकारी' खनिज कहते हैं।

चिप्पड़ की रचना में जो चट्टानें पाई जाती हैं, वे तीन श्रेणियों में विभक्त की गई हैं। चट्टानों का यह विभाजन उनकी उत्पत्ति के अनुसार किया गया है। इसका कारण यह है कि उनके गुण उत्पत्ति के ढंग पर निर्भर हैं। चट्टानों के ये तीन भेद 'आग्नेय', 'प्रस्तरीभूत' और 'रूपान्तरित' नाम से प्रसिद्ध हैं।

आग्नेय चट्टानें वे हैं, जो पृथ्वी के भीतर से अग्नि के समान तप्त द्रवित रूप में निकलकर पृथ्वी के ऊपर आकर जमकर ठंढी और कठोर हो गई हैं। पृथ्वी के बचपन के दिनों में जब चिप्पड़ धीरे-धीरे बनना आरम्भ हुआ था और जमकर कठोर हो रहा था, उन दिनों यदि चिप्पड़ में कहीं भी किसी कारण से कोई रास्ता मिल जाता था, तो पृथ्वी के भीतर का द्रवित पदार्थ (जो अभी ठंढा होकर कठोर नहीं हो पाया था) बाहर की ओर फट पड़ता था और बह निकलता था। आजकल भी पृथ्वी के भीतर से जो तप्त द्रवित पदार्थ ज्वालामुखी के मुख से निकलता है, वह जमकर कठोर होने पर आग्नेय चट्टानों के सदृश गुणवाला ही पाया गया है।

आग्नेय चट्टानें तहों या परतों के रूप में नहीं पाई जातीं, वरन् अव्यवस्थित ढूहों अथवा पिण्डों के रूप में मिलती हैं। इन चट्टानों के बनते समय जो पदार्थ पृथ्वी के बाहर बह निकला, वह इतनी शीघ्रता से ठंढा हुआ कि

उसके खनिज स्फटिक (crystal) रूप धारण न कर पाये। परन्तु जो द्रवित पदार्थ पृथ्वी के बाहर न निकल पाया, वरन् चिप्पड़ के भीतर ही रुक गया (और आजकल चिप्पड़ के घिस जाने से बाहर निकल आया है), वह धीरे-धीरे और देर में ठंढा हुआ। इस प्रकार की चट्टानों के अवयव खनिजपूर्ण स्फटिक रूप में विकसित हो सके। इसीलिए ये चट्टानें अधिक कड़ी हैं। बिल्लौरी पत्थर की चट्टानें पृथ्वी के भीतर ठंढी हुई हैं और गंधकादि की चट्टानें, जो मुलायम हैं, पृथ्वी के ऊपर।

इसमें तो कोई संदेह नहीं कि सबसे पहले पृथ्वी पर आग्नेय चट्टानें बनीं। इसीलिए ये 'आदि चट्टानें' भी कहलाती हैं। आगे हम देखेंगे कि शेष दोनों प्रकार की चट्टानें भी आग्नेय चट्टानों के ही पदार्थों से बनी हैं। चिप्पड़ की तह में सदैव आग्नेय चट्टानें ही मिलती हैं, ऊपर चाहे जैसी चट्टानें हों। पुराने पहाड़ों पर आग्नेय चट्टानें ही पाई जाती हैं।

'प्रस्तरीभूत' चट्टानें वे हैं, जो तह के ऊपर तह के रूप में जमकर बनी दिखाई देती हैं। ये चट्टानें जलाशय की तलहटी में जल के द्वारा लाई हुई बालू, मिट्टी, पत्थर आदि के कणों के जमने से बनी हैं। इन चट्टानों के बनने में लाखों वर्ष लगे होंगे। जिस स्थान में ये जमा हुई होंगी, वह किसी आन्तरिक घटना अथवा पृथ्वी के भीतर की संतुलन-क्रिया के कारण बाहर निकलकर पर्वत के आकार में दिखाई देने लगा है। पानी के नीचे जमनेवाली तहें और परत ऊपरी दबाव अथवा आन्तरिक ताप और दबाव के फलस्वरूप कठोर हो गई हैं।

प्रस्तरीभूत चट्टानों के टुकड़ों की यदि बहुत निकट से अथवा अभिवर्द्धक ताल द्वारा परीक्षा की जाय, तो मालूम होगा कि ये चट्टानें बालू, मिट्टी अथवा चूने के पत्थर के कणों से बनी हैं। इन चट्टानों के कण या तो बहुत ही सूक्ष्म और गोल-मटोल होंगे या कुछ कुछ बड़े और टेढ़े-मेढ़े आकार के होंगे। इन शिलाओं का प्रस्तरित होना और छोटे-छोटे कणों से बना होना, दोनों ही बातें इस बात की द्योतक हैं कि इनकी उत्पत्ति किसी जलाशय की तह में हुई है। इनमें जिन खनिजों के कण पाये जाते हैं, वे वही हैं जो आग्नेय शिलाओं की रचना में पाये जाते हैं।

पुरानी आग्नेय शिलाओं को काट-काटकर नदियों और नलों ने अपना मार्ग बनाया है। जल के वेग से शिलाओं की यह छीलन उसके साथ बहती हुई, घिसती और रगड़ती हुई सागर-तल तक पहुँचती है। वहाँ पहुँचते-पहुँचते शिलाओं के बड़े-बड़े ढोके महीन बालू और मिट्टी के रूप में बदल जाते हैं। सागर में जमा होनेवाली ये तहें कालान्तर में कठोर बनकर शिला बन जाती हैं।

यों तो प्रस्तरित शिलाएँ सीधी सीधी तहों में पाई जाती हैं, परन्तु कभी-कभी पृथ्वी पर होनेवाली अदृश्य घटनाओं के फलस्वरूप इन शिलाओं पर दबाव पड़ता है और ये तुड़-मुड़ जाती हैं अथवा लहरदार बन जाती हैं। ऐसी तहों को हम पुटीकृत (Folded) कहते हैं। यदि हम चिप्पड़ की खड़ी काट करें, तो हमें चट्टानों की विभिन्न तहें दिखाई पड़ेंगी। रेल की पटरी के किनारे की चट्टानों के परिच्छेद (Section) में हमें कभी-कभी पुटीकृत तहें दिखाई पड़ती हैं।

चिप्पड़ की रचना में कहीं-कहीं प्रस्तरीभूत चट्टानों के ऊपर या बीच में आग्नेय चट्टानें पाई जाती हैं। प्रस्तरीभूत चट्टानों के बीच से या ऊपर पाई जानेवाली ये आग्नेय चट्टानें अन्य आग्नेय चट्टानों की भाँति आदि चट्टानें नहीं हैं, वरन् ये प्रस्तरीभूत चट्टानों के बन चुकने पर पृथ्वी के भीतर से द्रवित रूप में निकलकर जम गई हैं।

प्रस्तरित होने के अतिरिक्त प्रस्तरीभूत चट्टानों की एक और विशेषता यह है कि स्थान-स्थान पर इन शिलाओं में क्षारीय जलचरों तथा वनस्पतियों के अगणित प्रस्तर-विकल्प या प्राचीन जीवों के शिलीभूत अवशेष (Fossil) मिलते हैं। ये अवशेष भी इस बात की पुष्टि करते हैं कि प्रस्तरित चट्टानों का जन्म जलाशय में हुआ है।

कुछ प्रस्तरित चट्टानें, जैसे एक प्रकार का चूने का पत्थर अथवा मूँगे की चट्टानें, तो बिल्कुल सूक्ष्म जीव-समूहों के प्राणि-अवशेषों का ही सिकुड़ा हुआ पदार्थ है।

तीसरे प्रकार की चट्टानें, जिन्हें 'रूपान्तरित चट्टानें' कहते हैं, आग्नेय और प्रस्तरीभूत चट्टानों के ही परिवर्तित रूप हैं। स्थानान्तरित हुए बिना ही पृथ्वी की आन्तरिक गर्मी, दबाव अथवा अन्य उथल-पुथल के कारण, आग्नेय या प्रस्तरीभूत चट्टानों के रूप, गुण और आकृति में परिवर्तन होने से जो चट्टानें बनती हैं, वे पहले की चट्टानों से एकदम भिन्न होने के कारण 'रूपान्तरित' चट्टानें कहलाती हैं। प्रारम्भिक चट्टानों की अपेक्षा इन चट्टानों की कठोरता बहुत अधिक बढ़ जाती है। इन चट्टानों की कठोरता ही नहीं वरन् अवयव भी बदल जाते हैं, यहाँ तक कि प्रस्तरीभूत चट्टानों की रूपान्तरित रचना में पाये जानेवाले खनिज आग्नेय चट्टानों के खनिजों से अधिक भिन्न नहीं होते। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि चट्टानों के रूपान्तरित होने का प्रधान कारण ताप या गर्मी है।

चिप्पड़ की रचना में ७५ प्रतिशत भाग प्रस्तरीभूत चट्टानों से ढका हुआ है। शेष २५ प्रतिशत में आग्नेय और रूपान्तरित चट्टानें हैं। यद्यपि स्थल पर ७५ प्रतिशत प्रस्तरीभूत चट्टानें हैं तथापि इनकी गहराई एक मील से अधिक नहीं है। इनके नीचे फिर आग्नेय चट्टानें ही मिलेंगी, क्योंकि ये ही आदि चट्टानें हैं, जिन पर पृथ्वी का चिप्पड़ बना है।

उपरोक्त चट्टानों के अतिरिक्त पृथ्वी के चिप्पड़ पर जो और पदार्थ पाया जाता है, उसे हम 'भूमि' कहते हैं। भूमि चिप्पड़ पर एक प्रकार का आवरण-सा है, जो नीचे की चट्टानों (Bed Rock) पर चढ़ा है। भूमि-आवरण कहीं तो दो-चार इञ्च मोटा है और कहीं हज़ारों फ़ीट। भूमि कहीं-कहीं तो कंकड़, पत्थर और बालू के कणों से मिलकर बनी है और कहीं चिकनी मिट्टी, धूल और रेती से। भूमि की रचना चट्टानों की अपेक्षा बहुत कम कठोर है। भूगर्भशास्त्र की दृष्टि से यद्यपि भूमि का महत्त्व बहुत कम है तथापि हमारे जीवन में जितना महत्त्व भूमि का है, उतना और किसी चट्टान का नहीं है। भूमि से ही सारे खाद्य पदार्थों की उत्पत्ति होती है। चट्टानों के ही विभिन्न अंशों से भूमि की रचना होती है। आगे के अध्यायों में हम देखेंगे कि पृथ्वी के चिप्पड़ के घिसने में कौन शक्तियाँ कार्यान्वित हैं और किस प्रकार भूमि का जन्म होता है।

यहाँ पर हम इतना और बता देना चाहते हैं कि वैज्ञानिकों की गणना के अनुसार पृथ्वी के चिप्पड़ की रासायनिक रचना में जिन तत्वों का समावेश है, उनका प्रतिशत अनुपात निम्न तालिका के अनुसार है:—

ऑक्सिजन	४६·६८	सिलिकन	२७·६०
अल्युमिनियम	८·०५	लोहा	५·०३
कैल्शियम	३·६३	सोडियम	२·७२
पोटेशियम	२·५६	मैगनीशियम	२·०७
कुल	६८·३४		

शेष में १·५५ प्रतिशत भाग में टाईटेनियम, फ़ास्फ़ोरस, कारबन, हाइड्रोजन, मैंगनीज, गन्धक, क्लोरीन और बेरीयम नामक तत्त्व हैं। अवशेष ०·०६ प्रतिशत भाग सोना, चाँदी, जस्ता, ताँबा आदि तत्त्वों से मिलकर बना है। उपरोक्त सभी तत्त्व चिप्पड़ में रासायनिक यौगिक रूप में हैं, मूलतत्त्व के रूप में नहीं।
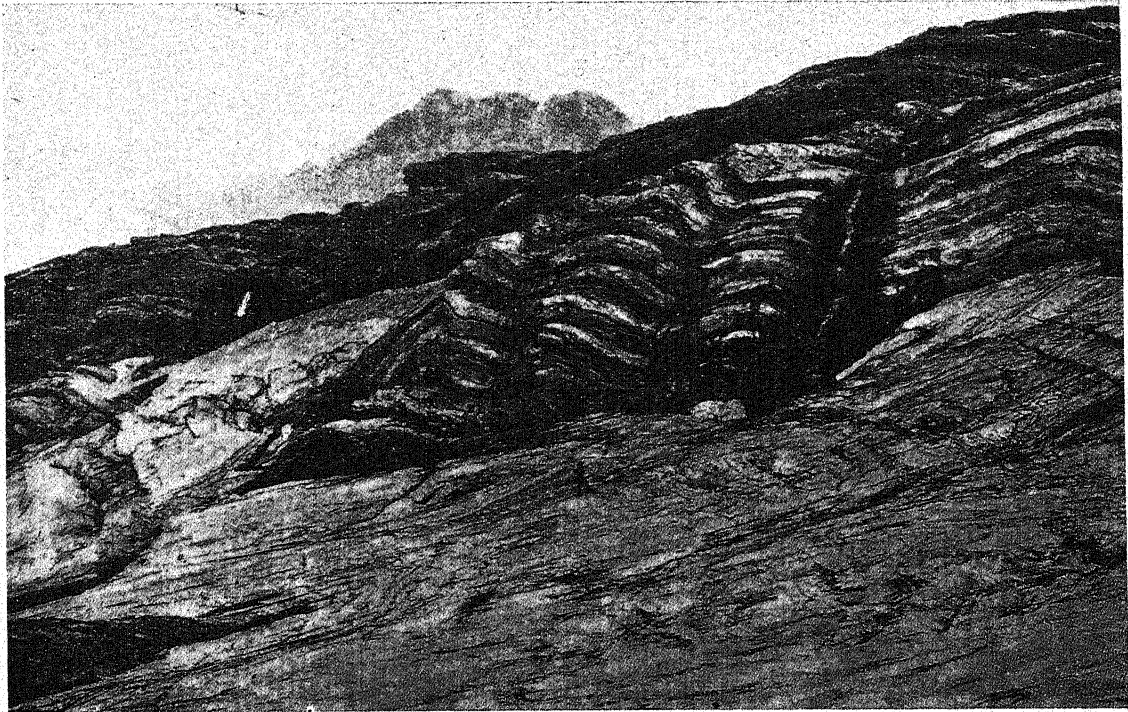
पुटीकृत प्रस्तरीभूत शिलाओं का एक नमूना। नीचे आग्नेय चट्टानें दिखाई दे रही हैं।
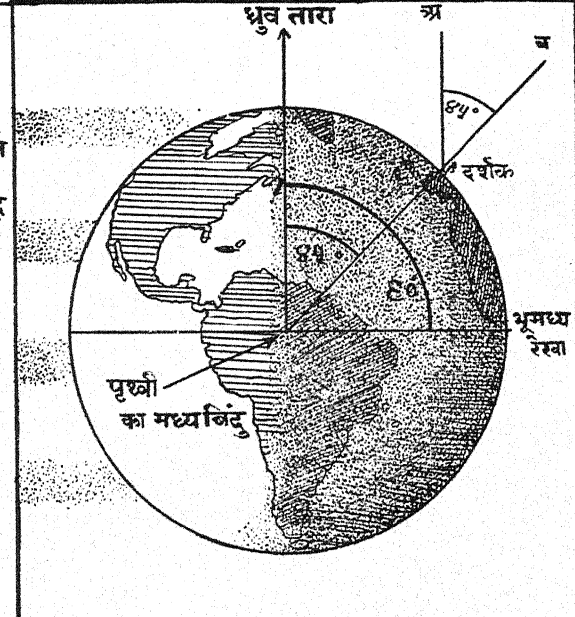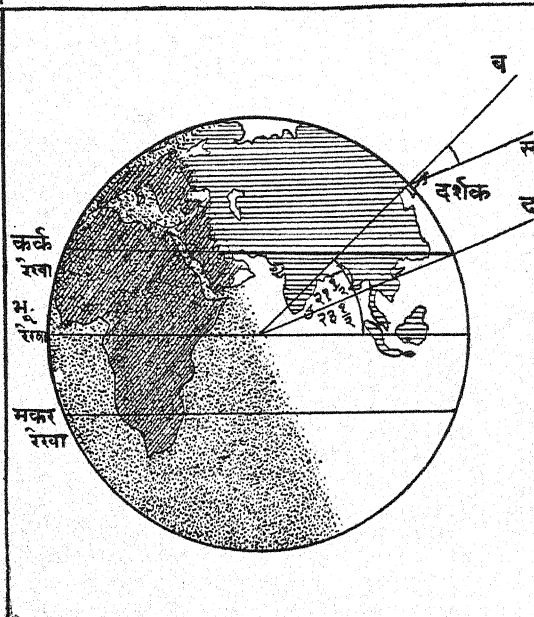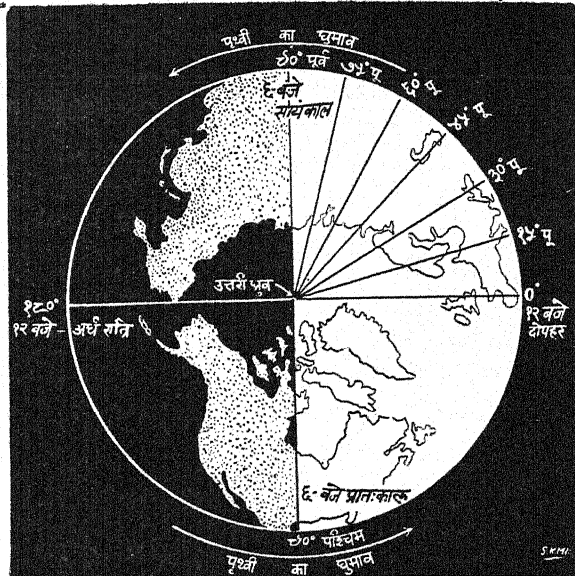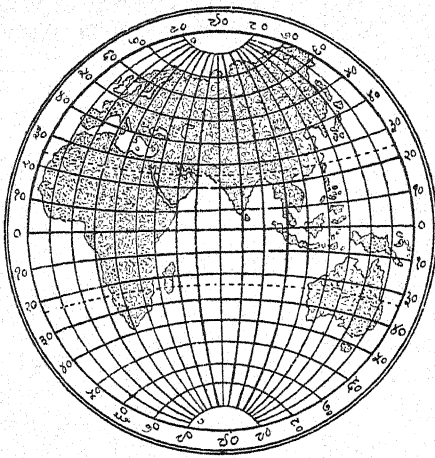
(ऊपर की पंक्ति में) **बाईं ओर**—समानान्तर आड़ी रेखाएँ 'अक्षांश' और असमानान्तर खड़ी रेखाएँ 'देशान्तर' हैं। **दाहिनी ओर**—पृथ्वी पश्चिम से पूर्व की ओर घूमती है, अतएव ०° देशान्तर के स्थानों में जब दिन के १२ बजेंगे, उस समय ९०° पूर्व देशान्तर पर शाम के ६, ९०° पश्चिम देशान्तर पर सुबह के ६ और १८०° देशान्तर पर रात के १२ बज रहे होंगे। (नीचे) दर्शक के ठीक सिर के ऊपर की दिशा का आकाशबिन्दु शिरोबिन्दु (Zenith) कहलाता है (चित्रों में ब)। इस बिन्दु से दर्शक तक खींची गई सीधी रेखा नीचे बढ़ाने पर पृथ्वी के मध्यबिन्दु तक पहुँचती है। (बाईं ओर) द दोपहर को कर्करेखा पर सूर्य के ठीक सिर पर होने की वास्तविक स्थिति और स दर्शक को अपनी जगह से दिखाई दे रहे सूर्य की स्थिति है। सेक्स्टेन्ट द्वारा दर्शक की शिरोबिन्दु-रेखा और सूर्य की स्थिति-रेखा का कोण २१½° निकलता है। इसमें विषुवत् रेखा और कर्क रेखा के बीच के कोण का अंश २३½° जोड़ने से दर्शक को अपने स्थान का ठीक अक्षांश ४५° मिल जाता है। (दाहिनी ओर) इसी तरह रात को सूर्य के बदले ध्रुव तारे (या सदर्न क्रास) की स्थिति द्वारा अक्षांश जाना जा सकता है। अ दर्शक को अपने स्थान से दिखाई दे रही ध्रुव की स्थिति और ब उसका शिरोबिन्दु है। अ और ब के बीच का कोण ४५° है। इसको विषुवत् रेखा और ध्रुव के बीच के कोण ९०° में से घटाने पर दर्शक के स्थान का ठीक अक्षांश ४५° मिल जाता है।
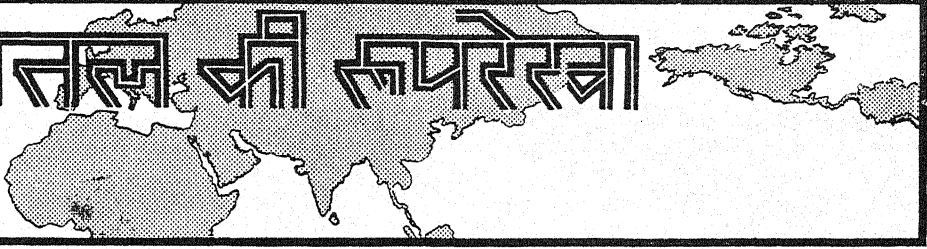
भौगोलिक स्थिति-सूचक रेखाएँ—'अक्षांश' और 'देशान्तर'

धरातल के विभिन्न भागों की स्थिति का निर्णय करने के लिए ऐसे किसी साधन का होना आवश्यक है, जिसका हवाला देकर हम यह बता सकें कि अमुक स्थान अमुक जगह पर है। ऐसा साधन होने पर ही हम धरातल के भूभागों की रूपरेखा का ठीक निर्णय करने में समर्थ हो सकते हैं। आइए, देखें इस संबंध में भूगोल के पंडितों ने क्या युक्ति निकाली है।

भूगोल के अध्ययन के लिए हमें यह जान लेना चाहिए कि विभिन्न देश कहाँ स्थित हैं। धरातल पर कोई ऐसा स्थान होना आवश्यक है, जिसका हवाला देकर हम यह बता सकें कि अमुक देश उस स्थान से इतनी दूर उत्तर या दक्षिण और इतनी दूर पूरब या पश्चिम है। हमारी पृथ्वी गोल है; इस कारण इसका कोई किनारा नहीं है, जिससे हम दूरी की नाप बता सकें। इसलिए हमें धरातल पर किसी ऐसे स्थान को खोजना पड़ता है, जो सदैव स्थिर रहे। पृथ्वी एक कल्पित धुरी पर निरन्तर घूमती रहती है। इस धुरी के दोनों छोर जहाँ पृथ्वी को छूते हैं, वे स्थान धरातल के अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक स्थिर प्रतीत होते हैं। भाग्य से इन दोनों स्थानों में से उत्तरवाला प्रदेश आकाश में चमकनेवाले ध्रुवतारे के ठीक नीचे रहता है। ध्रुवतारे की यह स्थिति सदैव एक-सी रहती है। इसलिए इस प्रदेश का नाम 'उत्तरी ध्रुव-प्रदेश' रख लिया गया है। दक्षिणवाले स्थान का नाम भी इसी के अनुसार 'दक्षिण ध्रुव-प्रदेश' रक्खा गया है। दक्षिण ध्रुव पर 'सदर्न क्रास' नामक तारा सदैव ठीक सिर पर चमकता है।

इस प्रकार ध्रुव-प्रदेशों की स्थिति स्थिर-सी हो जाती है। इन दोनों ध्रुवों के बीच में पृथ्वी पर एक ऐसी रेखा मान ली गई है, जो सारे धरातल को दो बराबर भागों में बाँटती है। इसे 'भूमध्य रेखा' या 'विषुवत् रेखा' कहते हैं। यह रेखा भी कल्पित है। यह पृथ्वी को जिन दो खण्डों में विभाजित करती है, उन्हें उत्तरी और दक्षिणी गोलार्द्ध के नाम से पुकारा जाता है। विषुवत् रेखा पृथ्वी के बीचो-बीच उसके चारों ओर जाती है। इस प्रकार यह रेखा पृथ्वी की परिधि की नाप का एक पूर्ण वृत्त बनाती है। इस वृत्त की लम्बाई क़रीब २५,००० मील है।

विषुवत् रेखा की सहायता से किसी स्थान की भौगोलिक स्थिति का पता लगाया जाता है। इसलिए इस रेखा को 'शून्य रेखा' माना गया है। उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव इस रेखा के किसी बिन्दु से पृथ्वी के केन्द्र पर ९०° का कोण बनाते हैं। यदि प्रत्येक अंश के कोण पर विषुवत् रेखा के समानान्तर रेखाएँ खींची जायँ तो उत्तर और दक्षिण ध्रुव तक प्रत्येक गोलार्द्ध में ९० रेखाएँ होंगी। इन रेखाओं को 'अक्षांश' के नाम से पुकारा जाता है। अक्षांश रेखा की सहायता से किसी स्थान की विषुवत् रेखा के उत्तर या दक्षिण की स्थिति मालूम हो जाती है। यदि कोई स्थान विषुवत् रेखा के उत्तर में २५वीं रेखा पर है, तो उसके अक्षांश को २५° उत्तरी अक्षांश कहते हैं। इसी प्रकार दक्षिण गोलार्द्ध में स्थित ऐसे ही स्थान के लिए २५° दक्षिण अक्षांश का उल्लेख किया जाता है। प्रत्येक दो अक्षांश के बीच के भाग को ६० बराबर भागों में विभाजित कर लिया जाता है और प्रत्येक भाग को 'पल' या 'मिनट' कहते हैं। पल को भी ६० भागों में बाँटा जाता है और प्रत्येक भाग को 'विपल' अथवा 'सैकंड' कहते हैं। इस प्रकार उत्तर-दक्षिण दोनों गोलार्द्धों में कुल १८० अक्षांश माने गये हैं। ध्रुव-प्रदेशों में ९०° सूचक अन्तिम अक्षांश रेखाएँ शून्य बिन्दु का रूप धारण कर लेती हैं।

विषुवत् रेखा को यदि ३६० बराबर, भागों में विभाजित किया जाय, तो प्रत्येक भाग पृथ्वी के केन्द्र पर एक-एक अंश का कोण बनायेगा। विषुवत् रेखा के इन बिन्दुओं

को यदि ६० अंश उत्तरी और दक्षिणी अक्षांशवाले बिन्दुओं अर्थात् ध्रुव-प्रदेशों से रेखाओं द्वारा मिलाया जाय, तो धरातल पर ३६० रेखाएँ उत्तर-दक्षिण ध्रुवों को मिलाती हुई खिंच जायँगी। ये रेखाएँ उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों पर तो एक बिन्दु में मिल जाती हैं, परन्तु विषुवत् रेखा पर सबसे अधिक अन्तर पर होती हैं। इन रेखाओं को 'देशान्तर रेखाएँ' कहते हैं। इन पर भी अंक डाल दिये गये हैं और किसी एक को शून्य मानकर अन्य रेखाओं के अंक पढ़े जाते हैं।

अक्षांश रेखा जिस तरह विषुवत् रेखा से उत्तर-दक्षिण की स्थिति बताती हैं, उसी प्रकार देशान्तर रेखाएँ विषुवत् रेखा के किसी भी बिन्दु से किसी स्थान की पूर्वीय अथवा पश्चिमीय स्थिति बताती हैं। अक्षांश रेखाएँ धरातल पर पूर्ण वृत्त बनाती हैं। परन्तु अक्षांश रेखाओं के वृत्त, जैसे-जैसे विषुवत् रेखा से उत्तर या दक्षिण को हम चलें, छोटे होते जाते हैं। ये वृत्त समानान्तर होते हैं। देशान्तर रेखाएँ सब बराबर होती हैं तथा वे अर्द्ध-वृत्त बनाती हैं। सब देशान्तर रेखाएँ लम्बाई में बराबर होती हैं, परन्तु समानान्तर नहीं होतीं। भूमध्य अथवा विषुवत् रेखा के पास उनके बीच सबसे बड़ा अन्तर होता है। उत्तर या दक्षिण की ओर यह अन्तर घटता जाता है। ध्रुवों के पास ये सब रेखाएँ एक बिन्दु में मिल जाती हैं। देशान्तर रेखाओं की संख्या ३६० है, परन्तु पृथ्वी के पूर्वीय तथा पश्चिमीय गोलार्द्धों में विभक्त होने के कारण प्रत्येक गोलार्द्ध में केवल १८० देशान्तर रेखाएँ होती हैं।

अक्षांश और देशान्तर रेखाओं की सहायता से किसी भी स्थान का पता ठीक-ठीक लगाया जा सकता है। किसी स्थान की केवल अक्षांश या केवल देशान्तर रेखा से उसका पता लगाना असम्भव होगा। यदि यह कहा जाय कि अमुक स्थान २५° उत्तर अक्षांश पर है, तो उस स्थान का पता लगाना असम्भव है; क्योंकि २५° उत्तरी अक्षांश रेखा भूमध्य रेखा से २५° उत्तर की ओर पृथ्वी के चारों ओर फैली है। परन्तु यदि यह कहा जाय कि वह स्थान २५° उत्तर अक्षांश और ८०° पश्चिम देशान्तर पर है, तो उस स्थान को ढूँढ़ने में तनिक भी कठिनाई न होगी। यह दोनों रेखाएँ जहाँ एक-दूसरे को काटती हैं, वही अभीष्ट स्थान होगा।

अक्षांश और देशान्तर रेखाओं का महत्त्व सबसे अधिक समुद्र-यात्रा करनेवाले जलयानों के लिए है। अपार जलराशि पर यात्रा करते हुए नाविक अक्षांश और देशान्तर रेखाओं की सहायता से यह पता लगा लेते हैं कि वे कहाँ पर हैं। इन रेखाओं की सहायता से वे किसी भी देश का सबसे सुगम और कम लम्बा मार्ग भी जान सकते हैं। किसी अज्ञात स्थान पर पहुँचने पर उसकी स्थिति अक्षांश और देशान्तर रेखाओं की सहायता से मालूम की जा सकती है; परंतु ऐसे स्थान की अक्षांश और देशान्तर रेखाएँ कैसे मालूम हो सकती हैं? आइए, इसकी भी युक्ति हम आपको बताएँ।

किसी स्थान का अक्षांश निश्चित करने के लिए उत्तरी गोलार्द्ध अथवा विषुवत् रेखा के उत्तरी प्रदेशों में ध्रुवतारे से बड़ी सहायता मिलती है। उत्तरी ध्रुव पर यह तारा क्षितिज रेखा से समकोण बनाता हुआ ठीक सिर के ऊपर दिखाई देता है। भूमध्य रेखा पर यह तारा क्षितिज पर दिखाई देता है। दक्षिणी गोलार्द्ध में यह तारा अदृश्य हो जाता है। इस प्रकार उत्तरी गोलार्द्ध में किसी स्थान पर ध्रुवतारा क्षितिज के साथ जितने अंश का कोण बनाता है, वही उस स्थान का अक्षांश होता है। ध्रुवतारे की स्थिति नापने के लिए 'सेक्सटेन्ट' (Sextant) नामक ऊँचाई तथा कोण नापने के यन्त्र की सहायता ली जाती है। यन्त्र के अभाव में कुछ अनुमान से भी काम लिया जा सकता है। जो स्थिति उत्तरी ध्रुव पर ध्रुवतारे की है, वही स्थिति दक्षिणी ध्रुव पर सदर्न क्रास (Southern Cross) नामक तारे की है। इसलिए दक्षिणी गोलार्द्ध में सदर्न क्रास नामक तारे की सहायता से अक्षांश का पता लगाया जा सकता है।

अक्षांश का पता सूर्य की सहायता से भी लगाया जा सकता है। २१ मार्च और २३ सितम्बर को दोपहर के समय सूर्य विषुवत् रेखा के ठीक ऊपर होता है, और ध्रुवों पर क्षितिज को छूता है। इसलिए इन दिनों सूर्य की ऊँचाई के कोण को ६० से घटाने से किसी भी स्थान का ठीक अक्षांश निकल सकता है। २१ जून को सूर्य की स्थिति दोपहर के समय २३.५° उत्तरी अक्षांश पर ठीक सिर के ऊपर होती है। इसलिए इस दिन सूर्य की ऊँचाई में २३.५° जोड़कर ६० से घटाने पर उत्तरी गोलार्द्ध के स्थानों का अक्षांश निकल आएगा। दक्षिणी गोलार्द्ध के किसी स्थान का अक्षांश निकालने के लिए इस दिन सूर्य की ऊँचाई के अंश में से पहले २३.५° घटाकर शेष को ६० से घटाना चाहिए। २२ दिसम्बर के दोपहर को सूर्य २३.५° दक्षिण अक्षांश पर ठीक सिर पर चमकता है, इसलिए इस दिन अक्षांश निकालने के लिए विपरीत क्रम रहता है। जहाज़ी पंचांगों में ऐसी सारिणी दी जाती है, जिनसे पता लगाया जा सकता है कि किस तिथि को सूर्य

किस अक्षांश पर ठीक सिर पर रहता है। उत्तरी या दक्षिणी गोलार्द्ध के अनुसार उस अक्षांश के अंशों को अज्ञात स्थान के सूर्य की ऊँचाई के अंशों में जोड़ या घटाकर फल को ९० में से घटा देने पर उस स्थान का अक्षांश ज्ञात हो जायगा।

देशान्तर रेखाओं का पता लगाने के लिए सूर्य की स्थिति से सहायता ली जाती है। देशान्तर रेखा को 'मध्याह्न रेखा' भी कहते हैं, क्योंकि इस रेखा पर स्थित सभी स्थानों पर एक ही समय पर दोपहर होता है। पृथ्वी के घूमते रहने के कारण प्रत्येक देशान्तर रेखा बारी-बारी से सूर्य के ठीक सामने आ जाती है। परन्तु प्रत्येक भिन्न देशान्तर रेखा भिन्न समय पर सूर्य के सामने आती है। इसलिए उन पर सूर्योदय और दोपहर भिन्न-भिन्न समय पर होंगे। इस प्रकार भिन्न-भिन्न देशान्तर पर प्रातः और मध्याह्न का समय भिन्न हुआ। घड़ी का आविष्कार होने पर इस बात की आवश्यकता हुई कि किसी एक देशान्तर रेखा के समय के अनुसार सारे संसार की घड़ियों का समय रक्खा जाया करे। ऐसी मध्याह्न रेखा को 'आदि मध्याह्न रेखा' कहते हैं। प्रायः सारे संसार में लन्दन के ग्रीनिच नामक स्थान से गुज़रनेवाली रेखा ही 'आदि मध्याह्न रेखा' मान ली गई है और इसी के अनुसार सारे संसार भर की घड़ियों का समय मिलाया जाता है। इस रेखा को 'ग्रीनिच देशांतर रेखा' (Greenwich Meridian) कहते हैं। इसका नाम ग्रीनिच की वेधशाला से पड़ा है। यह वेधशाला लन्दन के बाहरी भाग में बनी है।

पृथ्वी पर ३६० देशान्तर रेखाएँ खींची गई हैं। पृथ्वी अपना पूरा चक्कर २४ घंटे में लगा लेती है, इसलिए प्रत्येक देशान्तर रेखा को सूर्य के सामने आने में ४ मिनट लगते हैं। चूँकि पृथ्वी पश्चिम से पूर्व की ओर चलती है, इसलिए पूर्व की ओर के स्थानों में पहले सूर्य निकलता है। अर्थात् किसी पूर्वस्थित मध्याह्न रेखा पर उससे पश्चिमस्थित रेखा की अपेक्षा चार मिनट पहले सूर्य निकलेगा, और ४ मिनट पहले दोपहर तथा सूर्यास्त होगा। इसी प्रकार प्रत्येक १५ देशान्तर रेखाओं के पश्चात् उनके पूर्व या पश्चिमस्थित होने के अनुसार सूर्योदय, मध्याह्न तथा सूर्यास्त १ घंटा पहले या पीछे होगा। किसी नये स्थान का देशान्तर जानने के लिए ग्रीनिच के समय की आवश्यकता होती है। बहुत से जहाज़ ग्रीनिच का समय बतानेवाली घड़ी क्रोनोमीटर (Chronometer) रखते हैं। सूर्य की सहायता से प्रत्येक स्थान का मध्याह्न जाना जा सकता है। स्थानीय मध्याह्न और ग्रीनिच के समय में जितने घंटे या मिनट का अन्तर हो, उन सबके मिनट बनाकर, मिनटों की संख्या को ४ से भाग देने पर देशान्तर निकल आयगा। यदि ग्रीनिच का समय पीछे है अर्थात् वहाँ अभी दिन के १२ नहीं बजे हैं, तो निकाला हुआ देशान्तर ग्रीनिच के पूर्व में होगा। यदि ग्रीनिच का समय आगे है, अर्थात् वहाँ की घड़ी में दिन के बारह बज चुके हैं, तो निकाला हुआ देशान्तर पश्चिम में होगा।

प्रत्येक देशान्तर का भिन्न समय होने से किसी देश में जितने ही देशान्तर होंगे, उतने समय होंगे। पर यदि भिन्न-भिन्न नगर अपने-अपने स्थानीय समय को ही प्रामाणिक मानने लगें, तब तो रेल आदि का कोई सार्वजनिक काम ही न हो सके। इसलिए देश की किसी मध्यवर्त्ती मध्याह्न रेखा का समय प्रामाणिक मान लिया जाता है। रेल, दफ़्तर, आदि देश के सभी विभागों में इसी मध्यवर्त्ती मध्याह्न रेखा के समय से काम लिया जाता है। भारत में मद्रास के समय को ही प्रामाणिक मानते हैं। सभी रेलवे स्टेशनों और नगरों की घड़ियों में मद्रास का समय रक्खा जाता है। केवल कलकत्ते में इस प्रामाणिक समय के साथ-साथ स्थानीय समय का भी प्रयोग होता है। पर कनाडा आदि कुछ देशों का पूर्वी-पश्चिमी विस्तार इतना अधिक है कि उनके पूर्वी और पश्चिमी तट के स्थानीय समय में प्रायः ५ घंटे का अन्तर रहता है। ऐसे देशों में प्रामाणिक समय के कई कटिबन्ध मान लिये जाते हैं, जिससे स्थानीय समय और प्रामाणिक समय में कहीं भी आधे घंटे से अधिक अन्तर नहीं रहता है। एक महाशय ने सुविधा के लिए संसार को २४ भागों में बाँटा है। इनके अनुसार दो पासवाले भागों में ठीक एक घंटे का अन्तर रहेगा। यदि सारे संसार में यही समय-विभाग मान लिया जाय, तो भिन्न-भिन्न भागों का समय जानने में बड़ी आसानी होगी।

जिस प्रकार किसी देश में स्थानीय समयों की गड़बड़ी मिटाने के लिए प्रामाणिक समय मानने की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न राष्ट्रों में तिथि सम्बन्धी गड़बड़ी को दूर करने के लिए 'तिथि-रेखा' का निश्चित करना भी आवश्यक है। प्रति १५ देशान्तर की यात्रा में १ घंटे का अंतर पड़ते-पड़ते ३६० अंश की परिक्रमा में २४ घंटे का अन्तर हो जाता है। ग्रीनिच से पश्चिम की ओर जानेवाला जहाज़ प्रति १५ देशान्तर की यात्रा के बाद १ घंटा घटाता जाता है। इसलिए पूरी परिक्रमा (३६० अंश) में उसका १ दिन घट जाता है। पूर्व की ओर जानेवाला जहाज़

प्रति १५ देशान्तर की यात्रा में १ घंटा बढ़ा लेता है। इसलिए पूरी परिक्रमा (३६० अंश) में उसका १ दिन बढ़ जायगा। इस गड़बड़ी को दूर करने के लिए प्रायः १८०° देशान्तर रेखा अन्तर्राष्ट्रीय तिथि-रेखा मान ली गई है। पश्चिम की ओर जानेवाले जहाज़ इसी रेखा तक अपना समय प्रति १५° देशान्तर में एक घंटा घटाते हैं। इस रेखा को पार करने पर वे एक तिथि बढ़ा लेते हैं। मान लो, उन्होंने २६ जून रविवार को यह रेखा पार की, तो इस रेखा की दूसरी ओर पहुँचते ही वे २७ जून सोमवार कर लेंगे। इसके विपरीत पूर्व की ओर आनेवाले जहाज़ १८०° देशान्तर को पार करते समय एक दिन घटा लेते हैं। अगर १८०° रेखा के पश्चिम से उन्होंने २७ जून सोमवार को प्रस्थान किया, तो इस रेखा के पूर्व में वे २६ जून रविवार को पहुँचेंगे, मार्ग में उनको चाहे एक मिनट भी न लगा हो। इस रेखा को एक दिन में कई बार पार करनेवाले जहाज़ एक ही दिन में कई बार अपनी तारीख बदलते हैं। इस प्रकार बीच में तिथि बदल लेने से घर पहुँचने पर यात्रियों को वही तिथि मिलती है, जो उनके जहाज़ पर रहती है। पर उत्तर में एल्युशियन द्वीप के लोग राजनीतिक कारणों से वही तिथि रखना पसन्द करते हैं, जो एलास्का में रहती है। इसी प्रकार दक्षिण में फ़िज़ी और चैथम द्वीप भी न्यूज़ीलैंड का ही दिन रखना पसन्द करते हैं। इसलिए उत्तर और दक्षिण में अन्तर्राष्ट्रीय तिथि-रेखा कुछ टेढ़ी हो गई है, और १८०° देशान्तर से दूर भी हो गई है।

इस प्रकार अक्षांश और देशान्तर की सहायता से यात्री महासागरों और निर्जन वनों में भी अपनी ठीक-ठीक स्थिति निश्चित कर लेता है। स्थिति निश्चित करने का यह उपाय इतना सुगम सिद्ध हुआ कि जिन प्रदेशों में पैमायश न हो सकी, वहाँ अक्षांश और देशान्तर रेखाओं से राजनीतिक सीमा का भी काम लिया गया है। उदाहरण के लिए संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और कनाडा के बीच में ४९वीं उत्तरी अक्षांश बहुत दूर तक राजनीतिक सीमा बनाती है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अक्षांश रेखाएँ एक दूसरे के समानान्तर हैं। अतएव प्रति डिग्री अक्षांश के बीच का अन्तर हर जगह लगभग ६९ मील है। हाँ, चूँकि पृथ्वी बिल्कुल गोल नहीं है और ध्रुवों पर कुछ-कुछ चिपटी है, इसलिए कहीं-कहीं इस नाप में थोड़ा-बहुत फ़र्क भी है। इसके विपरीत, देशान्तर रेखाएँ असमानान्तर रेखाएँ हैं, अतएव उनके बीच का अन्तर एकसाँ नहीं है। विषुवत् रेखा पर, जहाँ पर आकर देशान्तर रेखाओं के बीच का अंतर सबसे ज़्यादा हो गया है, इस अंतर की लंबाई प्रति डिग्री लगभग ६९ मील है। किन्तु ज्यों-ज्यों हम उत्तर या दक्षिण की ओर बढ़ें त्यों-त्यों यह अंतर कम होता जाता है। ध्रुवों पर जाकर, जहाँ सब देशान्तर रेखाएँ मिलती हैं, वह अन्तर कुछ भी नहीं रह जाता। ध्रुवों और भूमध्य रेखा के बीच देशान्तर का प्रति डिग्री का अन्तर प्रति १० अक्षांश पर क्रमशः कितना कम होता जाता है, यह नीचे की तालिका में दिया जा रहा है:—

अक्षांश	देशान्तर का अंतर	सबसे बड़ा दिन		सबसे छोटा दिन	
डिग्री	मील	घं०	मि०	घं०	मि०
०	६९·२	१२	६	१२	६
१०	६८·१	१२	३८	११	३०
२०	६५·०	१३	१८	१०	५२
३०	६०·०	१४	०	१०	१०
४०	५३·१	१४	५८	९	१६
५०	४४·६	१६	१८	८	०
६०	३४·७	१८	४४	५	४४
७०	२३·७	२४	०	०	०
८०	१२·५	२४	०	०	०
९०	०	२४	०	०	०

यहाँ यह भी बता देना असंगत न होगा कि विषुवत् रेखा पर अक्षांश का एक अंश ६८·७ मील और ध्रुव-प्रदेशों में ६९·४ मील है। इसका कारण पृथ्वी का ध्रुवों पर चिपटा होना ही है।

अक्षांश और देशान्तर रेखाओं की यह योजना वास्तव में बड़ी चतुराई की योजना है। पृथ्वी के कई स्थानों का एक ही अक्षांश भले ही हो, और इसी तरह एक ही देशान्तर पर स्थित कई स्थान भी हमें मिल सकते हैं, किन्तु ऐसे दो स्थान आपको पृथ्वी पर कहीं भी नहीं मिल सकते जिनकी देशान्तर और अक्षांश दोनों एक हों। ऐसा स्थान जो भी होगा केवल एक ही होगा। अतएव पृथ्वी के किसी भी स्थान विशेष का ठीक अक्षांश और देशान्तर जान लेने पर निश्चित रूप से उस स्थान की स्थिति का निर्णय करने में किसी भी प्रकार की ग़लती होने की संभावना नहीं है। इस तरह हम देखते हैं कि भौगोलिक अध्ययन के लिए ये रेखाएँ कितनी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं!
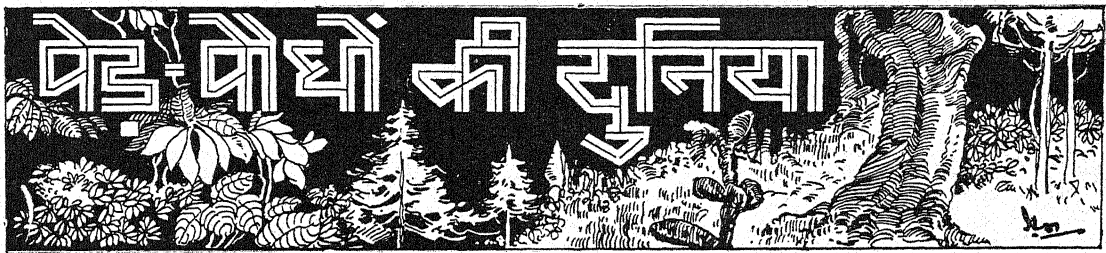
जीवन का मौलिक रूप—अथवा जीवनमूल या जीवनरस

जीवनमूल और कोश-संबंधी कुछ बातें

पिछले अध्याय में पौधों की अंग-रचना का अध्ययन करते समय यह समस्या हमारे सामने आ खड़ी हुई थी कि केवल पौधों की ऊपरी रचना की जाँच करने ही से हम उनका पूरा रहस्य नहीं जान सकते। इसके लिए हमें ख़ुर्दबीन की सहायता लेकर और भी गहरे पैठना होगा। आइए, देखें ख़ुर्दबीन इस संबंध में क्या-क्या अद्‌भुत रहस्य हमारे सामने प्रकट करता है!

पिछले परिच्छेदों में उल्लेख किया जा चुका है कि सारी जीवन-लीलाओं का केंद्र जीवनमूल ही है। प्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी हक्सले (Huxley) का कथन है कि जीवनमूल ही जीवन का भौतिक आधार है।

यह बात यथार्थ है। विचार करने से पता लगता है कि जीवनमूल ही में सजीवता के सारे गुण हैं। जीवनमूल ही में जीवधारियों की सारी प्रधानता है। इसी में उनकी सारी लीलाओं का रहस्य है। यही वह पदार्थ है, जो घटता-बढ़ता है। यही वह वस्तु है, जो उत्तेजित होती है। यही धरती के बूँद-बूँद जल और कण-कण नमकों से खाद्यरसों का शोषण करता है। यह उनको परिपक्व कर बर्त्तने योग्य बनाने-वाला तथा पचाने-वाला और पचे भोजन से अंगों की रचना करने-वाला है। इसी से श्वास चलता है। इसी से वृद्धि और उत्पत्ति होती है। सारांश यह कि जीवन-संबंधी सारी विशेषताएँ इसी विलक्षण वस्तु के गुण हैं। जीवनमूल और जीवन अभिन्न हैं। यह जीवनमूल सारी सजीव सृष्टि में अति सूक्ष्म अणुवीक्षणीय एककोशीय जीवाणु *(Bacteria)*, क्लैमाइडोमोनस *(Chlamydomonas)* तथा अमीबा *(Amœba)* से लेकर अति विशाल आम, जामुन अथवा हाथी, ह्वेल तथा स्वयं मनुष्य में एक ही रूप से विद्यमान है (चि० १)। यही कारण है कि जीवों में अनेक विभिन्नता होते हुए भी सारे प्रधान गुण एक हैं। यही उनकी एकता का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है। यह जीवनमूल क्या है, इस अध्याय में हम इसी की जाँच करेंगे।
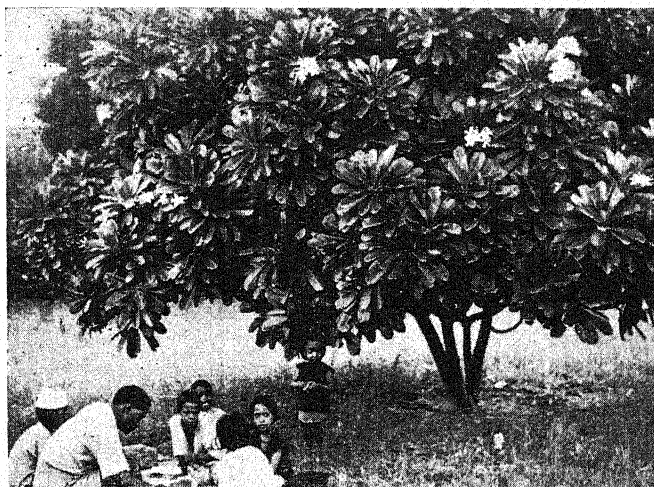
चित्र १—जीवनमूल ही जीवन का भौतिक आधार है

इस चित्र में दिखाई दे रहे गुलचीनी वृक्ष, उसके नीचे उगी हुई दूब और समीप ही पढ़ने में व्यस्त बालक आदि सभी की रचना जीवनमूल द्वारा हुई है। [फ़ोटो—श्री० राजेन्द्र वर्मा सिठोले।]

जीवनमूल के भौतिक और रासायनिक गुण

जीवनमूल की जाँच के लिए हमको ख़ुर्दबीन (चि० २) की शरण लेनी

पड़ती है। इस यंत्र से हम छोटी वस्तुएँ बढ़ाकर देख सकते हैं। हम अपने शरीर के बालों को लट्ठे-जैसे, रेत के कणों को क्रिकेट की गेंद या कैथे-सरीखे या इससे भी घटा-बढ़ाकर देख सकते हैं। इस यंत्र से हमको जीवनमूल के बारे में बहुतेरी बातों का पता लगता है।

जीवनमूल में प्रायः प्रतिशत ६० भाग पानी होता है और शेष में प्रत्यामिन (Protein) आदि। जीवन-क्रियाओं के लिए पानी बड़ी ज़रूरी चीज़ है।

स्वाभाविक दशा में जीवनमूल रंगहीन, पारदर्शी (transparent), अर्धद्रव (semi-fluid), चिपचिपा और लसलसा होता है। इसमें मधुरीन (glycerine) का जैसा गाढ़ापन है। अत्यन्त शक्तिशाली ख़ुर्दबीन से देखने पर यह दरदरा जान पड़ता है। इसमें संकोचन (contractibility), संसक्ति (cohesion), लचकीलापन (elasticity) और तनावपन होता है। इसका आसानी से थक्का (coagulation) हो जाता है। यह प्रतिक्रियाशील पदार्थ है, जो आमतौर पर २° श० से लेकर ३५° श० तक ताप में सजीव रहता है। कभी-कभी यह इससे अधिक या कम ताप में भी ज़िंदा रहता है। किसी-किसी स्थान में गंधक के चश्मों के पानी का ताप ३५° श० से कहीं अधिक होता है, लेकिन फिर भी उसमें अनेक कीटाणु रहते हैं।
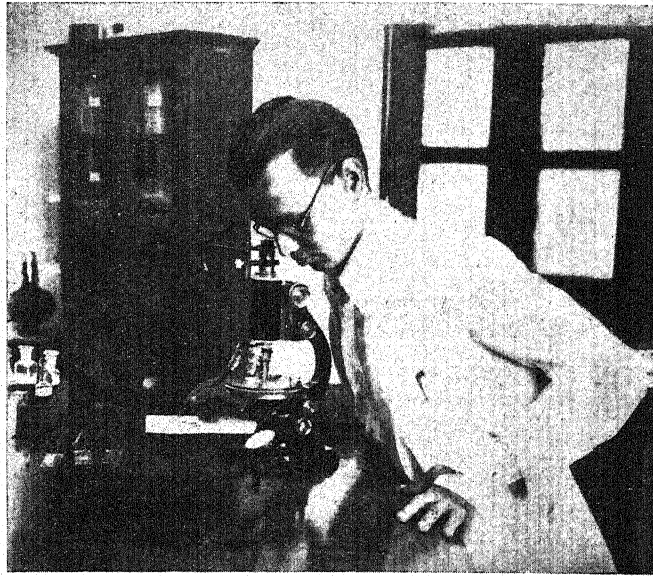
चित्र २—ख़ुर्दबीन या अणुवीक्षण यंत्र

जिसके आविष्कार से वैज्ञानिकों को मानो दिव्य दृष्टि मिल गई है, जिससे अब अति सूक्ष्म जीव-सृष्टि का भी प्रत्यक्ष दर्शन करना संभव हो गया है। [फ़ोटो—श्री० वि० शर्मा।]

विश्लेषण से पता चलता है कि जीवनमूल में कार्बन, हाइड्रोजन, ऑक्सिजन, गंधक और प्रायः फ़ास्फ़ोरस होता है। ऑक्सिजन-हाइड्रोजन इसमें उसी मात्रा में होते हैं, जिसमें वे पानी में होते हैं।

संभवतः जीवनमूल एक कलोदक्रम (colloidal system) है।

कलोदावस्था की वस्तुओं के यथार्थ महत्त्व को समझने के लिए हमको वास्तविक घुलन (true solution) और कलोद-वितरण (colloidal dispersion) के भेद का जानना आवश्यक है।

यदि हम पानी में थोड़ी-सी शक्कर या नमक डालकर हिला दें, तो ये चीज़ें पानी में मिल जायँगी और इनका घोल तैयार हो जायगा। नमक और शक्कर के कण अत्यन्त छोटे होते हैं और पानी में डालने से वे घुल मिल जाते हैं। यह यथार्थ घोल है। अगर हम शक्कर या नमक के बजाय
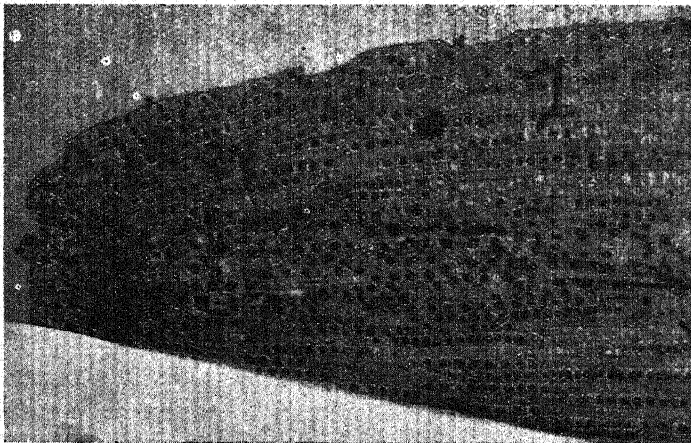
चित्र ३—प्याज की जड़ के आड़े कत्तल का फ़ोटो

यह फ़ोटो ख़ुर्दबीन द्वारा परिवर्द्धित कर खींचा गया है। इसमें जो नन्हें-नन्हें अनेक भाग दिखाई देते हैं, वही कोश हैं। [फ़ोटो—श्री० वि० सा० शर्मा।]

शुद्ध बालू या रेत लें और इसको पानी में डालकर घोलना चाहें, तो सफल नहीं होंगे। बालू के कण पानी में घुलेंगे नहीं; हाँ, ये कुछ देर तक पानी में अवलम्बित रह सकते हैं। जितने ही छोटे बालू के कण होंगे, उतनी ही अधिक देर तक वे पानी में अवलम्बित रहेंगे। यदि हम इस गँदले पानी को थोड़ी देर के लिए एक ओर रख दें, तो बालू नीचे बैठ जायगी और पानी साफ़ हो जायगा। अब अगर हम रेत के बजाय अत्यन्त महीन पिसी चिकनी मिट्टी ले लें और उसको पानी में डालकर घोल तैयार करें, तो पानी बराबर गँदला रहेगा और इसमें चिकनी मिट्टी के कुछ-न-कुछ कण बराबर अवलम्बित रहेंगे। यह कलोद-वितरण है। वास्तव में न रेत ही पानी में घुलनशील है और न चिकनी मिट्टी ही, परंतु रेत के कण बड़े होते हैं, इसलिए वे पानी में थोड़ी ही देर तक अवलम्बित रहते हैं, और चिकनी मिट्टी के कण छोटे, इसलिए वे बराबर अवलम्बित रह सकते हैं। अन्य वस्तुओं के भी ऐसे अवलम्ब-घोल बन सकते हैं। कलोदावस्था को प्राप्त
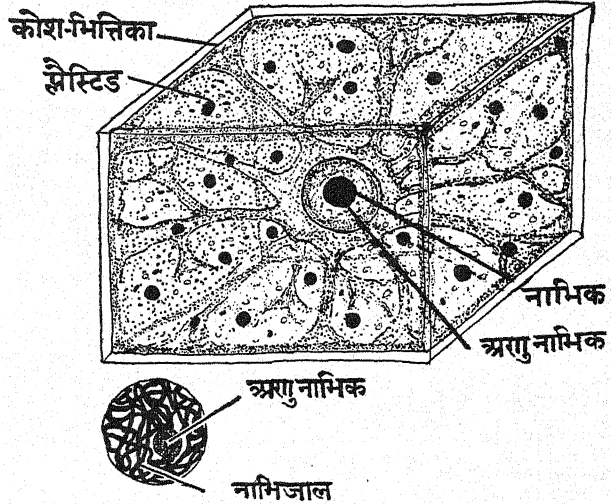
चित्र ४— जीवन की इकाई या आदर्श कोश

इस चित्र में कोश की रचना समझाई गई है। प्रत्येक कोश इसी तरह का वर्गाकार संदूक सरीखा होता है। नीचे 'नाभिक' का एक परिवर्द्धित चित्र दिया गया है। जिसमें अणुनाभिक और नाभिजाल दिखाये गये हैं। [चित्र—लेखक द्वारा।]

चित्र ५

अ—प्याज के भीतरी पर्त्त के महीन छिलके के कोश; ब—ट्रेडिशकैंशिया के लिंगसूत्र के कोश; स—क्लास्टेरियम नामक एक हरी जाति का एककोशीय शैवाल [चित्र—लेखक द्वारा।]

वस्तुओं के कण बहुत छोटे होते हैं, परन्तु फिर भी वे उतने छोटे नहीं होते, जितने कि यथार्थ घुलनशील वस्तुओं के।

कणों के छोटा होने के कारण कलोदावस्था में वितरित वस्तुओं की मात्रा थोड़ी होने पर भी जिस वस्तु में वे अवलम्बित रहते हैं, उससे प्रतिक्रियाओं के लिए बहुत बड़ा पृष्ठतल मिल जाता है। इसलिए शोषण (absorption) तथा अधिशोषण (adsorption) जैसी क्रियाओं के लिए सुगमता हो जाती है। कलोदों के अनेक उदाहरण हैं। लुवाब, अंडे की सफ़ेदी और लेई ऐसी ही वस्तुएँ हैं।

ठोस, द्रव और गैस तीनों ही प्रकार की वस्तुएँ कलोदावस्था में हो सकती हैं। धुवाँ एक प्रकार का कलोद है, जिसमें एक ठोस पदार्थ (कार्बन) दूसरे गैस पदार्थ (वायु) में अवलम्बित है। बादल एक दूसरी भाँति का कलोद है, जिसमें द्रव पदार्थ (पानी) गैस (वायु) में अवलम्बित है। रूबी ग्लास (Ruby glass) एक अन्य भाँति का कलोद है, जिसमें एक ठोस पदार्थ दूसरे ठोस पदार्थ में अवलम्बित है। यह सब एक विशेष प्रकार के कलोद हैं, जिन्हें अवलम्ब-घोल (Suspensoid) कहते हैं। इनकी विशेष प्रधानता यह है कि इस अवस्था को प्राप्त वस्तुओं के कण विद्युत्-संचारित रहते हैं।

अगर हम पानी में नारियल या रेंडी का तेल मिलाकर फेंट दें, तो एक प्रकार का कलोद बन जायगा। इसे

पायसोद (Emulsoid) कहते हैं। इस दशा में एक द्रव पदार्थ दूसरे द्रव पदार्थ में अवलम्बित रहता है। पायसोद के कणों में विद्युत्संचार बहुत ही कम रहता है। कलोदों के विषय में आपको विशेष बातों का पता भौतिक रसायन से चलेगा; यहाँ पर केवल प्रसंगवश कुछ साधारण बातों का उल्लेख किया गया है। कलोदों की प्रतिक्रिया से अनुमान होता है कि जीवनमूल की अनेक क्रियाएँ कदाचित् उसकी इसी अवस्था के कारण हैं; परन्तु जीवनमूल किस भाँति का कलोद है, हमको यथार्थ में पता नहीं।

चित्र ६

अ—हड्लिा के कोश में फिरते हुए क्लोरोप्लैस्ट्स। तीर के चिह्नों द्वारा एक क्लोरोप्लैस्ट के घूमने की दिशा समझाई गई है। ब—हाड्रिला में भरे हुए क्लोराप्लैस्ट्स। स-द—स्पायरोगायरा और यूलोथिक्स में लहरदार क्लोरोप्लैस्ट्स होते हैं। यूलोथिक्स के क्लोरोप्लैस्ट्स घोड़े की काठी की शक्ल के होते हैं (दे० द)।

कोश, नाभिक, अणुनाभिक और कोशमूल

प्राणियों के शरीर में जीवनमूल बहुत छोटी-छोटी अणुवीक्षणीय कोठरियों में बँटा रहता है (चि० ३)। खुर्दबीन से देखने से ये शहद की मक्खी या बर्र के छत्ते के समान दिखाई देती हैं। इसलिए इनको कोश (cell) कहते हैं। वास्तव में कोश वर्गाकार संदूक-सरीखे होते हैं, जिनमें ऊपर-नीचे और चारों ओर घेरे होते हैं (चि० ४)।

सजीव जीवनमूल को हम प्याज़ के भीतरी पर्त के महीन छिल्के के कोशों में (चि० ५ अ) या किसी-किसी पानी में उगनेवाले पौधे के कोशों में, अथवा साइनोटिस *(Cyanotis)* या ट्रैडिशकैन्शिया *(Tradeshcantia)* के लिंगसूत्रों के रोमकोशों में (चित्र ५ ब) शक्तिशाली खुर्दबीन से देख सकते हैं। परन्तु जीवनमूल में इतनी अधिक पारदर्शिता होती है कि उसका आसानी से दिखाई देना कठिन है। इसलिए इसकी कोशभित्तिकाओं तथा कोश के अन्दर की दूसरी वस्तुओं को स्पष्ट करने के लिए घोलों को काम में लाते हैं। टिंक्चर आयोडीन में डुबोने से यह भूरे रंग का हो जाता है, इसलिए सरलता से दिखाई देता है।

ध्यान से देखने से हमको कोश के बीचो-बीच जीवनमूल में एक गोल-गोल गाढ़ी वस्तु दिखाई देती है (चित्र ४-५)। इसे नाभिक (Nucleus) कहते हैं। नाभिक भी जीवनमूल ही है, लेकिन इसमें फ़ास्फ़ोरस का अंश अधिक होता है। नाभिक में अधिकांश भाग नाभिक रस (nuclear sap) का होता है। इस रस में एक गाढ़ी वस्तु का जाल होता है (चि० ४ अ)।

प्रायः सभी नाभिक में एक अणुनाभिक (Nucleolus) भी होता है (चि० ४)। यह अत्यंत छोटा और नाभिक से भी गाढ़ा होता है। नाभिक कोश का मुखिया है। कोश की सारी क्रियाएँ इसी के आज्ञानुसार होती हैं।

कोश के साधारण जीवनमूल को कोशमूल (Cytoplasm) कहते हैं।

कोशों में जीवनमूल स्थिर नहीं रहता, वरन् वह बराबर बहता रहता है। अक्सर हम इस घटना को देख नहीं पाते; परन्तु किसी-किसी पौधे के विशेष अंगों (जैसे ट्रैडिशकैन्शिया के लिंगसूत्र) में (चित्र ५ ब) हम इस क्रिया को अत्यन्त शक्तिशाली खुर्दबीन से देख सकते हैं। कभी-कभी जीवनमूल के साथ कोश की अन्य वस्तुएँ भी घूमती रहती हैं। इस दशा में हम इस घटना को आसानी से देख सकते हैं (चि० ६ अ)।

प्लैस्टिड्स

जीवनमूल और नाभिक के अलावा कोश में और भी अनेक वस्तुएँ होती हैं। इनमें प्लैस्टिड्स (Plastids) मुख्य हैं। ये भी एक प्रकार से जीवनमूल ही हैं। इनकी रचना पूर्ववर्ती प्लैस्टिड्स से होती है। प्लैस्टिड्स के कई भेद हैं। ये भेद इनके रंग के अनुसार माने गये हैं। सबसे अधिक महत्त्व के हरे रंग के प्लैस्टिड्स या क्लोरोप्लैस्ट्स (Chlroplasts) हैं (चि० ६)। ये पत्तियों और पेड़ के दूसरे हरे अंगों में होते हैं। इनमें पर्णहरित होता है, जिसके प्रभाव से कर्बोदेत-संश्लेषण होता है।

कोशमूल, नाभिक और प्लैस्टिड्स सभी सजीव होते हैं। ये जीवनमूल के भिन्न-भिन्न रूप हैं।

जीवनमूल की उत्पत्ति

यह अलौकिक पदार्थ जीवनमूल या जीवनरस कहाँ से आया, जीवनविद्या का यही सबसे प्रथम प्रश्न है। यही हमारी सबसे कठिन समस्या है। परन्तु इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि **जीवनरस पूर्ववर्त्ती जीवनरस से ही उत्पन्न होता है— सजीव वस्तुओं की उत्पत्ति सजीव वस्तुओं से ही होती है।**

किसी समय में इस बात पर बड़ा वादविवाद था। किसी-किसी का मत था कि अनुकूल परिस्थिति में जीवों की उत्पत्ति यों ही हो जाती है। इसके प्रमाण में वे कहते थे कि यदि मांस का टुकड़ा या और कोई ऐसी चीज़ हवा में खुली रक्खी रहे, तो उसमें तमाम कीड़े अपने आप पैदा हो जाते हैं। लेकिन जैसे-जैसे विज्ञान में तरक्क़ी हुई, लोगों का ऐसी बातों से विश्वास जाता रहा। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यकाल में कीटाणु-विद्या के जन्मदाता लुई पास्चर (Louis Pastuer) ने सिद्ध कर दिया कि जीवों की उत्पत्ति निर्जीव पदार्थों से नहीं होती। उन्होंने प्रमाणित कर दिया कि अगर शोरवा, गोश्त या दूसरी वस्तुएँ, जिनमें साधारणतया वायु में खुला रखने पर सैकड़ों कीड़े पैदा हो जाते हैं, उबालकर कीड़े नष्ट कर, हवा और दूसरी बाहरी वस्तुओं से रक्षित रक्खी जायँ, तो फिर इनमें कीड़े नहीं पड़ते। पहले लोगों ने इस पर विश्वास नहीं किया और उन्होंने इसके ख़िलाफ़ अनेक दलीलें पेश कीं, लेकिन अन्त में मानना पड़ा कि **जीवधारियों की उत्पत्ति जीवधारियों से ही होती है।**

चित्र ७
अ—रेंडी की गूदी के कोश में प्रोटीन और तेल। ब—गेहूँ के कोश में प्रोटीन और माड़ी। स—आलू के कोशों में माड़ी के दाने। द—गेहूँ के कोश में माड़ी के दाने। फ—कनेर की पत्ती के कोश के रवे। ज—प्याज की गाँठ के छिलके के कोशों में रवे।
(चित्र—लेखक द्वारा)

अब लोगों का ध्यान जीवन-संबंधी अनेक प्रश्नों की जाँच के लिए जीवनमूल की ओर आकर्षित हुआ। धीरे-धीरे यह साबित हो गया कि जीवनमूल में ही जीवन-मरण की सारी समस्याएँ केन्द्रित हैं। परन्तु फिर भी हमारी कठिनाई का अन्त नहीं हुआ। हमारा मूल प्रश्न हमारे सामने बराबर बना रहा। हमको यह पता न लगा कि सबसे पहले जीवनमूल कहाँ से और कैसे आया, अथवा पहले-पहल जीवनमूल की उत्पत्ति कैसे हुई!

संभव है, आज से करोड़ों वर्ष पूर्व आदिकाल में पृथ्वी की परिस्थिति जीवनमूल का संश्लेषण करने के अनुकूल रही हो! संभव है, प्रथम जीवाणु सृष्टि के आदि में किसी अन्य ग्रह से प्रकाश की किरणों के साथ अथवा अन्य किसी भाँति आये हों! कुछ भी हो, वर्त्तमान स्थिति

में हम जहाँ तक निश्चित कर सकते हैं, जीवों की उत्पत्ति जीवों से ही होती है। जीवनमूल ही जीवनमूल को बनाता है। यह जीवनमूल निर्जीव वस्तुओं को परिवर्तित कर अपने समान सजीव बनाता है। यह जल, वायु, नमक जैसे पार्थिव पदार्थों से जीते-जागते जीवनमूल का संश्लेषण करता है। परन्तु हम इसका संश्लेषण नहीं कर सकते।

चित्र ८—कुंड की उत्पत्ति

प्रारंभ में कोश जीवनमूल से भरे रहते हैं (चित्र में अ)। क्रमशः उनमें नन्हें-नन्हें अनेक कुंड बन जाते हैं (चित्र में ब), जिनके बढ़ने और आपस में मिल जाने से (चित्र में स) एक कुंड बन जाता है (चित्र में द)। [चित्र लेखक द्वारा।]

कोश के अन्दर की अन्य वस्तुएँ—माड़ी, प्रोटीन, तेल और रवे आदि।

जीवनमूल, नाभिक, प्लैस्टिड्स के अलावा कोशों में और भी अनेक वस्तुएँ होती हैं। इनमें प्रोटीन या प्रत्यामिन (Protein), माड़ी (Starch), चर्बी और भाँति-भाँति के तेल मुख्य हैं। इनसे पेड़ों के अंग बढ़ते हैं। यही उनकी खुराक हैं। इन्हीं को वे आपत्-काल के लिए भी संग्रह कर रखते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्यामिन अत्यन्त प्रयोजनीय खाद्य पदार्थ हैं—हमारे और आपके ही लिए नहीं, वरन् सभी जीवों के लिए। इसी से उनके अंग बनते हैं। इससे उनको सामर्थ्य भी प्राप्त होता है। गोश्त, अंडा, दूध और दालों में इसकी मात्रा अधिक होती है। यह गेहूँ तथा मक्के आदि में भी होता है। पेड़ों के कोशों में यह वस्तु दानों के रूप में दिखाई देती है (चि० ७ अ-ब)। इसका संश्लेषण और उपभोग पेड़ों में किस प्रकार होता है, हम आगे चलकर वर्णन करेंगे।

प्रोटीन की भाँति माड़ी भी अत्यन्त आवश्यक वस्तु है। जीवों के भोजन में इसका होना ज़रूरी है। उनको शक्ति इसी से मिलती है। शरीर में यह इंजिन के कोयले का काम करता है।

माड़ी का संश्लेषण पेड़ों में क्लोरोप्लैट्स करते हैं। माड़ी पेड़ों के अंगों में दानों के रूप में होती है (चि० ७ स)। माड़ी के दाने प्रायः सभी पेड़ों में और उनके प्रत्येक अंग में होते हैं; परन्तु पत्ती, जड़ों, आलू जैसे तनों और फल व बीजों में यह अधिकता से होते हैं। आलू में लगभग १०० मन में २७ मन माड़ी होती है और गेहूँ-ज्वार में इससे भी अधिक। कभी-कभी १०० मन गेहूँ या मक्का में ८५ मन तक माड़ी का भाग होता है।

चित्र ९—पपीता

इसमें पेपैन नामक एनज़ाइम होता है, जो प्रोटीन को हज़म करता है।

[फ़ोटो—श्री वि० स० शर्मा]

माड़ी के दानों के आकार और बनावट में बड़ा भेद होता है। आयोडीन के घोल में माड़ी के दाने बैंगनी या नीले हो जाते हैं। आप इसकी परीक्षा आलू और चावल, गेहूँ वग़ैरह से कर सकते हैं।

तेल और चर्बी भी परम प्रयोजनीय वस्तुएँ हैं। आर्थिक विचार से ये भी बड़े मतलब के द्रव्य हैं। ये भी खाद्य पदार्थों में से हैं। पेड़ों में ये प्रायः बीजों और फलों में होते हैं। सरसों, तिल्ली, मूँगफली, नारियल, पोस्ता, अलसी, गुल्लू आदि के तेलों को हम बराबर काम में लाते हैं। पेड़ों के कोशों में

चित्र १०—टमाटर

इसमें अनेक विटामिन होते हैं। [फ़ोटो--वि० सा० शर्मा]

तेल और चर्बी के भाग गोल-गोल बूँद-सरीखे दिखाई देते हैं (चित्र ७ अ)। कोशों में और भी अनेक वस्तुएँ होती हैं, जिनमें बहुत-सी कोशरस में होती हैं। इनमें से कुछ का हम यहाँ पर संक्षेप में वर्णन करेंगे।

कुंड (Vacuole) **और कोशरस** (Cytoplasm)

पौधों के नवल कोश (चित्र ८ अ) और जंतुओं के कोश जीवनमूल से लगभग भरे रहते हैं, लेकिन पेड़ों के पूर्ण विकसित सजीव कोशों में आमतौर पर एक कुंड होता है (चि० ८ द), जिसमें रस भरा रहता है। यह कुंड प्रायः अत्यन्त छोटे-छोटे कुंडों के एक में मिल जाने से बनता है (चि० ८ ब-द)। कुंड के चारों ओर एक अत्यन्त पतली निस्सारक झिल्ली होती है, जिसे 'कुंडझिल्ली' कहते हैं। इसी प्रकार की एक जीवनमूल की झिल्ली दीवालों के अन्दर से कोश को परिवेष्टित किये रहती है। इसे 'कोशझिल्ली' कहते हैं। यह भित्तिकाओं से सटी अन्दर की ओर होती है। पेड़ों में कोशझिल्ली और कुंडझिल्ली दोनों ही बड़े महत्त्व की होती हैं। कोश के अन्दर आनेवाली सभी वस्तुएँ निस्सरण (osmosis) से ही आती हैं और उनको कोशझिल्ली और कुंडझिल्ली में से होकर गुज़रना पड़ता है। इसलिए कोशों में वस्तुओं का आना-जाना इन निस्सारक झिल्लियों के ही अधीन है। सबसे विचित्र बात यह है कि ये किसी-किसी वस्तु के लिए प्रवेशनीय और किसी किसी के लिए अप्रवेशनीय होती हैं। कोशों के अन्दर आनेवाले रसों की मात्रा कुंडरस के समाहरण (concentration) पर निर्भर है। इसी पर कोशों का रस से भरकर फूलना या उसके निकल जाने से खाली हो मुरझाकर पिचक जाना निर्भर है। कोशरस में अनेक वस्तुएँ घुली रहती हैं। इनमें भाँति-भाँति की शक्कर और कार्बनिक अम्ल (organic acids) हैं। बहुधा कोशरस में रंग भी घुले रहते हैं।

कोशरस पेड़ों में जड़ों द्वारा आता है। यह खट्टा, मीठा, तीखा; साफ़ या गँदला; बेरंग या रंगदार; पौष्टिक या अपौष्टिक होता है। आर्थिक दृष्टि से यह बड़ी प्रयोजनीय वस्तु है। नींबू, संतरा, अनार, आम और अंगूर-जैसे फलों का खट्टा मीठा रस कोशरस ही है। जब तक यह फल कच्चे होते हैं, कोशरस का स्वाद बेमज़े रहता है; परन्तु जब फल पक जाते हैं, यह स्वादिष्ट हो जाता है। अब अनेक पक्षी और दूसरे जीव, जो कच्चे फलों के पास नहीं आते थे, उनको बड़े चाव से खाते हैं। इससे पेड़ों को बड़ा लाभ होता है। उनके बीजों का प्रसारण होता है और इस तरह पेड़ दूर-दूर देशों में फैल जाते हैं।

चुक़न्दर की जड़ के बैंगनी रस का मीठा स्वाद उसमें घुली शक्कर के कारण होता है। इससे सैकड़ों मन शक्कर तैयार होती है।

अनेक पौधों का दूध (latex) भी कोशरस ही है।
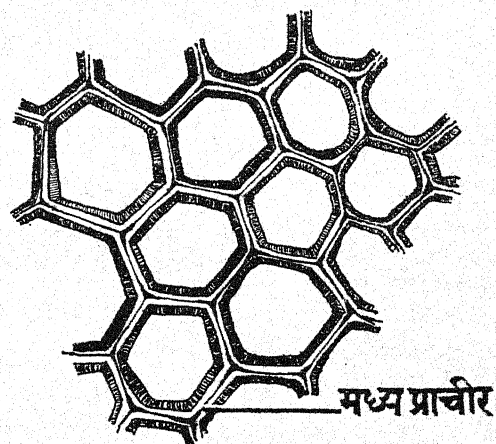
चित्र ११—कोश

रेखा-चिह्न द्वारा 'मध्य प्राचीर' दिखाया गया है। [चित्र लेखक द्वारा]

यह रस जब तक पेड़ों में रहता है, साफ़ और पतला रहता है; परन्तु पेड़ से बाहर निकलते ही गँदला और गाढ़ा हो जाता है। इस रस का रंग अक्सर दूधिया होता है, लेकिन कभी-कभी पीला, लाल या नीला भी होता है। रस का रंग और गुण उसमें अनेक छोटे-छोटे अवलम्बित कणों के कारण होता है। रबर और अफ़ीम भी इन्हीं दूधिया रसों में से हैं। ऐसे रसों की विषैली अवस्था बहुधा इनमें अवलम्बित वस्तुओं के ही कारण होती है।

पेड़ों में इस प्रकार के रस उनके बड़े काम के होते हैं। रबर के पेड़ में यह रस इसलिए नहीं होते कि लोग इनके ट्यूब-टायर बनायें या जूते और बरसाती पहनकर घूमें। वास्तव में ये रस उन पेड़ों के बड़े प्रयोजन के हैं। ये लकड़ी काटनेवाले कीड़ों से उनकी रक्षा करते हैं और घाव को भरते हैं। लकड़ी काटनेवाले कीड़े जिस समय ऐसे पेड़ों में छेद करते हैं, पेड़ से तेज़ी के साथ दूध बह निकलता है। बाहर आने पर यह दूध जम जाता है और अक्सर कीड़े इसमें फँसकर अपनी जान से भी हाथ धो बैठते हैं। दूधवाले पेड़ बहुधा भूमध्य रेखा के निकटवर्ती देशों में अधिक होते हैं।

किसी-किसी पेड़ का दूध बड़ा पौष्टिक होता है, परन्तु अधिकतर यह विषैला होता है। लंका में जिम्निमा लैक्टीफ़ेरम (*Gymnema lactiferum*) नाम का वृक्ष है, जिसके दूध को वहाँ के निवासी गाय-भैंस के दूध के समान बर्त्तते हैं। अमरीका में इसी भाँति का ग्लैक्टोडेंड्रन यूटिले (*Glactodendron utile*) नामक एक वृक्ष है, जिसका दूध भी इसी तरह काम में आता है। इस पेड़ को दुग्धवृक्ष कहते हैं।

चित्र १२—नाइटेला
शैवाल जैसा एक जल का पौधा जिसका प्रत्येक पोर (internode) लंबान में एक कोश होता है।

कितने मज़े की बात होती, अगर सभी दूधवाले

चित्र १३—कपास की एक टहनी
इसके बिनौले पर उगी रूई (कपास) के रेशे एककोशीय हैं।
[फ़ोटो—श्री वि० शर्मा]

पेड़ों के रस स्वादिष्ट दूध-जैसे होते! थके माँदे मुसाफ़िरों के लिए कितना सुभीता हो जाता! जहाँ पहुँचते, दूध तैयार मिलता। परन्तु ऐसा नहीं है। इस प्रकार के पेड़ों का रस जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, अक्सर ज़हरीला ही होता है। कितने ही पेड़ों के दूधरस प्राणघातक विष हैं। अफ़ीम जो पोस्ते के फल से निकलता है, इन्हीं में से है। कितने ही पेड़ों का रस बदन में लगते ही फफोले पड़ जाते हैं। थूहड़ का रस यदि आँख में पड़ जाय, तो बड़ा कष्ट मिलता है।

रवे (Crystals)

पेड़ों में अनेक प्रकार के रवे भी होते हैं। ये प्रायः काष्ठिकाम्ल (Oxalic acid) और कार्बोनिक एसिड के रवे होते हैं। कनेर की पत्ती के कोशों में (चि० ७ फ) ये सरलता से दिखाई देते हैं।

नागफनी की जाति के किसी-किसी पौधे में प्रायः काष्ठिकाम्ल की मात्रा इतनी अधिक होती है कि यदि कहीं यह अम्ल कोश में घुला रहता तो पेड़ जीवित न रह सकता। परन्तु ऐसा नहीं होता। पोटैशियम या कैल्शियम से मिलकर इस अम्ल के नमक बन जाते हैं, जो घुलनशील नहीं होते, इसलिए पेड़ों को हानि नहीं पहुँचाते।

रवों से मिलती-जुलती दूसरी अनेक उपोत्पादित वस्तुएँ

(by-products) हैं। वंशलोचन और रूह की भाँति की अनेक वस्तुएँ इनमें हैं। गुलाब और केवड़े-जैसे इत्र ऐसी ही वस्तुओं से, जो इन पौधों में होती हैं, बनाये जाते हैं। लौंग और इलायची के तेल और कपूर भी इसी जाति के हैं।

खालिन (Tannin), गोंद, मोम और राल भी उपोत्पादित वस्तुएँ हैं। राल चीड़ के पेड़ से प्राप्त होती है। पेड़ों में यह विशेषतर घाव भरने का काम देती है।

विटामिन्स, एनज़ाइम्स और हार्मोन्स

इन वस्तुओं के अतिरिक्त और भी कई तरह की चीज़ें पेड़ों में होती हैं। इनमें से कुछ तो ऐसी हैं कि यद्यपि ये बहुत कम मात्रा में होती हैं, फिर भी जीवों के रहन-सहन पर इनका बड़ा प्रभाव पड़ता है। वास्तव में उनकी अनेक क्रियाएँ इनके अधीन हैं। ये वस्तुएँ एनज़ाइम्स (Enzymes), हार्मोन्स (Hormones) और विटामिन्स (Vitamins) हैं। पपीते (चि० ६) में पेपैन (Papane) नाम का एनज़ाइम होता है। यह प्रोटीन को हज़्म करता है। इसलिए गोश्त को गलाने के लिए पपीते के फल के कुछ टुकड़े कभी-कभी डालकर पकाते हैं। यही कारण है कि पपीता पाचन के लिए इतना लाभकर है। मिटामिन के विचार से टमाटर (चि० ११) बड़ा उपयोगी है। इसमें कई विटामिन होते हैं, जो तन्दुरुस्ती के लिए बड़े ज़रूरी हैं।

चित्र १५—बढ़ने पर जामुन का वृक्ष

चित्र नं० १४ का छोटा-सा कोमल पौधा ही बढ़कर अब विशाल वृक्ष बन गया है। यह कैसे हुआ? यह सब जीवनमूल ही की करामात है।
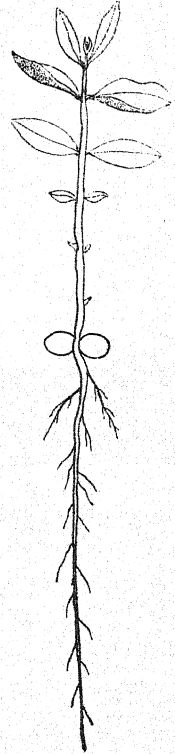
चित्र १४

(ऊपर) जामुन की बीज से उत्पत्ति· देखिए इस समय यह नवांकुरित पौधा कितना अधिक कोमल और छोटा है!

ऊपर हमने कोश की वस्तुओं का संक्षिप्त वर्णन किया है। ये वस्तुएँ दो प्रकार की हैं—सजीव और निर्जीव। सजीव वस्तुओं में जीवनमूल, नाभिक और प्लैस्टिडस हैं। निर्जीव वस्तुओं के तीन भेद हैं, पहली वे जिन्हें हम जीवनमूल की मुख्य उपज कह सकते हैं। प्रत्यामिन, माड़ी, छिद्रोज या अन्य कर्बोदेत, तेल और चर्बी आदि ऐसी वस्तुएँ हैं। दूसरी वे चीज़ें हैं, जो उपोत्पादन से

प्राप्त होती हैं, जैसे रूह, अग्ल, रवे, मोम आदि, और तीसरी वे जो अन्य वस्तुओं के विदारण से बनी हैं, जैसे गोंद।

आश्चर्य की बात है कि इन नन्हीं-नन्हीं अदृश्य कोठरियों के अन्दर कैसे-कैसे द्रव्य संचित रहते हैं! जीवनमूल के इन अति सूक्ष्म भागों में कैसी-कैसी लीलाएँ होती रहती हैं! किसी विद्वान् ने सच कहा है कि प्रत्येक कोश एक कीमियाघर है, जिसमें विश्लेषण से कहीं अधिक संश्लेषण होता है।

कोशभित्तिका

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, पेड़ों के कोश घेरे के अन्दर होते हैं। ये घेरे प्रारम्भ में छिद्रोज के बने होते हैं, जो एक प्रकार का कर्बोदेत है और इस जाति की अन्य वस्तुओं की भाँति कार्बन, ऑक्सिजन और हाइड्रोजन से बनता है।

भित्तिकाएँ ही कोश का अवलम्ब हैं। यही पेड़ों का ढाँचा बनाती हैं, इसीलिए प्रायः ये बड़ी मज़बूत और मोटी होती हैं। शीशम, सागौन, नीम तथा अन्य पेड़ों की लकड़ी; छुहारे, बेर अथवा खजूर की गुठली; अखरोट, और बादाम के छिलके और नारियल के खोपड़े, जो इतने कठीले होते हैं, यथार्थ में कोशभित्तिकाएँ ही हैं। प्रारम्भ में ये भी कोमल थे और इनके कोश जीवनमूल से भरे थे। यह जीवनमूल कोशों की बाढ़-वृद्धि में चुक गया है और इन कोशों की भित्तिकाएँ परिवर्तित हो कठीली हो गई हैं।

भित्तिकाओं का वह भाग, जिसे जीवन-रस प्रारम्भ में बनाता है, मध्य प्राचीर (Middle-lamella) कहलाता है (चि० ११)। यही कोशों को आपस में जोड़े रहता है।

कोशों के भेद और आकार

कोश अनेक प्रकार के होते हैं। कोई छोटे, कोई बड़े, कोई गोल, चौकोर या अन्य भाँति के (चि० ३-८)। आप देख चुके हैं कि क्लैमाइडोमोनस में ये नाशपाती-जैसे; प्याज़ के छिल्के में बहुकोण और ट्रेडिशकैन्शिया के लिंगसूत्रों के रोमों में गोल, तिकोने या आयताकार होते हैं। इनके और भी अनेक रूप हैं, जिनसे आप आगे चलकर परिचित होंगे। आम तौर पर सभी कोश अत्यन्त छोटे और अणुवीक्षणीय होते हैं। साधारण पत्ती में करोड़ों कोश होते हैं। आम तथा जामुन-जैसे वृक्ष में कितने कोश होंगे, यह अनुमान करना असम्भव है।

ज्योतिषशास्त्र के विद्वान् पृथ्वी से सूर्य तथा अन्य अनेक ग्रहों की दूरी के विषय में ऐसी संख्याएँ बताते हैं कि उनकी कल्पना करना कठिन है। इस ग्रंथ के द्वितीय खण्ड में ज्योतिष-स्तम्भ (आकाश की बातें) में आपने पढ़ा होगा की यदि हम साठ मील प्रति घण्टे की गति से चलनेवाली रेलगाड़ी में बैठकर सूर्य तक बिना कहीं रुके लगातार यात्रा करें, तो हमको १७५ वर्ष से कम न लगेगा। इस समय में हम सवा नौ करोड़ मील की यात्रा कर चुकेंगे। आपको इस पर आश्चर्य अवश्य होता होगा; आश्चर्य की बात भी है। परन्तु इससे भी अधिक आश्चर्य आपको होगा, यदि आप किसी साधारण पेड़—आम, जामुन, सेब आदि—के कोशों की संख्या का अनुमान करना चाहें। इस सम्बन्ध में हम केवल इतना ही कह देना चाहते हैं कि यदि सूर्य तक यात्रा करनेवाला दीर्घजीवी साहसी पुरुष सेब-जैसे एक पेड़ के कोशों की गणना करने के अभिप्राय से उसे अपने साथ लेता जाय और यदि वह एक मिनट में एक कोश भी अलग करके फेंक सके, तो पूर्व इसके कि वह ऐसे पेड़ की दो पत्ती के भी कोश अलग कर बिखेर सके, उसकी दुर्गम यात्रा का अन्तिम दिन आ पहुँचेगा!

किसी-किसी पौधे के कोश इतने बड़े होते हैं कि बिना खुर्दबीन की सहायता के भी देखे जा सकते हैं। नाइटेला (*Nitella*) (चि० १२), जो एक प्रकार का शैवालादि की भाँति का पौधा है, के कोश लगभग २ इंच लम्बे और इंच के पचीसवें भाग मोटे होते हैं। कपास या रुई के रेशे भी एककोशीय रोम हैं (चि० १३)।

विचार करने की बात है कि बड़े-से-बड़े और दृढ़-से-दृढ़ वृक्ष तथा बलिष्ठ-से-बलिष्ठ पशु अथवा स्वयं मनुष्य भी कोशों ही के समूह हैं। सभी का जीवनारम्भ एक अणुवीक्षणीय मृदुल कोश से होता है। इसी से समय पाकर उनके विशाल कलेवर बनते हैं—इसी से उनके सारे अंगों का विकास होता है। इसी एक कोश से बढ़कर आम-जामुन दीर्घकाय वृक्ष हो जाते हैं। जिस समय इनका बीज प्रगाढ़ निद्रा छोड़ अंकुर रूप में बाहर हो प्रकाश में प्रथम बार निकलता है, वह कितना मुलायम होता है (चि० १४)! तनिक धक्का लगने से ही उसकी जीवन-लीला का अन्त हो सकता है। हल्के-से-हल्के प्रहार से उसके टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं। आप चाहें तो उसे चुटकी से मसल दें। कोई भी जीव-जन्तु कीड़ा-मकोड़ा बिना प्रयास ही उसका सर्वनाश कर सकता है। परन्तु यही अंकुर समय पाकर विशाल

चित्र नं० १६—गुलाब का पौधा

इस पौधे के सुरम्य पुष्प की मृदुल पँखुड़ी, कोमल महीन पत्ती, तीक्ष्ण काँटे और कठोर तने सभी कोशों ही के बने हैं। इस तरह हम देखते हैं कि कोश ही जीवन की इकाई है। चाहे पेड़-पौधे, चाहे जानवर, सभी जीवधारियों की कलेवर-रूपी इमारत की रचना इन्हीं कोश-रूपी ईंटों से होती है। वास्तव में जीव-सृष्टि में इन कोशों की लीला सबसे अधिक आश्चर्यजनक है।

[फ़ोटो—श्री० वि० सा० शर्मा]

वृक्ष का रूप धारण करता है (चि० १५)। अनेक आँधी, तूफ़ान, भूकम्प आदि का उस पर कुछ असर नहीं पड़ता। कितने ही जीव-जन्तु उसकी शाखों पर विहार करते और उछलते-कूदते हैं, लेकिन उसकी टहनी भी टेढ़ी नहीं होती। कितने ही बलिष्ठ पशु—हाथी, घोड़े, ऊँट—अपनी सारी ताक़त क्यों न लगायें, फिर भी उसके तने को टस-से-मस नहीं कर पाते। अब पेड़ का तना डंठल नहीं रहा। अब वह सैकड़ों फ़ीट ऊँचा हो गगनचुम्बी अट्टालिकाओं से होड़ ले रहा है। अब वह छत्राकदंड के समान कोमल नहीं है, वरन् लोहे और पत्थर के समान दृढ़ हो गया है। परन्तु यह सब कैसे हुआ? इन मृदुल कोशों से इतने बड़े और सुदृढ़ वृक्ष कैसे बने? विचार करने की बात है। लेकिन फिर भी हमें अधिक दूर जाने की आवश्यकता नहीं। जीवनमूल की ओर झुकने से ही इस बात का सब भेद खुल जायगा। यह जीवनमूल स्वयं अपने रहने के लिए गृह का निर्माण करता है। इसी से प्रत्येक अंग की रचना होती है। इसी से अंगों के भाग-भाग में आवश्यकतानुसार परिवर्तन होते हैं।

आप देख चुके हैं कि जीवनमूल कोश-भित्तिकाओं से परिवेष्ठित रहता है। इन भित्तिकाओं का जीवनमूल द्वारा ही निर्माण होता है। प्रारम्भ में ये भित्तिकाएँ मुलायम छिद्रोज झिल्ली की बनी होती हैं। इनको दृढ़ करने के लिए जीवनमूल इन पर भाँति भाँति की वस्तुओं की तह जमाता है। अगले अध्याय में जब हम कोश-परिवर्तन पर विचार करेंगे, तो हमको इस विषय की कई बातों का पता लगेगा।

कोश-सिद्धान्त (Cell Theory)

जीवों की सारी क्रियाएँ कोश के अन्दर होती हैं। कोश ही जीवन की इकाई है। परन्तु आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व हमको इसका पता नहीं था। यथार्थ में जीवों की रचना के सम्बन्ध में कोश शब्द का व्यवहार भी बहुत पुराना नहीं है। सन् १६६५ ई० में राबर्ट हुक ने सर्व-प्रथम इस शब्द का प्रयोग काग (Cork) के सम्बन्ध में किया था। काग की रचना का वर्णन करते हुए मि० हुक कहते हैं कि यह छोटे-छोटे बक्सों का बना है, जिनमें वायु भरी है। परन्तु वह कोशों के यथार्थ महत्त्व को नहीं समझे। इनका रहस्य बहुत समय तक किसी की समझ में नहीं आया। कहीं जाकर गत शताब्दी के मध्यकाल के लगभग कोश के यथार्थ रूप का निर्णय हुआ। सन् १८३८ ई० में जर्मनी के उस समय के वनस्पतिशास्त्र के विख्यात विद्वान् श्लाइडेन और जन्तुविद्या के धुरंधर आचार्य श्वान को अपने-अपने अनुसन्धानों की तुलना से पता लगा कि जन्तुओं और पौधों दोनों ही की सूक्ष्म रचना सदैव कोशों से होती है। इन्होंने ही कोश सिद्धान्त का प्रकाशन किया। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक प्राणी कोशों का बना है और जीवों की बाढ़-वृद्धि इन्हीं कोशों की बाढ़-वृद्धि से होती है। इन्हीं से क्रमशः उनके सारे अंग बन जाते हैं। जीवन-विद्या का यही मूल मंत्र है और जीवों की यही प्रधान विचित्रता है।

नोटः—*'हिन्दी विश्व-भारती' के दूसरे अंक में इसी स्तम्भ के पृष्ठ १७० पर चित्र नं० १६ 'फ्यूकस' नामक शैवाल का नहीं (जैसा कि भूल से छप गया है) वरन् उसी समूह के एक अन्य शैवाल "सरगैसम" का चित्र है। पाठक कृपया इसको सुधार लें।*
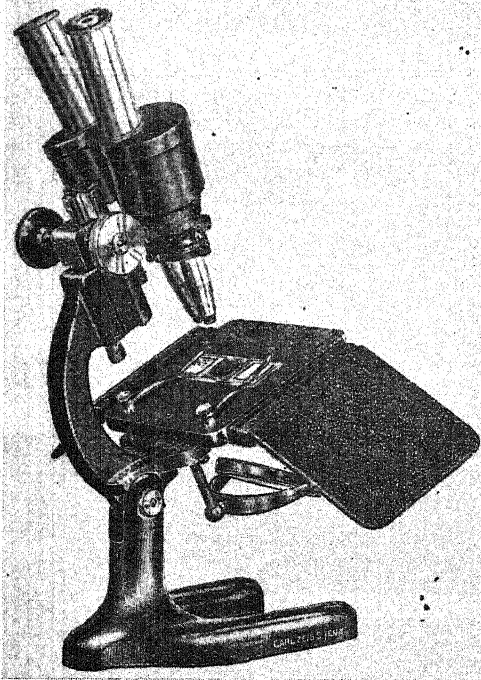
(दाहिनी ओर) ल्यूवेंनहॉक और उसका खुर्दबीन जो केवल एक आतिशी शीशे जैसा था, जिसे कि वह हाथ में लिये हुए है।

(बाईं ओर) आधुनिक सूक्ष्मदर्शक यंत्र जिससे वैज्ञानिकों को दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गई है।

(दाहिनी ओर) महान् वैज्ञानिक लुई पास्च्योर
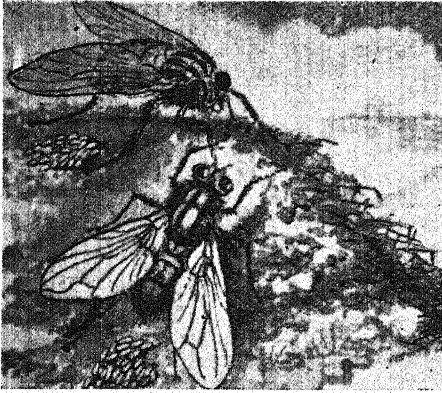
(बाईं ओर) घरेलू मक्खियाँ। (ऊपर) एक सूँड़ी।

(नीचे बाईं ओर) ढककर रक्खा हुआ गोश्त, जिसमें मक्खियों से बचाव होने के कारण सूँड़ियाँ नहीं पड़ीं। (दाहिनी ओर) खुला रहने के कारण गोश्त में सूँड़ियाँ पड़ गई हैं, जो ऊपर के कोने में दिखाई गई हैं।
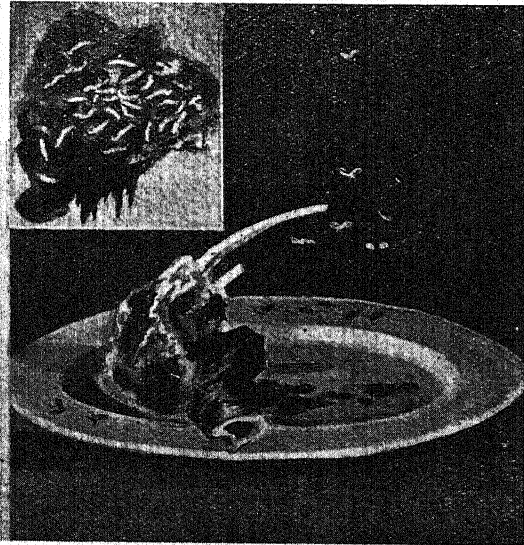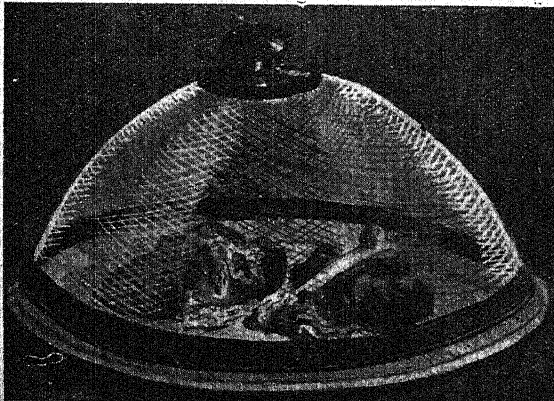
जीवन की प्रकृति और उत्पत्ति

वह कैसे, कहाँ से और कब आया ?

जीवन की पहेली अत्यंत कठिन है; किन्तु सूक्ष्मदर्शक-यंत्र के आविष्कार तथा भौतिक, रसायन, एवं भूगर्भ विज्ञान की नवीन खोजों के फलस्वरूप पिछले सौ-डेढ़ सौ वर्षों की कालावधि ही में जीवन की यथार्थ प्रकृति और उसके विकासक्रम के इतिहास के संबंध में बहुत-सी बातें प्रकाश में आई हैं। आइए, देखें इस संबंध में आधुनिक विज्ञान क्या कहता है।

पहले लेख में साधारण रूप से बताया जा चुका है कि जीवन क्या है और उसकी प्रकृति के बारे में हमारे क्या विचार हैं। अब हम आपको जीवन के उदय के विषय में कुछ बताना चाहते हैं। आइए देखें, इस समस्या पर पहले के विद्वानों का क्या विश्वास था और अब आजकल के विचारकों की क्या राय है।

प्राणी और वनस्पति कैसे पैदा होते हैं ?

आपमें से सभी जानते होंगे और बहुतों ने देखा भी होगा कि बिल्ली के बच्चे, पिल्ले, मेमने और बछड़े अपनी माता से जन्म लेते हैं। आप यह भी अवश्य जानते ही होंगे कि गेहूँ, मक्का, गाजर, मूली और गेंदे के पौधे उन बीजों से उगाये जाते हैं, जो पहले उसी जाति के उगे हुए पेड़ों से इकट्ठा किये गये थे। बहुतों ने स्वयं उन्हें उगाया भी होगा। इसलिए आप कहेंगे कि नये जीव और पेड़-पौधे अपने माता-पिता या अपने से पहले के पेड़ों के बीज से ही उत्पन्न होते हैं। यही विचार पहले के मनुष्यों का भी था, क्योंकि उन्होंने जानवरों को पालना और खेती करना बहुत पहले ही सीख लिया था। आप ही की तरह उन्होंने भी पालतू मवेशियों के बच्चे पैदा होते देखे, और पुराने फल और फूलों के बीज से नये पेड़ उगते देखे। परन्तु मक्खी, माऊँ, फफूँदी और खुम्भी या गगनधूल में क्या बात है ? क्या आप इनके सम्बन्ध में भी उतनी ही सुगमता से कह सकते हैं कि वे अपने माता-पिता द्वारा या बीजों से उत्पन्न होते हैं ? वर्षा ऋतु के आते ही सैकड़ों प्रकार के नन्हें-नन्हें कीड़े और भुनगे दिखाई देने लगते हैं। वे रात के समय घर या सड़क के चिराग़ों को हज़ारों की संख्या में घेर लेते हैं और हमारे लिए पढ़ना-लिखना तथा और काम करना दुष्कर कर देते हैं। एक ही दो पानी के पश्चात् उन खेतों, बाग़ों और चरागाहों में, जो कुछ ही दिन पहले सूखे पड़े थे, नाना प्रकार की घास और जंगली पौधे एकाएक जादू की तरह उग आते हैं, और पृथ्वी पर हरियाली-ही-हरियाली दिखाई देती है। क्या कभी आपने विचार किया है कि ये असंख्य नन्हें बरसाती कीड़े और बिना बोये ही निकलनेवाली यह घास-पात कहाँ से आई ? इनकी उत्पत्ति कैसे हो गई ? इसी प्रकार वसन्त ऋतु में झील और तालाबों के पानी में बहुत-से जीव-जीवाणु दिखाई देने लगते हैं और उनके नीचे की मिट्टी में केंचुए-जैसे कई सूँड़े और कीटाणु बन जाते हैं; किन्तु इन्हीं झीलों और तालाबों में यही जीव अन्य ऋतुओं में नाम-मात्र के लिए भी मुश्किल से दिखाई देते होंगे। वसन्त आते ही ये एकदम कहाँ से पैदा हो जाते हैं ? मांस के टुकड़े या पके हुए फल यदि सड़ने दिये जायँ, तो उनमें सूँड़ियाँ बजबजाने लगती हैं। ये उनमें कहाँ से आ जाती हैं ?

वर्षा ऋतु में नज़र आनेवाले असंख्य कीड़े-मकोड़े और जंगली पौधे, वसन्त ऋतु में तालाबों में दिखलाई देनेवाले जीवाणु तथा सड़ते हुए पदार्थों में दिखाई देनेवाले कीड़ों की उत्पत्ति हमें वैसी ही सरलता से नहीं दिखलाई पड़ती है, जैसे हम अपने घरेलू मवेशियों और उगाये हुए पेड़-पौधों की उत्पत्ति जान सकते हैं। प्राचीन मनुष्यों ने भी जब इन बातों को देखा और इन पर विचार किया, तो वे इस नतीजे पर पहुँचे कि ये सब अपने आस-पास की वस्तुओं से

या उनमें स्वयं ही पैदा होते या बन जाते हैं। उनके पास उस समय न आतशी शीशे थे, न सूक्ष्मदर्शक यन्त्र, जिनसे वे यह देख सकते कि सूँड़ियाँ सड़ते हुए मांस से नहीं पैदा होतीं, बल्कि उन सूक्ष्म अडों से पैदा होती हैं, जो मक्खियाँ वहाँ दे देती हैं। न वे इन छोटे-छोटे जानवरों और कीड़ों के आँखों के लिए अदृश्य अडों का ज्ञान प्राप्त कर पाए और न पेड़ों के उन बहुत से बीजों का ही पता लगा पाए थे, जो अनजान में ही मिट्टी में दबे रह जाते थे। अतः उनका यह दृढ़ विश्वास था कि जीव बहुत से प्राणियों में अचानक अपने आप अनैन्द्रिक पदार्थों से उत्पन्न हो सकता है। किन्तु अब सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा कोई भी देख सकता है कि वास्तव में ऊपर बताये हुए जीवों में अडे या बीज होते हैं और नये जीव उन्हीं से पैदा होते हैं। ये अडे और बीज इतने छोटे होते हैं कि मनुष्य को केवल आँख से वे नहीं दिखाई देते।

पुराने लोगों का विश्वास

यूनान देश का प्रसिद्ध प्रकृतिवादी अरस्तू (Aristotle), जो ४०० वर्ष ई० पू० अर्थात् अब से २३४० वर्ष पहले हुआ है, विश्वास करता था कि मेढक और उसकी तरह के काफ़ी ऊँची रचनावाले जीव भी दलदलों में एकाएक पैदा हो जाते हैं। इसी तरह रोम के नामी लेखक वर्जिल ने एक जगह शहद की मक्खियों को पैदा करने की विधि बतलाई है। इसी प्रकार कई शताब्दियों तक विद्वानों का यह मत रहा है कि बहुत-से जीव जैसे वे दिखाई देते हैं वैसे ही प्रकृति द्वारा गढ़े गये हैं और आप-से-आप ही वे पृथ्वी पर पैदा हो जाते हैं। यह बात उनको ऐसी स्पष्ट प्रतीत होती थी कि उनको इसके विषय में कभी भ्रम ही नहीं हुआ। यहाँ तक कि १७वीं शताब्दी के साहित्य में बहुत-से लेखों से विदित होता है कि गोबर से गुबरीले का पैदा होना, तितली-पंखफुट्टों का घास फूस या अन्य सड़े-गले पदार्थों से बन जाना, धरती से चूहों का उत्पन्न होना आदि बातों पर जो लोग सन्देह करते थे, उनका अन्य लेखक मज़ाक़ उड़ाया करते थे।

तब से अब मनुष्य का ज्ञान बहुत बढ़ गया है। आजकल छोटे-छोटे बालक-बालिकाएँ, जो स्कूलों में प्रकृति के विषय में पढ़ते हैं, अंडों और इल्लों को पालकर स्वयं ही तितली निकालते हैं। वे यह भी जानते हैं कि नन्हें-नन्हें मेढक के बच्चे, जो पहला पानी बरस जाने के बाद खेतों और बग़ीचों में कूदते दिखाई देने लगते हैं, बिल्कुल कीचड़ या गीली मिट्टी से उत्पन्न नहीं हुए हैं, बल्कि वे मछली जैसे पानी में तैरनेवाले उन छोटे-छोटे दुमदार बच्चों से बढ़ और बदलकर बनते हैं, जो अपनी मा के दिये हुए अंडों से निकलते हैं। अंडे से लेकर मेढक बनने तक की सारी अवस्थाएँ बड़ी आसानी से देखी जा सकती हैं। जीवन-विज्ञान की शिक्षा देनेवाले लगभग सभी स्कूल और कालेजों के म्यूज़ियमों में ये अवस्थाएँ हर समय देखी जा सकती हैं। यह सब होते हुए भी कितने अन्य देशों के निवासी अब भी ऐसे हैं, जो यह समझते हैं कि जब पहले-पहल वर्षा होती है, तो उस वर्षा के साथ ही वीर-बहूटी भी या तो बरसती हैं या अकस्मात् पैदा हो जाती हैं; बरसात में रक्खे हुए आटे में सूँड़ियाँ आटे में ही सील से पैदा हो जाती हैं; नाबदानों में रुके हुए पानी में मिट्टी के सड़ने से ही सूँड़े बन जाते हैं। इन लोगों का यह विश्वास उन प्राचीन लोगों की ही तरह केवल अज्ञानता के कारण है, जिनका कि विचार था कि तितली और अंखफुट्टे अडे से नहीं पैदा होते, बल्कि वे स्वयं ही बन जाते हैं।

पुराने ज़माने में लोगों का यह स्वभाव था कि वे जो कुछ और लोगों से सुनते या पढ़ते अथवा जिन बातों पर वे यक़ीन करते थे, उनकी जाँच किये बिना ही उन्हें सच मान लेते थे। उनमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण का समावेश नहीं हुआ था और न उन्होंने विज्ञान का यह मुख्य पाठ ही सीखा था कि अपने विश्वासों और मतों को स्वयं जाँच लेना चाहिए। इसलिए १७वीं शताब्दी के मध्य तक किसी का ध्यान इस ओर नहीं गया कि इस बात की परीक्षा की जाय कि सड़े हुए गोश्त में क्या सचमुच ही अपने आप ही सूँड़ियाँ पैदा हो जाती हैं। पहले पहल इस बात की जाँच करने को इटली के रेडी (Redi) नामक प्रकृतिवादी और कवि का ध्यान गया। इसका पता लगाने के लिए उसने साधारण-सी परख निकाली। उसने गोश्त के टुकड़े कई अलग-अलग बर्त्तनों में रक्खे। कुछ को खुला रहने दिया और कुछ को ऐसे कपड़े या जाली से ढक दिया कि उनमें किसी प्रकार की भी मक्खियाँ न जा सकें। तब देखा गया कि सूँड़ियाँ केवल उन्हीं गोश्त के टुकड़ों में बनीं जो खुले रक्खे थे, जिन पर मक्खियों के बैठने के लिए कुछ रोक न थी। रेडी साहब ही ने पहलेपहल यह भी पता लगाया कि ये सूँड़ियाँ ही बढ़कर मक्खी बन जाती हैं। तब रेडी ने अधिक खोज की और अडे भी देख लिये। इससे उसको पूर्ण विश्वास हो गया कि मक्खियों के दिये हुए अंडों से ही सूँड़ियाँ निकलती हैं, वे सड़े गोश्त में से नहीं बनतीं, जैसा कि उस समय के लोगों का आम विश्वास था। रेडी के इस विषय-संबंधी प्रयोगों का पूर्ण विवरण सन्

१६६८ ई० में छपा था। इसके बाद दूसरों ने भी इस बात की जाँच की और उसे सच पाया। उसी समय से सब लोग रेडी के विचारों को मानने लगे।

उस समय के लोगों का यह विचार था कि वर्षा ऋतु और वसन्त ऋतु में जो छोटे-छोटे जानवर और कीड़े-मकोड़े एकदम दिखलाई देने लगते हैं, वे अंडों से नहीं पैदा होते, बल्कि आस-पास की मिट्टी तथा अन्य वस्तुओं के सड़ने और गलने से अपने आप पैदा हो जाते हैं। उनके इस विश्वास को ऊपर लिखी गई बातों के प्रकाश में आने पर बहुत धक्का लगा। जिन वैज्ञानिकों ने इन जीवों के जीवन विशेषकर इनकी उत्पत्ति का अध्ययन किया, वे स्वयं ही जान गये कि जैसे मेढक, तितलियाँ, सूँड़ियाँ आदि मिट्टी-कीचड़ या सड़ी-गली वस्तुओं में बिना अंडों के पैदा नहीं होते, वैसे वे अन्य जीव भी, जिनका अध्ययन उन्होंने किया, बिना अंडों के उत्पन्न नहीं होते। इससे उन्होंने यही परिणाम निकाला कि जिन जीवों की उत्पत्ति का हाल वे ठीक-ठीक नहीं जानते थे, वे भी बिना अंडों के अपने आप ही पैदा नहीं होते होंगे। बरसात में अचानक दृष्टिगोचर होनेवाले तरह-तरह के जीवाणुओं तथा पेड़-पौधों के अंडे, बच्चे या बीज किसी-न-किसी रूप में पृथ्वी में पहले से मौजूद रहते हैं, तथा वर्षा होने के कारण वे तेज़ी से बढ़ने लगते हैं या उग आते हैं। इसलिए उनका यह पहले का विचार ग़लत था कि वे अपने आप ही एकाएक पैदा हो जाते हैं। सच तो यह है कि अन्य मौसमों की अपेक्षा अधिक अनुकूल जल-वायु पा जाने के कारण ही ये जंतु इन मौसमों में बहुत तेज़ी से बढ़ जाते हैं। ज्यों-ज्यों दूसरे प्राणियों पर मनुष्य का ध्यान खिंचता गया और उनके जन्म की कहानी उसको मालूम होती गई, त्यों त्यों जीवों के अपने आप पैदा होने का विश्वास उसके मन में से उठता गया।

सूक्ष्मदर्शक यन्त्र और सूक्ष्म जीवाणु

रेडी साहब के विचारों के प्रकाशित होने के ७ वर्ष बाद जब ल्यूवैनहॉक साहब ने पहले-पहल सूक्ष्मदर्शक यन्त्र बनाया, तो यह विचार फिर थोड़े दिनों के लिए लोगों के मन में जग उठा। पृष्ठ ४३४ के चित्र में पहले और अब के सूक्ष्मदर्शक यन्त्र दिखलाये गये हैं। इनमें देखने से छोटी वस्तुएँ कई गुना बड़ी दिखाई देती हैं। १०-१२ गुने से लेकर ४००-५०० गुने बढ़ाकर दिखलानेवाले सूक्ष्मदर्शक यन्त्र आजकल प्रचलित हैं। इस यन्त्र से मनुष्य की दृष्टि पहले से विस्तृत हो गई और बहुत-से ऐसे जीवाणु और **कीटाणु**, जो पहले उसके लिए अदृश्य थे, अब दिखलाई पड़ने लगे। ल्यूवैनहॉक तथा अन्य जीवन-विज्ञानवेत्ताओं ने इस यन्त्र के द्वारा छोटे-छोटे कीटाणुओं और जीवाणुओं की एक नई दुनिया खोज निकाली। बहुत दिनों तक वे इन्हीं के चिन्तन में लगे रहे। इन्हीं नन्हें-नन्हें जीवों का नाम **सूक्ष्म जीवाणु** (Micro-organisms) है, जो सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र से दिखलाई देते हैं। इन लोगों ने स्वच्छ जल के दो-एक बूँद इसी यन्त्र में देखे और उनमें कोई जीव न पाया; परन्तु उसी पानी को कई दिन रक्खे रहने के बाद जब देखा तो उसे जीवित सूक्ष्म जीवाणुओं से भरा पाया। ये जीव ऐसे साधारण और नन्हें थे कि वे जीवन की सबसे आरंभिक दशा के प्रतिनिधि जान पड़ते थे। सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र में जिस त्वरा से ये प्रकट होते थे वैसे ही लुप्त भी हो जाते थे। आप स्वयं ही इनका दृश्य सहज में देख सकते हैं। पहले आप नल के दो-एक बूँद पानी को लेकर सूक्ष्मदर्शक यन्त्र में देखिए। उनमें आपको कोई भी जीव दृष्टिगोचर न होगा। यदि आप उसी नल के पानी को काँच के प्याले में कुछ सूखी घास के टुकड़े डालकर कपड़े से ढककर रख दें और चार-छः रोज़ के बाद कपड़ा हटाकर देखें, तो आपको पानी के ऊपर एक मैल की झिल्ली-सी दिखाई देगी। अब इस झिल्ली का ज़रा-सा टुकड़ा दो-एक बूँद उसी पानी के साथ फिर इसी यन्त्र में देखिए। आप उसमें लाखों नन्हें-नन्हें बिन्दु और छोटे-छोटे तिनके-जैसे या टेढ़े-मेढ़े लकीर जैसे जीव हिलते-डुलते देखेंगे। ये जीवों में सबसे निम्न कोटि के समझे जाते हैं, और इन्हीं को हम **बैक्टीरिया** (Bacteria) के नाम से पुकारते हैं। दो-चार दिनों के पश्चात् उसी पानी और झिल्ली में प्राणियों में सब से सादा अर्थात् एककोशीय जीव **अमीबा** पैदा हो जाता है। ध्यान से देखने पर आप उसे अपने मिथ्यापादों (Pseudopodia) से धीरे-धीरे चलता-फिरता और बैक्टीरिया आदि को खाते हुए देख सकते हैं। इसके भी और थोड़े दिन बाद, अमीबा से बड़े और उसको भी खानेवाले अन्य प्रकार के एककोशीय जीव उसी पानी में आपको दिखाई देंगे। और भी आगे चलकर एक प्रकार के साधारण बहु-कोषक जीव, जिनको हम **रोटीफ़र** (Rotifer) या चक्रधारी कीटाणु कहते हैं, नज़र आयेंगे। इससे आपको ज्ञात हो जायगा कि घास-फूस या पत्तों को स्वच्छ पानी में भिगोये रहने से नाना प्रकार के साधारण जीव उत्पन्न हो जाते हैं। साथ ही आप इस प्रयोग से यह भी जान पायेंगे कि साधारण-से-साधारण जीव से एक के बाद दूसरे जीव किस प्रकार अधिक जटिल होते जाते

हैं। जब अमीबा के खाने के लिए बैक्टीरिया उत्पन्न हो जाते हैं, तभी अमीबा का जन्म होता है; फिर उसके बाद उसको खानेवाले अन्य जीव बनते हैं, और तदनन्तर इन जीवों को खानेवाले 'रोटीफ़र' पैदा होते हैं।

पहले के लोगों में जिन्होंने सूक्ष्मदर्शक यन्त्र में शुद्ध जल, रुका हुआ जल, घास और पत्तों को भिगोया हुआ जल आदि देखा होगा, उनको भी सूक्ष्म जीवाणुओं का ऐसा ही दृश्य दिखाई दिया होगा। उन्होंने जब देखा कि साफ़ पानी में कुछ दिनों बाद बैक्टीरिया आदि सूक्ष्म जीव उत्पन्न हो जाते हैं, तब वे सोचने लगे कि ये कहाँ से आये? परन्तु इसका कारण उनकी समझ में नहीं आया और वे पुनः कहने लगे कि उनका जन्म अपने आप हो जाता है। जिस बात को वे पहले नन्हें-नन्हें जीव, कीड़ों या मकोड़ों में लागू समझते थे और बाद में जिसको ग़लत समझने लगे थे, उसे वे फिर उनसे भी बहुत छोटे जीवों पर, जो सूक्ष्मदर्शक यंत्र में ही देखे जा सकते थे, लागू करने लगे। पर थोड़े ही दिनों बाद उनका यह विश्वास भी ग़लत सिद्ध हो गया।

स्वयं-जनन में अविश्वास

१८ वीं शताब्दी के समाप्त होने के पूर्व सन् १७७५ ई० में स्पैलेनज़ानी नामक वैज्ञानिक ने दिखा दिया कि सूक्ष्म-दर्शक से दिखाई देनेवाले छोटे जीवों का भी जन्म अपने आप नहीं होता। इसके बाद एक और प्रसिद्ध जीवन-विज्ञान-वेत्ता पासच्योर ने प्रयोग द्वारा स्वयं-जनन की जाँच की। उन्होंने कुछ बर्त्तनों को इतना खौलाया कि उनमें किसी प्रकार के कीटाणुओं, अंडों, बच्चों आदि का जीवित रहना असम्भव हो गया और तब उनके अन्दर मांस तथा अन्य सड़नेवाली वस्तुओं को इस प्रकार बन्द कर दिया कि उनमें बाहर की दूषित वायु न जा सके। ऐसा करने पर उन वस्तुओं में बहुत दिनों तक किसी प्रकार के जीवाणु न बने और न वे वस्तुएँ सड़ीं ही। इसी प्रकार गर्म किये बर्तनों में स्वच्छ जल रख देने से न तो उसमें बैक्टीरिया ही बने, न कोई और जीव। उसमें फफूँदी भी नहीं आई। उन्होंने इस प्रकार के लगातार कई प्रयोग किये और सन् १८६६ में पक्के तौर पर साबित कर दिखाया कि घास-पात को भिगोनेवाले पानी में अथवा मांस या फल आदि के सड़ने में जो जीव उत्पन्न हो जाते हैं, वे अपने आप नहीं पैदा होते। हवा के द्वारा उनके अंडे, स्पोर (Spores), या बीज सड़नेवाली चीज़ों में या शुद्ध पानी में पहुँच जाते हैं और भिगोये जानेवाली सूखी घास पर भी इनके स्पोर
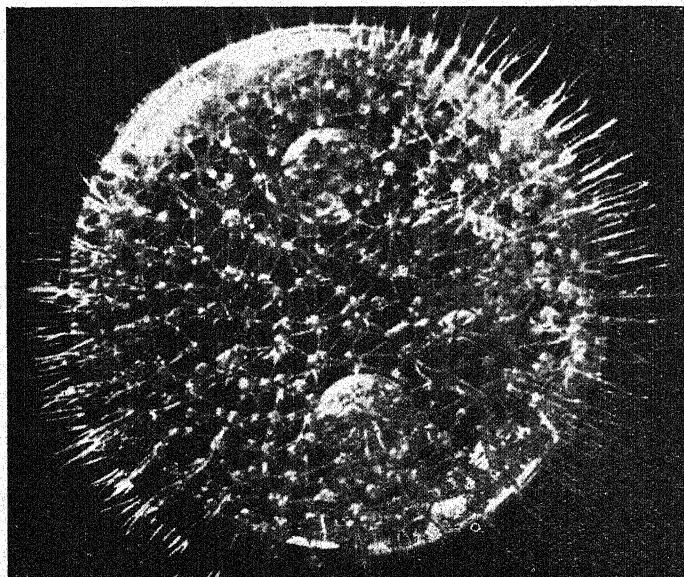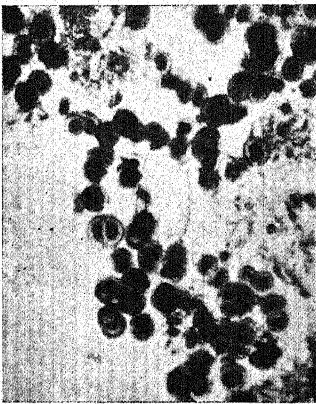
सबसे निम्न कोटि क सूक्ष्म एक-कोशीय वनस्पति और जीव

ऊपर ग्लैओकैप्सा (Gloeocapsa) नामक अतिसूक्ष्म एककोशीय शैवाल (algae), जो सबसे सूक्ष्म वनस्पतियों में से एक हैं। (दाहिनी ओर) जीव-जगत् का सबसे सूक्ष्म और निम्न कोटि का सदस्य प्रोटोज़ोआ (Protozoa)। ये दोनों इतने सूक्ष्म हैं कि बिना सूक्ष्मदर्शक के नंगी आँखों से नहीं दिखाई देते।

और बीज अवश्य ही अदृश्य रूप में ऐसे चिपटे रहते हैं कि उन्हें हम सहज में नहीं देख सकते। इन्हीं से ये सब जीव एक के बाद दूसरे अपने-अपने समय पर उत्पन्न होते चले जाते हैं। भोज्य पदार्थों के बिगड़ने का कारण यह है कि उनमें जीवित कीटाणु पड़ जाते हैं, जिससे उनमें खमीर उठने लगता है या वे सड़ जाते हैं। ये तीन जाति के हैं—फफूँद (भुकड़ी), खमीर और बैक्टीरिया। इनमें से एक या अधिक जातियों के रहने से भोज्य सामग्री बिगड़ने लगती है। ये करोड़ों की संख्या में सब जगह उपस्थित रहते हैं। ये पानी में हैं, जिसे हम पीते हैं; हवा में हैं, जिसमें हम साँस लेते हैं; और पृथ्वी पर हैं, जिस पर हम चलते हैं। फफूँद को छोड़कर ये सब इतने छोटे हैं कि बिना खुर्दबीन के देखे नहीं जा सकते। साधारण पौधों और इन फफूँद, खमीर आदि में अंतर यह है कि इनमें हरे पौधों की तरह हवा और पृथ्वी से भोजन खींचने की शक्ति नहीं होती। इसलिए वे दूसरे पौधों या जानवरों के मांस से अपना भोजन चूसते हैं। इन तीनों प्रकार के सड़ानेवाले जीवों में से कुछ को मारने के लिए थोड़ी गर्मी की आवश्यकता है, कुछ को उनसे ज़्यादा, और कुछ को मारने के लिए बहुत ही ज़्यादा गर्मी की आवश्यकता होती है। बैक्टीरिया तथा उनके बीजों को मारने के लिए सबसे अधिक ताप की आवश्यकता है। बहुत-से बैक्टीरिया और उनके बीज खौलते पानी के तापक्रम तक गर्म कर देने से नष्ट हो जाते हैं; परन्तु बहुधा ऐसे बैक्टीरिया भी होते हैं, जिनके बीज खौलते पानी के तापक्रम को भी सहन कर सकते हैं। उनको नष्ट करने के लिए १५०° फ़० तक गर्म करना पड़ता है।

पानी से भीगने पर सड़ी हुई घास-पात और पोखरों के स्थिर जल में पाये जानेवाले कुछ क्षुद्र जीव

(१) पाँच प्रकार के बैक्टीरिया; (२) अमीबा और उसके मिथ्या पाद; (३) पेरामीसियम या फिसलनेवाला एककोशीय जीव; (४-५) दो प्रकार के रुएँदार एककोशीय जीव (Giliates); (६-७) दो प्रकार के सबसे साधारण बहुकोशीय चक्रधारी जीव (Rotifers) [चित्र—लेखक द्वारा।]

इन सूक्ष्म जीवों को गर्म करके मारने या बढ़ने से रोकने की पासच्योर साहब की तरकीब या रीति आजकल व्यापार तथा औषधियों आदि में बहुत काम आती है। इसकी दो रीतियाँ हैं। एक को हम कीटाणु-निश्चेष्टकरण अर्थात् पासच्योराइज़ेशन (Pasteurisation) कहते हैं, क्योंकि इसे पहले-पहल पासच्योर साहब ने ही निकाला था। इस रीति का उपयोग दूध, दही, मलाई के संरक्षण में किया जाता है, जिससे वे अधिक समय तक ठहर सकें। दूसरी रीति कीटाणु-नाशन (Sterilisation) है, जिसमें सामग्री इतनी अधिक गर्म की जाती है जिससे कि सब जीव मर जायँ और यदि इस के बाद उसको बर्त्तन में रखकर इस प्रकार गर्म किया जाय कि हवा द्वारा नए बैक्टीरिया, फफूँद या खमीर के बीज उसमें न पहुँच सकें, तो वह सामग्री बहुत दिनों तक अच्छी

बनी रहती है। फलों तथा शर्बतों आदि के संरक्षण के लिए आजकल यही तरीक़ा काम में लाया जाता है। जितनी ही सावधानी से ये वस्तुएँ कीटाणु-रहित की जायँगी, उतने ही अधिक समय तक अच्छी बनी रहेंगी। ऐसे प्रयोगों से स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि यदि कीटाणु-विहीन की हुई खाद्य सामग्री में हम कीटाणु या उनके बीज का पहुँचना असम्भव कर दें, तो फिर नये कीटाणु कदापि उत्पन्न न हो सकेंगे। तब हमें इन सूक्ष्म जीवों में स्वयं-जनन होने का विचार त्यागना पड़ता है। सूक्ष्मदर्शक यंत्र हमें नन्हीं चीज़ों की २००० या ३००० गुना तक बड़ा करके दिखाते हैं, लेकिन फिर भी दुनिया में ऐसे नन्हें जीवाणु हैं, जिन्हें हम सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से भी नहीं देख पाते। हम सभी चेचक की बीमारी को जानते हैं और यह भी मानते हैं कि वह छूत की बीमारी है; किन्तु अभी तक काफ़ी जाँच होने पर भी कोई वैज्ञानिक या डाक्टर यह नहीं पता लगा सके हैं कि यह रोग किन कीटाणुओं के कारण होता है—यद्यपि यह सब मानते हैं कि उसका कोई विशेष कीटाणु अवश्य ही होगा। कदाचित् चेचक के कीटाणु इतने छोटे हैं कि अभी तक मनुष्य अधिक-से-अधिक प्रयत्न करने पर भी उनको देख नहीं सके हैं। वैज्ञानिक अध्ययन से यह बात मालूम हुई है कि हैज़े के जीवाणु ऋषीकेष के उत्तर में गंगा की असली धार में जीवित नहीं रह सकते। जान पड़ता है कि वहाँ के पानी में हैज़े के जीवाणुओं से भी छोटे जीवाणु हैं, जो उनको नष्ट कर देते हैं। कई अमरीकन तथा अन्य वैज्ञानिकों ने इन जीवाणुओं का पता लगाने की कोशिश की, परन्तु वे उसमें सफल न हुए, क्योंकि यदि कोई ऐसे जीव गंगा के उद्गम के निकटवाले जल में हैं तो वे इतने छोटे हैं कि महीन-से-महीन छन्नों में से वे निकल जाते हैं, फिर खुर्दबीन से दिखलाई देने की तो बात ही दूर रही। अतः जो कुछ हम ठीक रूप से कह सकते हैं यही है कि हम एक भी स्वयं-जनन का उदाहरण नहीं जानते और अभी तक हमें एक भी ऐसा पुराने जीवित या मृत जीव का नमूना नहीं मालूम है, जिसके विषय में हम यह समझ लें कि वह स्वयं पैदा हुआ होगा। तब भी हमें विश्वास करना ही पड़ता है कि अगर जीव को किसी अलौकिक शक्ति ने नहीं रचा, तो वह पहलेपहल किसी अनैन्द्रिक पदार्थ से स्वयं ही बना होगा। यह हमारी ही पृथ्वी पर पैदा हुआ या उसके बाहर, इस पर हम आगे विचार करेंगे। यह तो निश्चित है कि पृथ्वी पर उसका प्रवेश उसी समय हुआ होगा, जब यहाँ पर जीवन-मूल या प्रारम्भिक रूप के जीवों के रहने के योग्य अवस्था हो गई होगी। यहाँ पर हमें फिर अपनी लाचारी को मानना पड़ता है कि हम यह नहीं बतला सकते कि जीवन का विकास सबसे पहले कैसे हुआ।

क्या जीव पहलेपहल पृथ्वी पर किसी दूसरे आकाशपिण्ड से आया?

कुछ लोगों का विचार था कि हमारी पृथ्वी पर प्रथम जीव आकाश के किसी दूसरी दुनिया से ब्रह्माण्ड सम्बन्धी धूल या टूटनेवाले नक्षत्रों (उल्काओं) के उन टुकड़ों के साथ आया, जो बहुधा ग्रहों से टूटकर झड़ते रहते हैं। लेकिन यह बिल्कुल असम्भव जान पड़ता है, जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं कि ग्रहों से झड़े हुए टुकड़े या धूल से टूटनेवाले तारे बड़ी ही तेज़ी से गिरते हैं और वायुमण्डल में से गुज़रने पर उनमें इतनी रगड़ लगती है कि वे गर्मी से दहकने लगते हैं। अगर कठोर गर्मी सहनेवाले बैक्टीरिया या उनसे भी सूक्ष्म जीव अथवा उनके बीज, जो बहुत तीव्र ताप भी सहन कर सकते हों (जैसा हम ऊपर के पैराग्राफ़ में कह आये हैं), उन आकाशीय ग्रहों या उल्काओं पर रहे भी हों, तब भी यह मानना बहुत कठिन है कि पृथ्वी तक की इतनी लम्बी यात्रा में और फिर इतनी तेज़ गर्मी में वे मर न गये होंगे। सूर्य-जैसे अन्य नक्षत्र अब भी इतने गर्म हैं कि उन पर किसी भी प्रकार के जीव जीवित नहीं रह सकते। हमारी पृथ्वी एक ग्रह-सम्प्रदाय की सदस्य है। इस प्रकार के और भी ग्रह-सम्प्रदाय इस विस्तृत ब्रह्माण्ड में हैं, परन्तु वे संख्या में बहुत कम हैं। उनमें भी ऐसे बहुत कम हैं, जिनका ताप ऐसा हो जिसमें जीवन सम्भव हो। नक्षत्रों के चारों ओर घूमनेवाले ग्रह यदि नक्षत्रों के बहुत ही निकट हैं, तो उनमें गर्मी के कारण जीवन असम्भव होगा और यदि अधिक दूर हैं, तो उनमें सर्दी के कारण जीवन असम्भव हो जायगा। इससे ज्ञात होता है कि जीवित पदार्थ विश्व के बहुत छोटे-से अंश में ही हो सकते हैं। सर जेम्स जीन साहब की गणना के अनुसार यह अंश समस्त विश्व के $\frac{1}{1000000000}$ (एक अरब का एक अंश) भाग से भी कुछ कम ही है। सूर्य की वर्त्तमान स्थिति पृथ्वी के लिए बहुत ही उपयुक्त है। इससे न अधिक सर्दी मिलती है, न अधिक गर्मी। क्रमशः पृथ्वी और ठंडी होती जायगी और मुमकिन है कि कभी एक ऐसा समय आ जाय जब यहाँ जीवों का रहना असम्भव हो जाय और धीरे-धीरे करके सभी जीव इस संसार से विलीन हो जायँ। मंगल ग्रह पृथ्वी से सूर्य की अपेक्षा अधिक दूर है।

संभवतः उसमें जीवन का विकास हमारी धरती से पहले हुआ होगा। यदि वास्तव में ऐसा हुआ होगा, तो वह अब ठंडा होता जाता होगा और जीवों की संख्या भी वहाँ घटती जा रही होगी। हमारी दुनिया पर प्रलय हो जाने के पश्चात् शायद शुक्र पर जीवन के उदय की बारी आवे; क्योंकि पृथ्वी के बाद यही सूर्य के सबसे निकट है।

पृथ्वी पर जीव का जन्म कैसे हुआ ?

यदि जीव अन्य ग्रहों से नहीं आया, तो फिर अवश्य ही वह यहीं बना होगा। इसलिए आइए, अब हम इस बात का विचार करें कि उसका आरम्भ कैसे हुआ ? जीवन-शास्त्रवेत्ताओं की आम राय यह है कि पृथ्वी की बाल्यावस्था में पहला जीवनमूल या जीवन-पदार्थ अनैन्द्रिक अवयवों से या उनके संगठन से ही बना होगा। यह निश्चित है कि ऐसी नाज़ुक घटना ऐसे समय में हुई होगी, जब पृथ्वी की अवस्था आजकल से बहुत विभिन्न रही होगी, वरना आज भी वैसा ही होता। आपने पृथ्वी के जन्म की कहानी इसी ग्रन्थ के अन्य स्तंभ में पढ़ी होगी और उससे आप यह जान गये होंगे कि पृथ्वी अपनी पिघली हुई प्रारम्भिक अवस्था से लाखों वर्ष में धीरे-धीरे ठंडी होते-होते वर्त्तमान अवस्था में पहुँची है और प्रतिदिन ठंडी ही होती जा रही है। इसलिए जीवन-मूल (जो न कड़ी गर्मी सह सकता है, न कड़ी सर्दी) की उत्पत्ति तभी हुई होगी, जब पृथ्वी के धरातल की ऊपरी तह का ताप उसके योग्य हो गया होगा। भौतिक विज्ञान-वेत्ता हमें बतलाते हैं कि गर्म नक्षत्रों की वायु में उद्‌जन (Hydrogen) बहुत होती है और जब वे ठंडे होने लगते हैं, तो उन पर कार्बन भी बड़ी मात्रा में मिलने लगता है। उनमें ओषजन भी रहती है। यही हाल पृथ्वी की पिघली हुई दशा में भी रहा होगा। ज्यों-ज्यों वह ठंडी होने लगी होगी, ओषजन और उद्‌जन के संयोग के कारण बहुत-सी बाष्प बन गई होगी और ओषजन तथा कार्बन के संयोग से बहुत ही अधिक मात्रा में कार्बन द्वयोषिद बन गई होगी। ज्यों-ज्यों पृथ्वी और ठंडी हुई, उसकी ऊपरी तह जमकर ठोस हो गई। इस कड़ी धरती के ऊपर भाफ ठंडी होकर जमकर पानी होने लगी होगी और कुछ समय बीतने पर गड्ढों और खोखलों में इस पानी के इकट्ठे होने में झील और समुद्र बनने लगे होंगे। उस समय वर्षा भी अत्यन्त अधिक होती होगी। इस पानी में वायु से कार्बन द्वयोषिद और धरती से थोड़ा-बहुत अमोनिया तथा अन्य साधारण नमक घुलकर मिल गये होंगे; क्योंकि वह पानी कार्बनिकाम्ल की उपस्थिति से हल्का आम्लिक रहा होगा। उस समय हमारी नवजात पृथ्वी की सतह गर्म और नम रही होगी और उसका ताप अधिक घटता-बढ़ता न होगा, क्योंकि उसका वायुमंडल घनी भाफ से भरा हुआ होगा। उसके ऊपर के पानी में कार्बन द्वयोषिद की अधिकता के अतिरिक्त अमोनिया के रूप में नोषजन और हवा से खींचा हुआ थोड़ा-बहुत स्फुर तथा अन्य अनैन्द्रिक मिश्रण भी रहे होंगे, जिनकी मात्रा नित्य ही बढ़ती जाती होगी। प्रयोगों से पता लगता है कि ऐसी अनुकूल दशा में चीनी तथा दूसरे जटिल ऐन्द्रिक मिश्रण बन जाते हैं। वैज्ञानिक रीति से यह सम्भव है कि ऐसी दशा में सूर्य की गर्म किरणों की शक्ति के बाष्पयुक्त वायु में बुझने तथा कार्बनिक मिश्रणों एवं खनिज लवणों तक पहुँचने से उनके नाना प्रकार के मेल हो गये होंगे। इस प्रकार बने हुए मिश्रण कुछ कम टिकाऊ होंगे और कुछ अस्थिर रहे होंगे। उनके टूटने और पुनः संयोग से पहले से और भी जटिल मिश्रण बनते गये होंगे और एक दिन ऐसा आया होगा जब कि वे सब वस्तुएँ, जो जीवन-मूल के लिए आवश्यक हैं, एक मिश्रण में इकट्ठी हो गई होंगी और जीवन-पदार्थ बन गया होगा। इस प्रकार जो प्राथमिक जीव बना, वह सागरों के ऐन्द्रिक पदार्थों को चूसकर ही बढ़ता रहा होगा। कुछ समय बाद उनके भोजन प्राप्त करने का यह साधन समाप्त हो गया होगा और तब जीवन-पदार्थ अपना भोजन सीधे कार्बन द्वयोषिद, पानी तथा अनैन्द्रिक नमकों के साधारण तत्त्वों से प्राप्त करता होगा। इस रीति से भोजन ग्रहण करने के लिए सूर्य के प्रकाश की आवश्यकता पड़ती होगी और यह प्रकाश केवल जल की तह पर या उसके निकट रहनेवाले जीवों को ही मिल सकता था। इस प्रकार पहली वनस्पति की रचना हुई होगी। कुछ समय बाद ये भी मरने लगे होंगे और बैक्टीरिया तथा फफूँदी जैसे जीवों के लिए सामग्री तैयार हो गई होगी और अन्त में सर्वसाधारण जानवर बन गये होंगे।

जीवन के आरम्भिक काल में वनस्पतियों का ही पहले पैदा होना ज़रूरी था, जिससे कि आगे बननेवाले जीवों के लिए खाद्य पदार्थों की कमी न रह जाय। ये प्रारम्भिक वनस्पतियाँ जल के भीतर घुले हुए नमकों को चूसकर तथा सूर्य की किरणों से काम लेकर उनका भेदन करके अपने शरीर की सामग्री तैयार करती रही होंगी, जैसे वर्त्तमान पेड़-पौधे भी करते हैं। वे अपने शरीर से नोषजनीय कूड़ा-कर्कट आदि बाहर नहीं निकाल पाती होंगी। शायद इसी से वे अचल और सुस्त बनी रहीं। इसके विपरीत साधारण-से-साधारण जन्तु का भोजन कार्बोज (माड़ी और शर्करा) और प्रत्यामीन अथवा प्रोटीन है, जो आरम्भ में उन्हें उद्भिजों से ही

मिल सकता था। इसके बाद जब अन्य बड़े जीव बने तो वे फिर केवल वनस्पतियों पर ही निर्भर न रहे होंगे, वरन् दूसरे छोटे-छोटे जीवों को खाकर भी जीवन व्यतीत कर लेते होंगे, जैसा कि आपको आज नित्य ही दिखलाई पड़ता है। आरम्भ में जो थोड़े-से जन्तु बने, वे भी पेड़-पौधों की तरह सुस्त और बहुत कुछ स्थिर-से थे। कदाचित् इसी कारण उन्हें मल-मूत्र-विसर्जन की अधिक आवश्यकता न थी। गतिवान् प्राणियों को "चल" तथा गतिहीन प्राणियों को "अचल" कहते हैं। अतः चराचर शब्द से सम्पूर्ण जगत् का बोध होता है। आरम्भ में जीवन की दशा ऐसी थी, जिससे कि चल और अचल में भेद करना असम्भव-सा रहा होगा। अनेक युगों तक सारी पृथ्वी जल से ढकी रही और उस आदि-युग के चराचर जीव केवल बहनेवाली हरियाली या काई और एककोशीय अमीबा-जैसे प्राथमिक जीव ही रहे होंगे, जो सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से ही
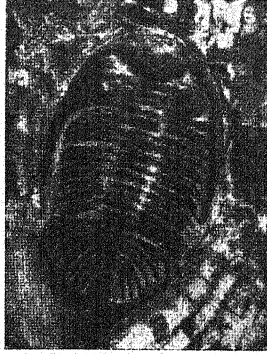
देखे जा सकते हैं। परन्तु समय बीतने पर धरती धीरे-धीरे सिकुड़ती गई और समुद्र की तह कहीं ऊँची और कहीं नीची हो गई, तथा उसमें कहीं-कहीं चट्टानें भी बनने लगीं। धीरे-धीरे सूखी धरती निकल आई और किनारों पर रहनेवाले जल-जीवों में से कुछ को इस सूखी धरती पर रहने के योग्य बनना पड़ा। इसी प्रयास में बहुतेरे जीव नष्ट हो गये होंगे। जो दो-चार जीव उस भूमि पर रह सकने योग्य हो गये होंगे, उन्हीं से आगे चलकर अन्य थलचरों का विकास होता गया।

प्राथमिक जीव पृथ्वी पर कब हुए होंगे ?

पृथ्वी पर जीवन कैसे और कहाँ से आया, यह हम आपको बतला चुके हैं। अब हम आपका ध्यान अपने लेख के शीर्षक के तीसरे प्रश्न (जीवन की उत्पत्ति कब हुई) की ओर ले जाना चाहते हैं। जैसा हम ऊपर कह आये हैं, जिस समय ये आदि-जीव समुद्रों में बन रहे थे, उनकी तहों में घुली हुई मिट्टी-बालू इत्यादि बढ़ती
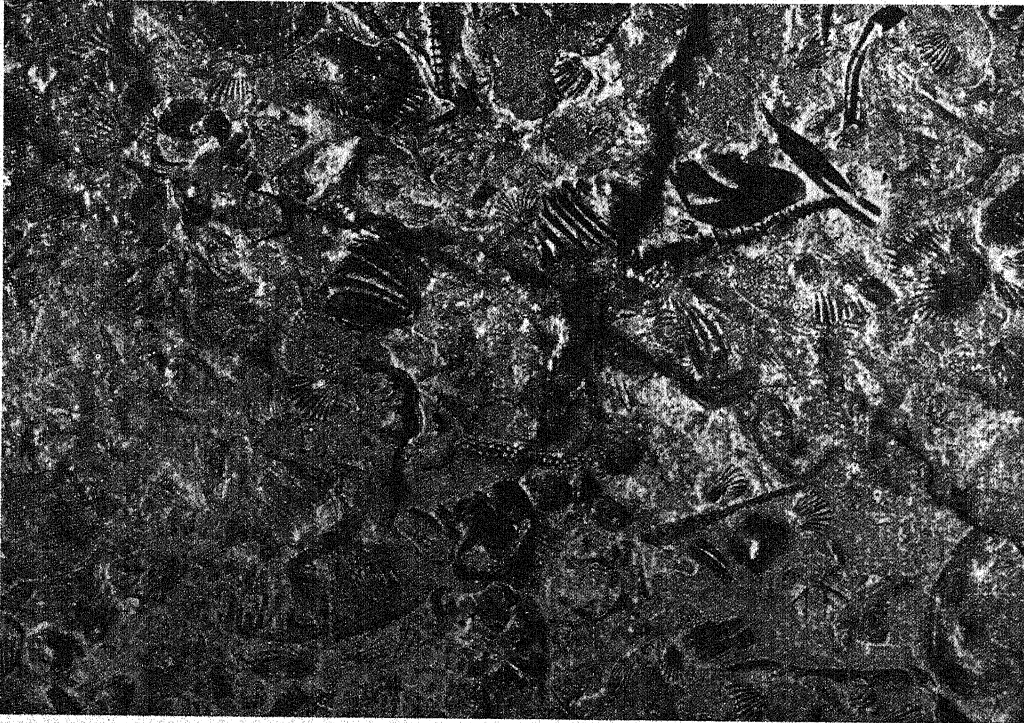
सिलूरीयन युग की प्रारंभिक चूने की चट्टानों में झींगे, केकड़े आदि जैसे त्रिखंडी व अन्य क्षुद्र जीवों के प्रस्तर-विकल्प (ऊपर के छोटे चित्र में) एक प्रस्तरीभूत त्रिखंडी। [फ़ोटो—'जियालाजिकल सर्वे]

पृथ्वी की डायरी या नोटबुक के कुछ पृष्ठ

जिन पर समय-समय के जीवों के अवयवों का लेखा प्रकृति ने अंकित कर दिया है। अभी इस रहस्यपूर्ण डायरी के न जाने कितने पन्ने चट्टानों के गर्त में छिपे पड़े हैं!

जाती रही होगी और जब नई सूखी धरती भूचालों के कारण ऊपर को उठती आती होगी, तो उसमें से भी मिट्टी, बालू, कंकड़ आदि वर्षा द्वारा बहकर आते होंगे। इन सबके समुद्र की तहों में जमने से चट्टानें बन गईं। इसी प्रकार जन्म-जन्मांतरों से एक के ऊपर दूसरी चट्टानें बनती चली आई हैं। इनकी बनावट को ध्यानपूर्वक देखने से विद्वान् लोग गणना करके इनकी आयु (अर्थात् उनके बनने के समय) का अनुमान कर सकते हैं। भूचालों से ज़मीन बहुत बार ऊपर की ओर उठ चुकी है। इस धरती तथा पहले के सागरों के सूख जाने के कारण बहुत-सी जल-मग्न चट्टानें ऊपर उठ आईं और हमारे स्थल का भाग बन गई हैं। इनको खोदने से मनुष्य ने इनकी बनावट की गहराई और मोटाई का पता भी लगा लिया है। इसका विस्तृत वर्णन क्रमशः आप 'पृथ्वी की रचना' शीर्षक स्तम्भ में पढ़ेंगे।

पृथ्वी की नोटबुक

इन चट्टानों की तहें ज्यों ज्यों जमती जाती थीं, या यों कहिए कि जब ये चट्टानें बन रही थीं, तब तत्कालीन जल में रहनेवाले पौधे और जीव मर जाने पर समुद्र की तलछट में दब जाते होंगे। इनमें से बहुतेरे गल और सड़-कर लापता हो गये, परन्तु कुछ ऐसी जगह दब गए, जहाँ जल्दी ही चट्टान कठोर हो गई और वे उसमें सुरक्षित बने रहे। इस प्रकार गड़े हुए प्रारम्भिक पेड़-पौधों तथा जीव-जन्तुओं में से बहुतेरे सूक्ष्म प्राणी, जिनके शरीरों के अवयव कोमल थे तथा जिनकी रक्षा के निमित्त शंख, सीपी जैसे कवच, तथा (मछली के छिन्ने या मगर की ऊपरी कड़ी खाल की भाँति) कड़ी खाल न थी, चट्टानों के बोझ और दबाव से चकनाचूर हो गये। किन्तु ऐसे जीव, जिनमें ऊपर कहे हुए कड़े भाग थे, चट्टानों में दब जाने पर जैसे-के-तैसे सुरक्षित बने रह गये और कहीं-कहीं पथरा गये। इस तरह उनके चिह्न चट्टानों में सदा के लिए अंकित हो गये हैं। इन्हीं को हम प्रस्तर-विकल्प कहते हैं।

पहले पहल मनुष्य ने अपनी आवश्यकताओं के लिए जब पत्थर काटे, तो उनमें ये चिह्न मिले। तब उसका ध्यान इनकी खोज की ओर आकर्षित हुआ। अब तो ऐसे बहुत-से प्रस्तर-विकल्प खोज लिये गये हैं, जिनसे हमें पता चलता है कि भिन्न-भिन्न युगों में बननेवाली भिन्न-भिन्न चट्टानों में किस प्रकार के जीव मिलते थे। प्रस्तर-विकल्पों से युक्त ये चट्टानों के पर्त्त प्रकृति की नोटबुक के एक प्रकार के पन्ने हैं, जिन पर प्रकृति ने उस समय के जीवों के अवयवों के चिह्न अंकित कर दिये हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि पृथ्वी अपनी इन तहों में बीते हुए जीवों की एक डायरी बनाती गई। इस डायरी के पृष्ठों का कुछ हाल हम अपने अगले लेख में बतलायेंगे।

सबसे प्राचीन चट्टानों में हमें किसी प्रकार के भी जीव का चिह्न नहीं मिला है। इसीलिए इनको जीवन विहीन चट्टान कहते हैं। इनके बाद की अत्यंत प्राचीन तहयुक्त चट्टानों में, जो समुद्र की तह में तलछट बैठकर बनने-वाली चट्टानों में सबसे पहली हैं, कुछ सबसे नीची श्रेणी के वनस्पति और जीवों के चिह्न मिले हैं, परन्तु वे बिल्कुल ही अस्पष्ट हैं। उनसे यह अवश्य कहा जा सकता है कि जिस समय ये चट्टानें बन रही थीं, उसी समय या उसके भी पहले प्रारम्भिक जीव का विकास हुआ होगा। वैज्ञा-निक यह मानते हैं कि इन चट्टानों की सर्वप्रथम तहें लगभग डेढ़ अरब वर्ष और सबसे पिछली ७० करोड़ वर्ष पुरानी हैं। इन चट्टानों से भी बाद की प्राथमिक युग की सबसे प्रारम्भिक चट्टानों में एक प्रकार के जीव के बहुत-से स्पष्ट प्रस्तर-विकल्प मिले हैं। ये जीव झींगे, केकड़े, बिच्छू आदि जीवों के समूह से नाता रखते हैं। ये जीव काफ़ी उन्नतिशील जीवों में से हैं। इन्हें हम त्रिखंडी जीव (Trilobites) कहते हैं। यदि जीवों की उत्पत्ति स्वयं-जनन द्वारा उपरोक्त वर्णित विधि से हुई है तो हम बेखटके यह मान सकते हैं कि जीवन मूल के पृथ्वी पर पहले पहल प्रकट होने के समय से इन त्रिखंडी जीवों के बनने में उतना ही समय लगा होगा, जितना कि इन त्रिखंडी जीवों के आरम्भ से अब तक बीता है। अतः जीवन की प्रार-म्भिक उत्पत्ति का समय हमें अब से डेढ़-दो अरब वर्ष पीछे ले जाता है। स्वर्गीय गौड़ साहब ने 'विज्ञान हस्तामलक' में लिखा है कि 'ऐसा जान पड़ता है कि जब समुद्र का जल गर्मी के पचपनवें दर्जे तक ठंढा हो गया, उस समय इस धरती पर पहले-पहल जीवन का उदय हुआ होगा। आज से इस घटना को हुए कितने वर्ष हुए यह कहना बहुत मुश्किल है। वैज्ञानिकों का मत इस विषय में एक नहीं है। परन्तु यह अन्दाज़ा किया जाता है कि जीवन का पहला उदय इस ब्रह्मांड में एक अरब वर्ष से भी पहले हो चुका होगा, और उस उदय से चराचर संसार के वर्त्त-मान ढंग के विकास तक पहुँचने में और आदिम मनुष्यों तक की सृष्टि के होने में कई करोड़ वर्षों से लेकर लगभग १ अरब वर्षों तक का अन्तर पड़ा होगा! हिन्दुओं के मत के अनुसार भी जीवन का विकास २ अरब वर्ष पहले से शुरू हो चुका है।"

मनुष्य
की कहानी
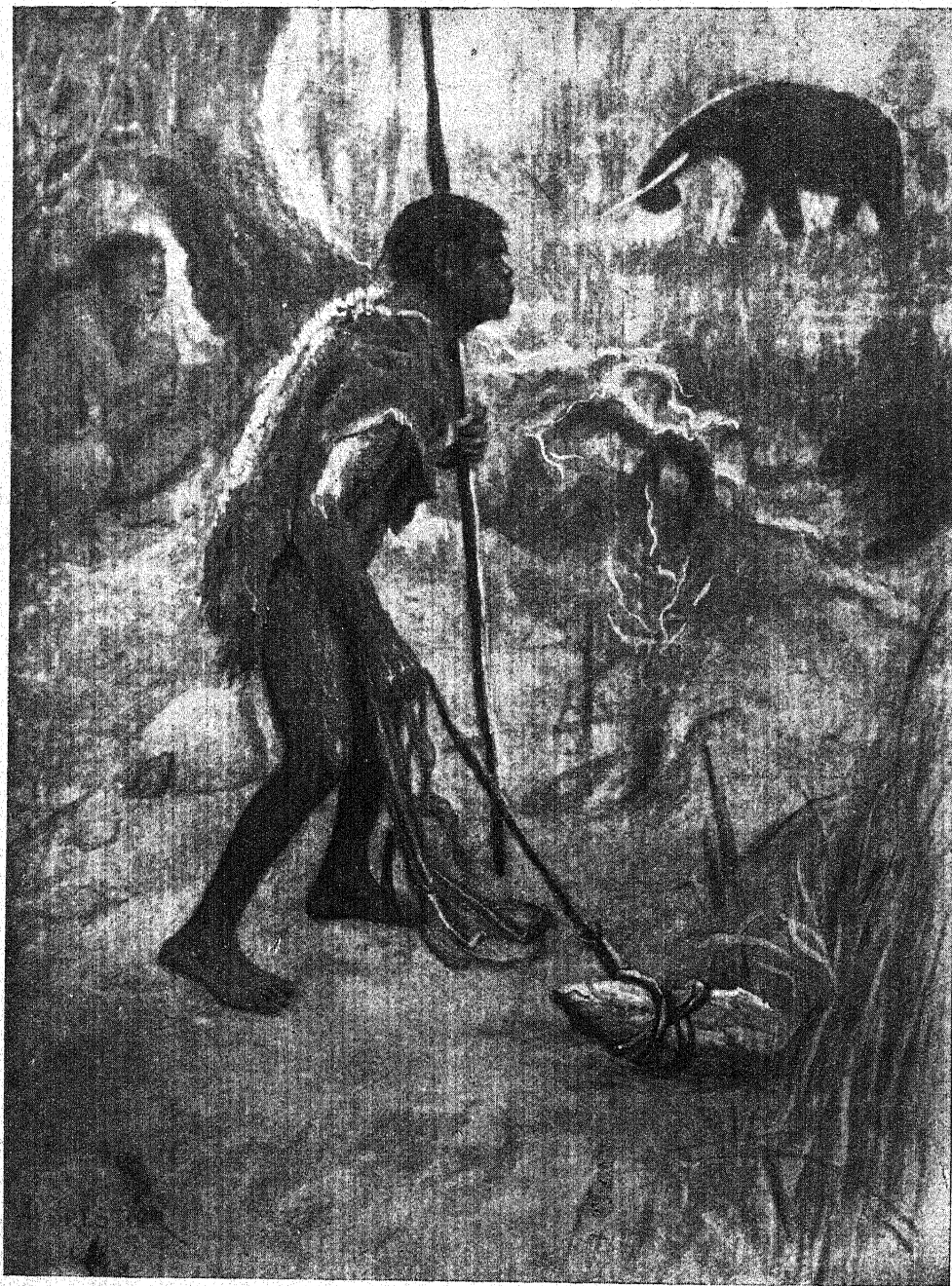
इओएनथ्रॉपस डॉसनाई या पिल्टडाउन उप-मनुष्य के जीवन की एक झलक

[यह कल्पित चित्र प्रसिद्ध चित्रकार फ़ोरेस्टियर द्वारा बनाया गया है]
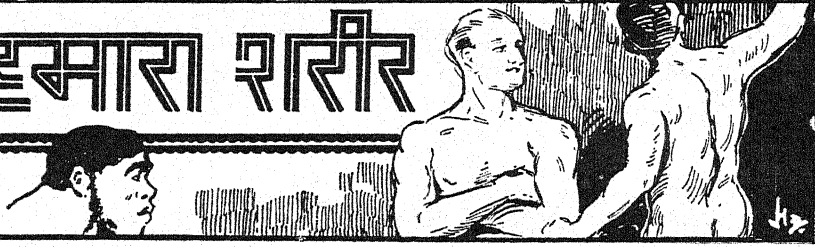
हमारे अत्यन्त प्राचीन पूर्वज (१)

वानर-मानुष या उपमनुष्य

मनुष्य की उत्पत्ति कैसे, कब और कहाँ हुई, इस अत्यंत विवादात्मक प्रश्न की भूलभुलैया में भटकते हुए हम अब उस स्थिति पर आ पहुँचे हैं, जहाँ आज से कुछ लाख वर्ष के ऐसे मानवसम जीवों के प्रस्तरीभूत अवशेषों से हमारी भेंट होती है, जिन्हें हम एकबारगी ही आधुनिक मानव की श्रेणी में तो नहीं रख सकते, फिर भी जिनमें मानव के रूप और गुण स्पष्ट रूप से उदय होते हुए पाते हैं। आइए, इस लेख में उन्हीं से आपका परिचय कराएँ।

पिछली शताब्दी में मनुष्य की उत्पत्ति पर बहुत-कुछ विचार हुआ है, लिखा भी गया है, तथा विद्वानों में इस विषय पर काफ़ी बहस भी हुई है, परन्तु उनमें अभी तक मतभेद है। यह सही है कि हाल के वर्षों में मनुष्य की उत्पत्ति के विषय में हमें बहुत-सी नई बातें मालूम हुई हैं और हमारे ज्ञान की वृद्धि हुई है। इसकी मनोरंजक कहानी बहुत-सी पुस्तकों में लिखी गई है। परन्तु ऐसी लगभग सभी पुस्तकें अंग्रेज़ी या अन्य विदेशी भाषाओं में ही लिखी गई हैं और उनकी भाषा इतनी कठिन है कि विद्वानों के ही समझने योग्य है। इन लेखों में हम हाल के अनुसंधानों के द्वारा प्राप्त नये ज्ञान को सरल रूप में व्यक्त करने का प्रयत्न करेंगे और आशा है कि इन बातों को इस रूप में समझना पाठकों के लिए आसान होगा। वास्तव में, यह विषय बड़ा ही कठिन है ; क्योंकि जब हमें लगभग ३ हज़ार वर्ष से पहले के ही लिखित इतिहास का ठीक-ठीक पता नहीं है; तो फिर मनुष्य की कहानी तो लाखों वर्ष पुरानी है! वास्तव में हमारे सबसे प्राचीन ग्रन्थ—वेद, पुराण आदि—भी तो कुछ हज़ार वर्षों से पहले के नहीं हैं।

लिखित इतिहास से पूर्व

ऊपर उल्लिखित काल के पहले भारतवर्ष का इतिहास बहुत-कुछ अंधकारमय है। हाँ, पूर्वी भूमध्य-सागर के निकटवर्ती देशों के निवासियों, विशेष रूप से बैबीलोनिया और मिस्र के निवासियों, के इतिहास का लगभग ६ हज़ार वर्ष तक का पता चला है। वहाँ के निवासी उस समय अक्षरों द्वारा तो लिख-पढ़ नहीं सकते थे, किन्तु वे अपने समय के महापुरुषों का चरित्र और तत्कालीन क़ानूनों को चिह्नों और चित्रों द्वारा पत्थरों की पट्टियों पर चित्रित कर गये हैं। हम लोग आज दिन छापेखाने, टाइप-राइटर, फ़ाउन्टेनपेन आदि लिखने की आधुनिक सुविधाओं के इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि हमारे लिए यह कल्पना करना भी कठिन है कि प्राचीन मनुष्यों को अपने विचारों को लिपिबद्ध करने का ढंग सोचने में कितनी कठिनाइयाँ पड़ी होंगी। काग़ज़ और क़लम से पहले मनुष्य पत्तों और भोजपत्रों पर तथा उससे भी पहिले पत्थर, मोम, और मिट्टी के बर्त्तनों या ईंटों पर लिखते थे। अक्षरों के आविष्कार के भी पूर्व चित्रों द्वारा मनुष्य अपने विचारों को प्रकट करते थे, जैसा कि इस ग्रंथ के पिछले खण्ड में 'साहित्य-सृष्टि' शीर्षक स्तंभ में आपने पढ़ा होगा। ७-८ हज़ार वर्ष से अधिक पहले के मिस्र के इतिहास का भी कोई पता नहीं लगता। उससे पहले हमें ऐसे कोई भी चिह्न, चित्र या लेख नहीं मिलते हैं कि जिनसे हमें उन १० लाख वर्षों का पता लगे, जो आधुनिक मनुष्य की आयु मानी जाती है। फिर मानवसम वानर की उत्पत्ति तो हमें लगभग १ करोड़ वर्ष पीछे ले जाती है! अतएव इस लंबे समय का पता लगाना कितना असम्भव है! आज दिन मनुष्य को जो रूप, आकार या सामर्थ्य प्राप्त है, उन्हें पाने में वास्तव में उसे करोड़ों जन्म-जन्मांतर लग गये होंगे।

इससे साफ़-साफ़ समझ में आ जाता है कि मनुष्य की उत्पत्ति की खोज हमें उस अंधकारमय युग में ले जाती है, जो किसी भी प्रकार के लिखित इतिहास से कहीं पीछे छिपा हुआ है। पिछले कुछ हज़ार वर्षों से, जब से मनुष्य को अपने अर्जित ज्ञान का लेखा छोड़ जाने की युक्ति मिल

गई है, हमें अपने पूर्वजों का ब्योरेवार हाल मिल रहा है, किन्तु पृथ्वी पर जिस समय कोई भी ऐसा बुद्धिमान् मनुष्य न था, जो अपने विचार कहकर या लिखकर अपनी सन्तान के लिए छोड़ जाता, उन दिनों की तथा उससे भी सहस्रों-लाखों वर्ष पहले का हाल जानना हमारे लिए किस प्रकार सम्भव है ! सौभाग्य से हाल ही में मनुष्य की बुद्धि ने धरती की कोख में एक और तरह से लिखे हुए इतिहास का पता लगाने का एक उपाय खोज निकाला है, जिससे कि आदि-मनुष्य तथा अन्य जानवरों के इतिहास के सदियों से खोये हुए अध्यायों के दो-चार पृष्ठों का पता उसे लग गया है। मनुष्य के प्राचीन पूर्वज अन्य जानवरों की तरह अपने अस्थि-पंजर तथा खोपड़ियाँ एवं उनके साथ ही साथ काँसे, पत्थर तथा चकमक पत्थर के हथियार अपनी रहने की गुफाओं, पास के दलदलों अथवा नदी की तहों में छोड़ मरे हैं। उनके ये निशान समय के प्रभाव से वहीं-के-वहीं दबकर धरती या चट्टानों के भीतर पहुँच गये और नष्ट होने से बच गये। यही लेखा है, जिसे वे पृथ्वी के गर्भ में दबा हुआ छोड़ गये हैं। मनुष्य का ध्यान इन आलेखों को पढ़ने और समझने की ओर कैसे आकर्षित हुआ, इसका हाल बड़ा रोचक है; परन्तु यहाँ उसके वर्णन के लिए स्थान नहीं है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उस ज़माने का हाल जानने के लिए हम इन्हीं बची-खुची वस्तुओं पर निर्भर हैं।

गुफाओं के प्रारम्भिक निवासी

प्रस्तर-विकल्प कैसे बने ?

इतिहासकारों के लिए यह अच्छा ही हुआ कि गुफाओं या कन्दराओं तथा जंगलों के निवासी इन मानवीय पूर्व-पुरुषों को आजकल की-सी सफ़ाई पसन्द न थी। वे अपने रहने के गड्ढों और गुफाओं में झाड़-पोंछ नहीं करते थे। इसलिए अपने चूल्हे और खाना पकाने की जगह के आस-पास वे अपने भोजन का बचा-खुचा भाग—जैसे खाये हुए जानवरों की हड्डियाँ—और बेकार औज़ार वहीं छोड़ गये। ये चीज़ें समय बीतने पर आस-पास की गर्द-धूल या वर्षा अथवा बाढ़ से बही हुई रेती और गुफाओं में ऊपर से गिरी हुई मिट्टी तथा चट्टानों के टुकड़ों से दब गईं। ज्यों-ज्यों उनके ऊपर पत्थर और मिट्टी की तहें जमती गईं, वे सतह के नीचे होती गईं। कहीं-कहीं ये गुफाएँ इसी प्रकार एक के ऊपर दूसरी तह जमने से ऊँची भी होती गईं। यह भी समझ में आता है कि इन गुफाओं में निवास करनेवाले आदि-मनुष्य अचानक तूफ़ान, बाढ़ अथवा भूकम्प के आ जाने से जीवित ही जहाँ-के-तहाँ दब गये होंगे, अथवा वे उसी नदी में, जिसके तट पर वे रहते होंगे, डूब गये होंगे, या मृत्यु हो जाने पर नदी में फेंक दिये गये होंगे। इस तरह वहीं इनके अस्थि-पंजर दब गये और उनके सड़ने-गलने से पहले ही उन नदियों की तह पत्थर और चट्टान बनकर सूखी तथा ऊँची हो गई और इनके शव प्रस्तर-विकल्प बन गये। यह भी हो सकता है कि इन मनुष्यों ने अपने मुर्दे स्वयं ही गुफाओं में गाड़ दिये हों। याद रहे कि पृथ्वी की तहों में भूचालों तथा अन्य प्राकृतिक घटनाओं द्वारा बहुत-कुछ परिवर्त्तन हुआ है और अब भी होता रहता है। बहुत-से भाग जो, एक समय समुद्र में डूबे हुए या नदी और झीलों के नीचे छिपे हुए थे, अब उठकर ऊपर आ गये हैं। इसी तरह बहुत-से भाग, जो स्थल के ऊपर थे, दबकर नीचे चले गये। आप लोगों में से बहुतों ने देखा या सुना होगा कि पिछले बिहार के भूचाल में कितने ही स्थानों में भूमि फट गई और ऊँची-ऊँची अट्टालिकाएँ तक उनमें धराशायी हो गईं।

प्रस्तर-विकल्प की आयु कैसे जानी जाती है ?

इसी तरह ये गुफाएँ और ज़मीन की तहें इन दबे-दबाये स्मारक-चिह्नों समेत ज़मीन के अन्दर सैकड़ों फ़ीट नीचे घुस गईं। इनमें से बहुतेरी अभी तक वहीं हैं और कुछ फिर थोड़ी-बहुत ऊपर आ गई हैं। सौभाग्यवश दुनिया के भिन्न-भिन्न भागों में मनुष्य की जिज्ञासा ने अपने फावड़े द्वारा कहीं-कहीं इन दबे-दबाये चिह्नों को खोद निकाला है। प्राचीन मनुष्य-सम्बन्धी ऐसे जो-कुछ चिह्न हमें मिले हैं, उन्हीं से हमने उनका नया इतिहास गढ़ा है। उनकी खोपड़ियों और दूसरी हड्डियों से यह पता लगता है कि वे कैसे थे। उनके द्वारा बनाये हुए चकमक पत्थर तथा धातुओं के औज़ारों से उनकी रहन-सहन का थोड़ा-सा आभास हमें मिलता है। उनके द्वारा खाये गए जानवरों की हड्डियों के ढेर, जो उनके चूल्हों की राख से या उसके आस-पास मिलते हैं, उनके शिकार और आहार का पता देते हैं। इन्हीं जानवरों की हड्डियों, दाँतों और वृक्षों के अव-शेष भागों से यह भी जाना जाता है कि उस समय की जलवायु कैसी रही होगी। जिन चट्टानों और मिट्टी की तहों में यह स्मारक-चिह्न पाये गये हैं, उनकी तथा उनके ऊपर और नीचे की तहों की बनावट का मिलान करने से यह जाना जा सकता है कि उनमें से कौन एक दूसरे से नये और पुराने हैं और अन्दाज़ से उनकी क्या आयु है।

इसी तरह हम अन्दाज़ लगा लेते हैं कि वे मनुष्य या जानवर, जिनके चिह्न पाये गये हैं, किस युग में पृथ्वी पर जीवित थे।

आदि-मनुष्य के चिन्ह बहुत क्यों नहीं पाये गये?

इस प्रकार की जो मानव-सम्बन्धी सामग्री अभी तक मिली है, वह वास्तव में बहुत ही कम है। इसके कई कारण हैं। हमारे पूर्वज अपने समय के बड़े वानरों के समान शायद कभी भी बहुत अधिक संख्या में न थे। वे जंगली घोड़ों, हरिनों और प्राचीन ऊँट तथा हाथियों के पुरखों की तरह न थे, जो हर एक पीढ़ी में यदि लाखों नहीं तो हज़ारों की संख्या में ज़रूर मिलते रहे हैं। इन शाकाहारी जंतुओं में से बहुतेरे पानी में डूब जाते होंगे या मगर उनको पानी में खींच ले जाते होंगे। अथवा वे झील, नदी या दलदल के तट पर मर जाया करते होंगे, जहाँ वे पानी पीने जाते रहे होंगे और इस तरह सहज में प्रस्तर-विकल्प बन जाते होंगे। यह सब होने पर भी इनमें से दो-चार को छोड़कर किसी के पुराने प्रस्तर-विकल्पों का पता नहीं लगा है, यद्यपि ये सब स्तनपोषी समूहों में ही रहा करते थे। इसके विपरीत बड़े वानर, आदि मानवीय वानर और उप-मनुष्य कदाचित् कभी भी दो-चार से अधिक एक जगह इकट्ठे न रहते थे। वे अकेले या जोड़े में एक-दो बच्चों-सहित इधर-उधर फिरते रहे होंगे और सुभीते की जगह से अपनी ही जाति के अपने से निर्बल व्यक्तियों को भगा कर उनकी जगह पर अपना अधिकर जमा लेते होंगे। साथ ही हम यह भी जानते हैं कि मनुष्य स्वभावतः तैर नहीं सकता, उसको आज भी तैरना सीखना पड़ता है; जिससे ज्ञात होता है कि मुद्दतों तक वह नदी, झील, समुद्र आदि जल के स्थानों से दूर रहा होगा। इसलिए उसको ऐसे अवसर बहुत कम मिलते रहे होंगे कि पानी में या पानी के निकट की ऐसी जगहों पर वह मरता, जहाँ उसकी हड्डियाँ प्रस्तर-विकल्प बन जातीं। इससे यह धारणा उपयुक्त जान पड़ती है कि तत्कालीन मानव के वंश-के-वंश अपनी उपस्थिति का चिह्न छोड़े बिना ही समाप्त हो गये होंगे।

इन्हीं कठिनाइयों के कारण हमारे अत्यन्त प्राचीन पूर्वजों के चिह्न तृतीय युग के प्रारम्भिक तथा मध्यकाल की चट्टानों में बहुत नहीं मिले हैं। बहुत-से लोगों का मत है कि इस महायुग के प्रथम या द्वितीय काल के आरम्भ होने तक आदि-मनुष्य और वन-मानुष वनों और खुले मैदानों में ही वास करते थे; इसलिए वहीं वे मरते रहे। उनके शरीर या तो वन्य पशुओं ने खा लिये होंगे अथवा वे सड़-गल गये होंगे। जब तीसरा महायुग समाप्त हो रहा था और चतुर्थ (जो अभी तक चल रहा है) शुरू हो रहा था, तब ये लोग गुफाओं में रहने लगे। इस समय से उनके स्मारक-चिह्न और अस्थि-पंजर चट्टानों और पृथ्वी की तह में दबने लगे। अभी तक केवल थोड़े-से ही ऐसे चिह्न हमारी जानकारी में आए हैं, क्योंकि यह विद्या अभी केवल दो-चार पीढ़ी ही पुरानी है तथा बहुत थोड़े आदमियों ने इसका अध्ययन किया है। बैलजियम, डैनमार्क, फ्रांस और इंगलिस्तान आदि योरप के पश्चिमी भागों में इस विषय की अच्छी खोज की गई है। पर अफ्रीका, एशिया, भारतवर्ष और पूर्वी द्वीपों के समूह में मनुष्य के ये चिह्न बहुत कम खोजे गये हैं। बहुत कुछ सम्भव है, इन देशों में उस समय के इतिहास को प्रकाशित करनेवाले अनेक भेद छिपे हुए हों। इसलिए हमें इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि अभी चट्टानों और गुफाओं में इन चिह्नों का पता लगाना बाक़ी है। शायद अभी आदि-मनुष्य और उनके पुरखों की ऐसी और भी बहुत-सी धरोहरें आगे चलकर मिलें और भविष्य यह सिद्ध कर दे कि जो हाल हम मनुष्य के विषय में अभी तक जानते हैं, वह केवल उसके वास्तविक हाल का एक अणुमात्र है। हमको पूरा विश्वास है कि भविष्य के भूगर्भ-वेत्ता तथा प्रस्तरविकल्प-शास्त्री (Palæontologists) मनुष्य की प्राचीन कहानी हिन्दुओं, चीनियों, बैबीलोनियों, यूनानियों और मिस्रियों के पुराने-से-पुराने इतिहास ही के आगे नहीं, वरन् डैनमार्क, फ्रांस, पूर्वी द्वीपसमूह आदि की गुफाओं के स्मारक-चिह्नों के भी आगे की लाखों वर्ष पुरानी चट्टानों की तहों तक अब से कहीं अधिक शुद्धता के साथ पहुँचा सकेंगे।

आज मनुष्य की जो कहानी हमें ज्ञात है वह अधूरी है और उसमें कल्पनाओं के लिए बहुत गुंजाइश है। इसीलिए जब कोई पूरी खोपड़ी भी मिलती है, तब भी उस विषय के सब विद्वानों की एक राय नहीं हो पाती। उसी खोपड़ी को कोई वन-मानुष और मनुष्य के बीच की खोई हुई कड़ी समझता है, तो दूसरा उसे चिम्पाञ्जी की खोपड़ी समझकर अलग कर देता है। तब भी हमें आधुनिक विज्ञान और तत्संबंधी अनुसंधानों को धन्यवाद देना चाहिये कि ऐसे मनोरंजक विषय की सीढ़ी के मुख्य डंडों का पता लग गया है और पुस्तकों में प्रकाशित हो जाने से इस विषय का ज्ञान सर्व-सुलभ हो गया है। आइए, अब हम आपको इन्हीं के विषय में कुछ बतलाएँ।

सबसे पुराने उपमनुष्य की खोपड़ी

सबसे प्राचीन अवशिष्ट हड्डियाँ, जो आदि-मनुष्य या उपमनुष्य की कही जा सकती हैं, एक अधूरी खोपड़ी, नीचे का जबड़ा और कुछ दाँत हैं, जिनके मिलने की सूचना अमरीका के कारनेगी इन्स्टीट्यूट (Carnegie Institute) ने सन् १९३९ के प्रारम्भ में दी थी। ये जावा में सोलो नदी के किनारे डाक्टर वॉन कूनिग्ज़वौल्ड को मिली थीं। कूनिग्ज़वौल्ड का विचार है कि ये हड्डियाँ अब तक ज्ञात सबसे पुराने मनुष्य की हैं और जावा ही में पाये गए खड़े होनेवाले मानवीय वानर **पिथैकैन्थ्रोपस इरैक्टस** (Pithecanthropus erectus) से भी (जिसका कि विवरण आगे लिखा है, और जो अभी तक सबसे प्राचीन माना जाता था) बहुत पुरानी हैं। कारनेगी इन्स्टीट्यूट के प्रधान डाक्टर मरियम का कथन है कि हाल की खोजों में यह खोज सबसे मुख्य है; क्योंकि अभी तक की पाई गई मनुष्य की प्रस्तर-विकल्प हड्डियों की आयु १२ हज़ार वर्ष से लेकर ५ लाख वर्ष से कुछ अधिक तक ही है। इन नई हड्डियों से साबित होता है कि पिथैकैन्थ्रोपस अपनी शारीरिक और मानसिक दशा में बड़े वानरों से काफ़ी आगे बढ़ चुका था तथा यह भी ज्ञात होता है कि मनुष्य को अपने पैरों पर खड़े होते हुए व मस्तिष्क को काम में लाते हुए क़रीब १० लाख वर्ष लग गये हैं।

इससे भी अधिक प्राचीन एक खोपड़ी है, जो हाल ही में पाई गई है और जिसका हाल संक्षेप में 'हिन्दुस्तान स्टैण्डर्ड' नामक अखबार में इसी वर्ष (१९३९ में) जनवरी माह में छपा था। यह खोपड़ी डाक्टर राबर्ट ब्रूम को दक्षिणी अफ्रीका में थोड़े दिन पहले मिली थी। इसका नाम उन्होंने **पैरेनथ्रोपस** (Paranthropus) रक्खा था। अब इस खोपड़ी के अलावा उसकी बाज़ू की हड्डी, बाँह की ऊपरी हड्डी और पैर की उँगली की भी एक हड्डी मिली है। जैसा कि उनका पहले विचार था, ये क़रीब क़रीब मनुष्य की ही सी हैं। पैर की उँगली की हड्डी से पता चलता है कि वह जीव खड़ा होकर चल भी सकता था। बाँह की हड्डियों से विदित होता है कि ये हड्डियाँ चलने-फिरने में शरीर को साधने का काम नहीं देती थीं। ये हड्डियाँ मनुष्य की तो नहीं मानी जातीं, लेकिन ऐसे मानवसम वानर की हैं, जो उस समय मनुष्य की तरह दो टाँगों पर चल सकता था। इसी प्रकार के एक और मानवीय वानर **प्लेसिएनथ्रोपस** (Plesianthropus) की भी कुछ और हड्डियाँ इन्हीं वैज्ञानिक को ट्रांसवाल में मिली हैं। इनका मत है कि यह भी दो टाँगों पर चल-फिर सकता था। इसकी खोपड़ी के ढाल से पता लगता है कि इसका मस्तिष्क हाल में पाये हुए **पिथैकैन्थ्रोपस** के मस्तिष्क से थोड़ा ही छोटा है। उपर्युक्त खोजों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इन हड्डियों से हमको उस समय के विकास के ढर्रे की एक झलक मिलती है, जब प्राचीन जानवरों ने पूर्ण रूप से खड़ा होना सीखा ही था। और यह केवल मनुष्य की ही विशेषता थी।

पिथैकैन्थ्रोपस इरैक्टस या सबसे पहला खड़ा होकर चलनेवाला वानर-मनुष्य

सबसे प्राचीन और प्रसिद्ध बची-खुची हड्डियाँ, जिनकी गणना हम उपमनुष्य के अस्थिपंजरों में कर सकते हैं, जावा द्वीप में सोलो नदी के तट पर बसे हुए ट्रिनिल नगर के निकट सन् १८९१ या १८९२ में पाई गई थीं। इन हड्डियों में एक खोपड़ी की टोपी या ऊपरी भाग, दो-तीन दाढ़ें और एक जाँघ की हड्डी है, जो खोपड़ी से लगभग २० गज़ हटकर मिली थी। कुछ लोगों का यह कहना था कि यह जाँघ की हड्डी किसी आदमी की है और दाढ़ें तथा खोपड़ी किसी और की; परन्तु अब काफ़ी विवाद के बाद यह मान लिया गया है कि जाँघ की हड्डी भी उसी आदमी की है जिसकी कि दाढ़ें तथा खोपड़ी की हड्डी है। इसका माथा तंग और ढालू है तथा भीतर की जगह छोटी है। इससे जान पड़ता है कि उस जीव के माथा था ही नहीं और उसका सिर भौंहों तक बहुत ढालदार था। इसकी जाँघ की हड्डी या ऊर्वस्थि भी वर्त्तमान मनुष्य की-सी ही है, जिससे प्रकट होता है कि वह जीव सीधा चल-फिर सकता था। हड्डी की लम्बाई से उस प्राणी की लम्बाई ५′ ७″ जाँची जाती है। दाँत बिल्कुल आदमियों के-से हैं। सन् १८९० में ट्रिनिल नगर से २५ मील हटकर एक नीचे के जबड़े की हड्डी का टुकड़ा भी मिला था। उसमें अगली दूध-दाढ़ और आगे की कील का गड्ढा बना हुआ है। यह भी उसी खोपड़ी-वाले जीव का भाग माना गया है। इस जबड़े के देखने से यह समझ में आता है कि इस जीव की ठोड़ी बैठी हुई होगी तथा इसकी कील भी छोटी रही होगी। इसके जबड़े छोटे मनुष्य-जैसे रहे होंगे और इसका थूथन बन्दरों की अपेक्षा आगे को कम निकला होगा, किन्तु उसकी भौं की हड्डी ऊपर को बहुत उभरी रही होगी जैसी कि गौरिल्ला और चिम्पाञ्जी में होती है।

इन हड्डियों की खोज करनेवाले प्रोफ़ेसर डूबौय ने इस जीव का नाम **पिथैकैन्थ्रोपस इरैक्टस** रक्खा। हिन्दी में इसको 'खड़ा होनेवाला वानर-मनुष्य' कह सकते हैं। प्रो० डूबौय

अवशेष अस्थियों के आधार पर बनाया गया
पिथैकैन्थ्रोपस मानव का काल्पनिक चेहरा

पिथैकैन्थ्रोपस की खोपड़ी के ऊपरी हिस्से का बाजू की ओर का दृश्य
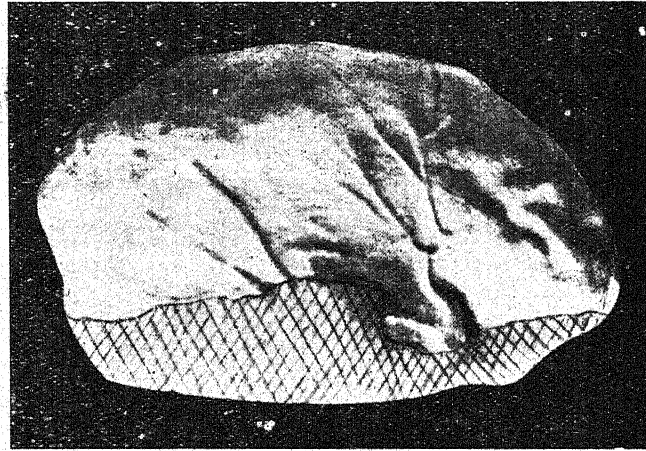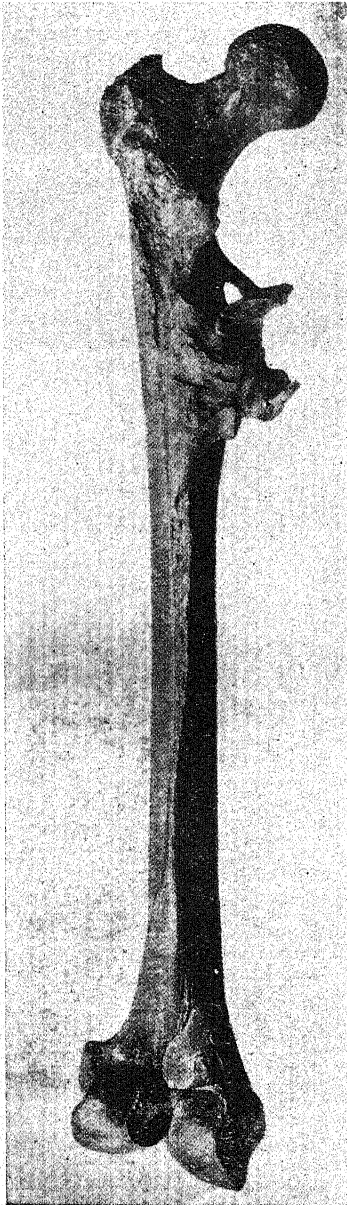
पिथैकैन्थ्रोपस की उपर्युक्त खोपड़ी के भीतरी भाग का बनाया गया
प्लास्टर का ढाँचा
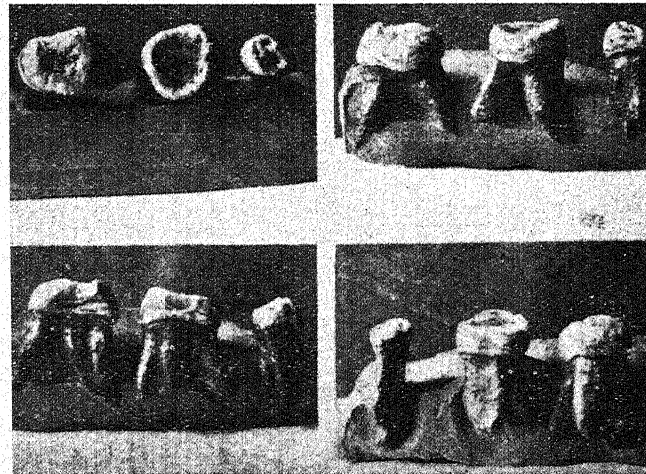
(ऊपर) पिथैकैन्थ्रोपस के दाँत
(बाईं ओर खड़ा लंबा चित्र) पिथैकैन्थ्रोपस या जावा के आदि-मानव की
जाँघ की हड्डी (ऊर्वस्थि)
[चित्र—स्मिथसोनियन रिपोर्ट, १९२८, से]

की यह धारणा थी कि यह जीव मनुष्य और वन-मानुषों के बीच का जीव था। न वह मनुष्य में गिना जा सकता है और न पेड़ों पर रहनेवाले चिम्पाञ्ज़ी-जैसे वन-मानुषों में ही उसकी गणना हो सकती है। वह यदि बिल्कुल नहीं तो बहुत-कुछ हमारी ही तरह सीधे खड़े होकर चल-फिर सकता था। खोपड़ी के हिस्से को साँचे में ढालकर निपुण वैज्ञानिकों ने उसके मस्तिष्क की रचना का पता लगाने की कोशिश की है और उसके रूप को निश्चित कर लिया है। इससे वे हिसाब लगाते हैं कि उसके मस्तिष्क का बोझ बड़े-से-बड़े मस्तिष्कवाले वन-मानुष गौरिल्ला और साधारण मनुष्यों में छोटे-से-छोटे मस्तिष्क (जो आस्ट्रेलिया के असली निवासियों में मिलता है) के बोझ के बीच का है। इससे बहुत लोग यह प्रश्न कर सकते हैं कि गिब्बन-जैसे भारी वन-मानुष से भी अधिक बड़े मस्तिष्क की आवश्यकता इस हल्के शरीरवाले मानव को क्यों हुई? इसका कारण यही मालूम होता है कि वन-मानुषों के मुक़ाबले में उसमें अधिक मानसिक शक्ति थी, तथा उसके मस्तिष्क में याद रखने, सुनने और बोलने के भागों की बनावट बहुत-कुछ मनुष्य से मिलती जुलती है। यह ठीक-ठीक कोई भी नहीं कह सकता कि वह जीव मनुष्य की ही तरह सोच सकता था या नहीं। इन सब बातों में विद्वानों का एकमत होना असम्भव है। यही कारण है कि कुछ लोग कहते हैं कि वह मानव-सम वानर था, तो दूसरे लोग उसे नक़ली मनुष्य या उप-मनुष्य की पदवी देते हैं, और कुछ उसे असली मनुष्य का ही पूर्वज मानते हैं। सर आर्थर कीथ, जो प्राचीन मनुष्यों के विषय के सबसे बड़े अधिकारी विद्वान् माने जाते हैं, लिखते हैं कि यह काल्पनिक जीव मस्तिष्क के अतिरिक्त अपने डील-डौल, चाल-ढाल और बहुत-से भागों की अंग-रचना में मनुष्य-जैसा ही था। कुछ भी हो, यह निश्चय है कि इन पाये हुए अस्थि-पंजरों द्वारा दो पैरों पर चलनेवाले लुप्त वानरों के आगे के मनुष्य के विकास की अवस्था का बहुत-कुछ पता चलता है; किन्तु यह मानना न्यायसंगत नहीं है कि जावा का **पिथैकैन्थ्रोपस** मनुष्य-जाति के पूर्वजों में से ही है। सब बातों पर विचार करते हुए यह मानना उचित प्रतीत होता है कि मानव-जाति के धड़ के नीचे की ओर से इसकी एक शाखा अलग फूट गई और वह मानव-वंश की पहली शाखा है।

इस मानवीय वानर की उपरोक्त वर्णित हड्डियाँ ४५ फ़ीट मोटी चट्टानों की तह में पाई गई थीं। इनके साथ बीस तरह के स्तनपोषित जीव, जैसे मैमथ (हाथी-जैसे विशाल लुप्त जानवर), बड़े बालवाला गैंडा, भारी डीलवाला दरियाई घोड़ा, कटार-जैसे दाँतवाला चीता, बारहसिंघा इत्यादि की हड्डियाँ भी पाई गई थीं। ये सब पशु अब नष्ट हो गये हैं और आजकल कहीं भी नहीं पाये जाते। प्रोफ़ेसर डूबौय तथा कुछ अन्य वैज्ञानिकों का मत है कि ये प्रस्तर-विकल्प और जिनमें ये पाये गये थे वे चट्टानें तीसरे महायुग के दूसरे काल (प्लायोसीन) के ऊपरी खंड की हैं। इनकी आयु लगभग ५ लाख वर्ष की है। किन्तु बहुत-से बाद के लेखकों का विचार है कि वे इसी युग के पहले काल (प्लायस्टोसीन) की निचली या बीच की तहों से सम्बन्ध रखती हैं। राबर्ट ब्रूम साहब का कहना है कि चाहे जो कुछ भी हो, ये तहें कम-से-कम १० लाख वर्ष पुरानी हैं और यह पथराई हुई खोपड़ी भी उसी ज़माने की है।

साइनैनथ्रोपस पिकैनैन्सिस की खोपड़ी का ऊपरी हिस्सा

यह पेपिंग नगर के यूनियन मैडिकल कालेज इंस्टीट्यूट में प्रदर्शित है।

जावा में पाये हुए ये अवशेष भाग हॉलैण्ड के हार्लेम नगर के टाइलर अजायबघर में सुरक्षित हैं।

साइनैनथ्रोपस पिकैनैन्सिस (Sinanthropus pikenensis)

उपमनुष्य की दूसरी सबसे पुरानी जाति के अवशेष सन् १९२१-१९३६ में चीन की पुरानी राजधानी पेकिंग के पास (जो अब पेपिंग कही जाती है) पाये गये थे। मनुष्य का ध्यान इस भाग में खोज करने के लिए किस प्रकार आकर्षित हुआ, इसका हाल भी बहुत ही मनोरंजक है। सन् १९०३ में जर्मनी

के श्लौसर नामक एक डाक्टर ने चीन के एक दवाखाने से परदार साँप की हड्डियों का ढेर खरीदा था। उसमें उन्होंने एक दाँत पाया, जिसको किसी अनजान वन-मानुष का समझकर उन्होंने इस बात की सूचना दी कि यदि चीन में खोज की जाय और खोदकर देखा जाय तो आशा है कि वहाँ किसी नये पथराये हुए वानर या वानर-मानुष की पुरानी हड्डियाँ अवश्य मिलेंगी। यह जानकर कुछ आदमियों ने खोज शुरू की और इनकी धारणा बिलकुल सही सिद्ध हुई।

इस कार्य में सबसे पहले स्वीडन देश के भूगर्भवेत्ता जे० जी० एन्डरसन साहब को सफ़लता मिली। उन्होंने सन् १६२१ में पेकिंग नगर के निकट प्रस्तर-विकल्पों से युक्त चट्टानों की एक खोह में खोज की, लेकिन १६२३-१६२७ तक उन्हें एक उप-मनुष्य के केवल तीन दाँत ही मिले। किन्तु बाद की अधिक खोज के बाद अब तक वहाँ २४ व्यक्तियों की भिन्न-भिन्न हड्डियाँ मिल चुकी हैं। इसमें अधिकतर दाँत हैं, कुछ खोपड़ी और जबड़े के टुकड़े हैं, १२ पूरे-पूरे नीचे के जबड़े हैं और ४ लगभग पूरी खोपड़ियाँ हैं। इनमें से एक खोपड़ी लगभग ८ वर्ष के एक लड़के की है और एक वयस्क स्त्री की है। ये सब हड्डियाँ एक ही उपजाति की हैं, जिसका नाम **साइनैनथ्रोपस पिकैनैन्सिस** अथवा 'पेकिंग का मनुष्य' रक्खा गया है।

संसार भर में और कहीं भी आदि-मनुष्य की हड्डियों का इतना अच्छा संग्रह नहीं मिला। आश्चर्य की बात तो यह है कि खोपड़ी के इतने भाग मिलने पर भी धड़ या हाथ-पैर की एक भी हड्डी उस खोह में नहीं मिली। इससे यह धारणा होती है कि शायद इन खोपड़ियों को उस गुफा में मनुष्य का मांस खानेवाले आदमी ही ले गये होंगे। यदि चीता या लकड़बग्घा उन्हें ले गया होता, तो यह समझ में नहीं आता कि वे केवल खोपड़ी ही क्यों ले गये, क्योंकि इन सभी खोपड़ियों में नाक की पतली हड्डी ग़ायब है। यह भी कहा जाता है कि शायद उस ज़माने में मनुष्य एक-दूसरे का केवल भेजा अथवा दिमाग़ ही खाते रहे होंगे। हाल ही में गाल और नाक की हड्डी के भी कुछ टुकड़े पाये गये हैं, परन्तु वे इतने छोटे हैं कि उनसे उस उपमनुष्य के चेहरे का ठीक-ठीक पता नहीं लग सकता। इन खोपड़ियों में भी **पिथैकैन्थ्रोपस** की तरह आँख के अन्दर की हड्डी बहुत उभरी हुई है। परन्तु इनमें मस्तिष्क का भाग उससे अधिक अच्छी तरह बढ़ा हुआ है। उसके मुक़ाबले में इन खोपड़ियों की हड्डी भी बहुत मोटी है। भौं की हड्डी निकली हुई ज़रूर है, लेकिन वह आँख के ऊपर गौरिल्ला और चिम्पाञ्ज़ी की तरह लटकती नहीं है। पेकिंग-मानव की खोपड़ी **पिथैकैन्थ्रोपस** से बहुत-कुछ मिलती-जुलती होने पर भी उसकी ललाट की ऊँचाई मनुष्य की खोपड़ी से ज़्यादा मिलती है। इस खोपड़ी का खोखला भाग असाधारण रूप से छोटा है और मस्तिष्क भी संकीर्ण है, किन्तु जावा के मनुष्य से यह अधिक ऊँचा रहा होगा। कनपटी की हड्डियाँ नवजात शिशु की तरह हैं और इसके जबड़े बहुत-सी बातों में पिल्ट-डाउन मनुष्य (जिसका उल्लेख आगे किया गया है) जैसे हैं। इसकी दाढ़ें भी जावावाली खोपड़ी की अपेक्षा मनुष्य से अधिक मिलती-जुलती हैं। इससे यह साफ़ ज़ाहिर है कि इस चीन के मनुष्य में कई लक्षण ऐसे हैं, जो न जावा के वानर-मनुष्य में और न इंगलैंड तथा जर्मनी में पाये जानेवाले मनुष्य में (जिनका वर्णन आगे किया गया है) मिलते हैं। इसमें कुछ लक्षण एक उपजाति के-से हैं, कुछ दूसरी के-से और कुछ आधुनिक मनुष्य-जैसे। कदाचित् ये सब जातियाँ इसी भाँति की एक ही जाति से उत्पन्न हुई हों।

पिल्टडाउन के समीप पाये गये प्राचीन मानव के कुछ पत्थर और हड्डियों के औज़ार

संभवत: इओएनथ्रोपस या पिल्टडाउन मानव द्वारा ये काम में लाये जाते रहे होंगे।

ये सब प्रस्तर-विकल्प ११० फ़ीट की गहराई में बहुत-से लुप्त पक्षी, हिरन, गैंडों और लकड़बग्घों की हड्डियों के

साथ चट्टान की पर्तों में पाये गये थे, जो तृतीय महायुग के सबसे हाल के काल की मानी जाती हैं। इनकी आयु लगभग ५ लाख वर्ष मानी गई है।

इन प्रस्तर-विकल्पों का एक बहुत सुन्दर संग्रह पेपिंग नगर के यूनियन मेडिकल कॉलेज इन्स्टीट्यूट में प्रदर्शित है।

अब हमारी प्राचीन मनुष्यों की खोज हमको दो महाद्वीपों के पार अर्थात् पूर्वी एशिया से पश्चिमी योरप को ले जाती है, क्योंकि उपरोक्त वर्णित प्रस्तर-विकल्पों के पश्चात् अन्य दो प्रकार के प्रस्तर-विकल्प योरप के पश्चिमी देशों में ही पाये गये हैं—एक इंगलिस्तान में, दूसरा जर्मनी में। इन दोनों में से कौन अधिक पुराना है, यह बतलाना असम्भव-सा है। कुछ लोग इंगलिस्तानवाले प्रस्तर-विकल्प को अधिक पुराना बतलाते हैं और कुछ जर्मनीवाले को। हम यहाँ पहले इंगलिस्तान-वाले प्रस्तर-विकल्प का हाल लिखेंगे और उसके बाद जर्मनीवाले का।

इओएनथ्रोपस डॉसोनाई

दक्षिणी इंगलिस्तान के पिल्टडाउन नगर के मैदान में एक गड्ढे में, जहाँ सड़क बनाने के लिए कंकड़ खोदे जाते थे, सन् १६११-१६१३ में चार्ल्स डॉसन तथा अन्य व्यक्तियों को उपमनुष्य-जैसी एक खोपड़ी के कुछ टुकड़े मिले थे। इनमें ४ बड़े टुकड़े खोपड़ी के हैं, १ टुकड़ा नीचे के दाहिने जबड़े का है (जिसमें २ दाढ़ें लगी हुई हैं), और १ कील-दन्त तथा नाक की हड्डियाँ भी मिली हैं। ये हड्डियाँ एक नये उपमनुष्य की समझी जाती हैं, जिसका नाम **इओएनथ्रोपस डॉसोनाई** (Eoanthropus dawsoni) रक्खा गया है। इसी उपमनुष्य की एक और खोपड़ी के टुकड़े तथा एक निचला जबड़ा पिल्टडाउन से दो मील की दूरी पर मिले हैं।

(ऊपर) जर्मनी में प्राप्त हाइडैलबर्ग मानव का जबड़ा

(नीचे) उक्त जबड़े के साथ-साथ प्राप्त कुछ पत्थर के औज़ार जो हाथ में पकड़ने के लिए गढ़े गए थे।

खोपड़ी की ये हड्डियाँ वर्त्तमान जीवित मनुष्य की सब जातियों से मोटी हैं, परन्तु पेकिंग के आदमी से ये मिलती हैं। अन्य बातों में वे वर्त्तमान मनुष्य की खोपड़ी से समानता रखती हैं। सभी मानते हैं कि इस मनुष्य का माथा अपने पहले के सभी मनुष्यों से अधिक ऊँचा है, परन्तु फिर भी उसमें काफ़ी ढाल है, और भौंहों की हड्डियाँ अधिक उठी हुई नहीं हैं, जैसी कि वर्त्तमान मनुष्य के कुछ कुलों में पाई जाती हैं। इस खोपड़ी के जो टुकड़े पाये गये हैं, वे ऐसे नहीं हैं कि जिन्हें मिलाकर उसके आकार का हम अन्दाज़ लगा सकें। उसके मस्तिष्क के रूप और डील के बारे में मतभेद है। सर आर्थर कीथ उसका मस्तिष्क पिथैकैन्थ्रोपस और वर्त्तमान मनुष्य के बीच का समझते हैं, किन्तु वुडवर्ड, स्मिथ, मैकग्रीगर और ब्रूम की यह राय है कि इसके मस्तिष्क की समाई १३०० C. C. है, अर्थात् वर्त्तमान मनुष्य के औसत मस्तिष्क से थोड़ी ही कम है।

इसके नीचे के जबड़े की हड्डी में निकली हुई ठोड़ी नहीं है और कीलदन्त मनुष्य के दाँतों से अधिक बड़ा है। इसलिए इन बातों में यह मानव पेकिंगवाले आदमी की अपेक्षा वानरों से अधिक मिलता है। इसके जबड़े का पिछला भाग और दाढ़ें मनुष्य जैसी ही हैं। अतः इस अद्भुत जीव में आदमी और वानरों के लक्षण मिले हुए थे। उसका मस्तिष्क तो आदमियों की ही तरह था, लेकिन उसके जबड़े चिम्पाञ्जी से मिलते-जुलते थे। यह अनुमान किया जाता है कि

यह जीव सीधा खड़ा होकर चलता-फिरता रहा होगा। उसी तह में, जहाँ ये प्रस्तर-विकल्प मिले हैं, चकमक पत्थर के कुछ हथियार भी मिले हैं, (देखिए पृष्ठ ४५३ का चित्र) जिनसे पता चलता है कि इस जीव के हाथ अन्य काम करने के लिए स्वतंत्र रहे होंगे।

पृथ्वी की जिस तह में ये शेष भाग पाये गये हैं, वह पृथ्वी के धरातल से केवल ४ फ़ीट नीचे थी। साधारण रीति से ये वस्तुएँ प्लायस्टोसीन काल के आरम्भ की समझी जाती हैं। पर कुछ लोगों का मत है कि ये अवशेष अन्तिम प्लायोसीन काल के हैं। इससे यह विदित होता है कि चीन और इंगलिस्तान में पाये गये दोनों उपमनुष्य एक ही समय में जीवित रहे होंगे और जावा में पाये हुए मानवीय वानर से कुछ ही समय बाद के होंगे। कीथ का मत है कि इस अंग्रेज़ी उपमनुष्य में हमको वर्त्तमान मनुष्य जातियों के उन पूर्वजों की झलक मिलती है, जो आरम्भिक प्लायस्टोसीन काल में धरती पर मौजूद थे। इसके विरुद्ध राबर्ट ब्रूम लिखते हैं कि इस जीव ने कदाचित् अपने निश्चित समय
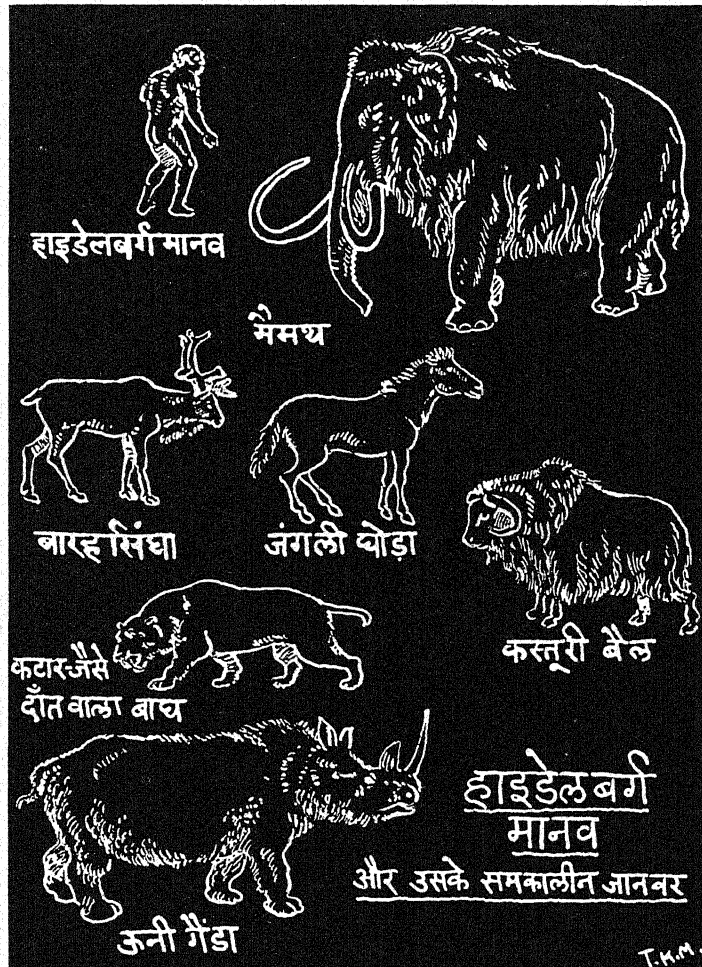
जर्मनी के हाइडैलबर्ग नामक स्थान में मिली हुई ४ लाख वर्ष पूर्व के मानव तथा उसके समकालीन जंतुओं की अवशेष अस्थियों के आधार पर रचित उनके आकार-प्रकार का एक काल्पनिक चित्र

हाइडैलबर्ग मानव का केवल जबड़ा ही पाया गया था, जिसका चित्र पृष्ठ ४५४ पर दिया गया है। जबड़े के अतिरिक्त इस आदि मानव के शरीर का और कोई अवयव अभी तक नहीं मिला है, अतएव इसकी शक्ल-सूरत के विषय में और कुछ नहीं कहा जा सकता। फिर भी इसके लंबे-चौड़े जबड़े से विदित होता है कि इसका शरीर बड़ा तथा हाथ-पैर लंबे रहे होंगे। बहुत संभव है कि यह मानव ऐसा ही दिखाता रहा हो, जैसा ऊपर के चित्र में सबसे ऊपर की पंक्ति में बाईं ओर के कोने में दिखाया गया है। हाँ, इस मानव के जबड़े के साथ-साथ जिन अन्य समकालीन जानवरों की अस्थियाँ मिली हैं, उनके आकार और रूप की बहुत-कुछ निश्चित कल्पना की जा सकती है, क्योंकि इनके अस्थि-पंजर अन्य स्थानों में भी मिले हैं। इन जानवरों की हड्डियों के आधार पर ही यह कहा जा सकता है कि जर्मनी का यह मानव प्लायस्टोसिन युग के प्रारंभिक काल में अर्थात् आज से लगभग ४ लाख वर्ष पूर्व पृथ्वी पर रहा होगा। ऊपर के चित्र में हाथी जैसा मैमथ नामक जो अद्भुत जंतु दिखाया गया है, वह अब पृथ्वी से लुप्त हो गया है। इसी तरह कटार-जैसे दाँतवाला बाघ, ऊनी बालवाला गैंडा तथा जंगली घोड़ा भी पृथ्वी पर आज इस रूप में कहीं नहीं पाये जाते।

के पूर्व ही बड़ा मस्तिष्क प्राप्त कर लिया था। यह बात बहुत असम्भव-सी मालूम होती है कि बाद में आनेवाले मनुष्य का जन्म इसी से हुआ है। पिल्टडाउन में मिली हुई ये सब हड्डियाँ दक्षिणी केन्सिङ्गटन के प्राकृतिक इतिहास के अजायबघर में रक्खी हुई हैं।

इन तीनों जातियों के उपमनुष्य, जिनका विस्तृत वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं, आपस में थोड़ी-बहुत विभिन्नता रखते हुए भी कई साधारण बातों में एक-जैसे हैं। यह बात बहुत ध्यान देने योग्य है कि इन तीनों ही के बहुत-से गुण बन्दरों से मिलते हैं, परन्तु कुछ बातों में वे उन लक्षणों तक पहुँच गये हैं, जो वर्त्तमान मनुष्य के लक्षण कहे जा सकते हैं। जब कुम्हार कोई नई शक्ल का बर्त्तन बनाने का विचार करता है, तो पहले एक नमूना बनाता है। ठीक न बनने पर उसको बिगाड़कर फिर से कुछ और बदल कर बनाता है। फिर भी ठीक रूप का यदि नहीं बनता, तो उसे भी बिगाड़ डालता है। इसी प्रकार जब तक उसके मन की-सी शक्ल का बर्त्तन नहीं बन जाता, वह एक-के-बाद दूसरा बर्त्तन बनाता और बिगाड़ता रहता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय प्रकृति भी कुम्हार की-ही तरह वर्त्तमान मनुष्य को बनाने के लिए तरह-तरह के प्रयोग कर रही थी। उसने उपमनुष्य की कई जातियाँ एक दूसरे से थोड़ी बहुत भिन्न करके बनाईं। उनमें से एक ने वर्त्तमान मनुष्य का रूप ले लिया और वह अब तक बनी हुई है। शेष सब जातियाँ लुप्त हो गईं।

इनके आगे चलकर जो प्रस्तर-विकल्प मिले हैं, वे सब वर्त्तमान मनुष्य की-ही जाति में गिने जाते हैं; यद्यपि सबकी उपजातियाँ भिन्न-भिन्न हैं। इनमें से मुख्य दो का उल्लेख हम यहाँ संक्षेप में आपके सामने उपस्थित कर रहे हैं।

पेलियेनथ्रोपस हाइडैलबर्जेन्सिस

१९०७ ई० में ऑटो शूटैन्सक साहब ने जर्मनी के हाइडैलबर्ग नामक स्थान से लगभग ६ मील की दूरी पर एक पूरा नीचे का जबड़ा पाया था, लेकिन उसमें एक पत्थर का टुकड़ा ऐसा चिपका हुआ था कि उसे छुड़ाने में बाईं ओर के कुछ दाँतों के टुकड़े पत्थर के साथ ही निकल गये। यह जबड़ा बहुत भारी है। इसका ऊपरी हिस्सा बहुत चौड़ा है, परन्तु इसमें भी ठोड़ी ग़ायब है। पीछे की ओर जबड़े के दोनों बाजुओं के बीच का स्थान संकीर्ण है, जिसके कारण वह अपनी जीभ सुविधापूर्वक हिला-डुला न सकता होगा। इससे यह समझ में आता है कि कदाचित् मनुष्य की तरह उसके बोलने में असमर्थ होने का यही कारण रहा हो। यह जबड़ा मनुष्य के जबड़े से चौड़ा, बड़ा और बिना ठोड़ी का है। फिर भी इसके दाँत केवल रूप में ही नहीं, वरन् डील में भी बिल्कुल वर्त्तमान मनुष्य-जैसे ही हैं। आजकल के ऑस्ट्रेलिया और टस्मानिया के कुछ असली निवासियों से भी उसके कील-दन्त छोटे हैं। उसकी दाढ़ें भी आजकल की जातियों से बड़ी नहीं हैं। यह जबड़ा किसी भी कारण से वन-मानुष का नहीं कहा जा सकता। इसको बहुत-से लोग दाँतों में सादृश्य होने के कारण ही विद्यमान मानव की एक नई जाति मानते हैं। **पेलियेन-थ्रोपस हाइडैलबर्जेन्सिस** (Palaeonthrohus heidelbergensis) के नाम से पुकारते हैं। लेकिन कुछ लेखक यह मत रखते हैं कि यह जबड़ा साइनैनथ्रोपस अथवा चीन में पाये गये मनुष्य और वर्त्तमान मानव-जाति होमो (Homo) के मध्य की जाति का नहीं है। इसलिए इन लोगों ने इसे **होमो हाइडैलबर्जेन्सिस** का नाम दिया है।

यह जबड़ा २० वर्ष की खोज के बाद बालू के एक ढेर में ८२ फ़ीट की गहराई में दबा हुआ पाया गया था। उसी गड्ढे में इसके साथ गैंडे, हाथी, बिसन, मैमथ आदि जैसे अन्य जीवों की हड्डियाँ भी पाई गई थीं। इनसे यह कहा जा सकता है कि यह मनुष्य प्लायस्टोसीन के प्रारम्भिक समय में इस पृथ्वी पर मौजूद रहा होगा। इसकी आयु लगभग ४ लाख वर्ष कूती जाती है। इस जबड़े के साथ-साथ बहुत कम गढ़े हुए या बिना गढ़े हुए ऐसे कुछ बड़े बड़े पत्थर के टुकड़े पाये गये हैं, जिन्हें देखकर यह जान पड़ता है कि उनसे हथियारों का काम लिया जाता होगा। चूँकि ऊपर लिखी हुई अन्य उपजातियों के साथ पाये हुये पत्थरों से पत्थरों के ये टुकड़े अधिक बड़े हैं, इसलिए यह कहा जाता है कि जर्मनी में पाये हुए इस मनुष्य का शरीर बड़ा तथा हाथ-पैर लम्बे रहे होंगे, जैसा कि उसके बड़े और चौड़े जबड़े से भी विदित होता है। जबड़े के अतिरिक्त इसके शरीर का और कोई अवयव अभी तक नहीं पाया गया है, इसलिए इसकी शक्ल-सूरत के विषय में अभी अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता।

यह जबड़ा हाइडैलबर्ग के जियोलोजिकल इन्स्टीट्यूट (Geological Institute) में रक्खा हुआ है।

आगे के लेख में हम आपको वर्त्तमान मनुष्य की होमो (Homo) जाति के पूर्वपुरुषों का हाल बतलायेंगे।
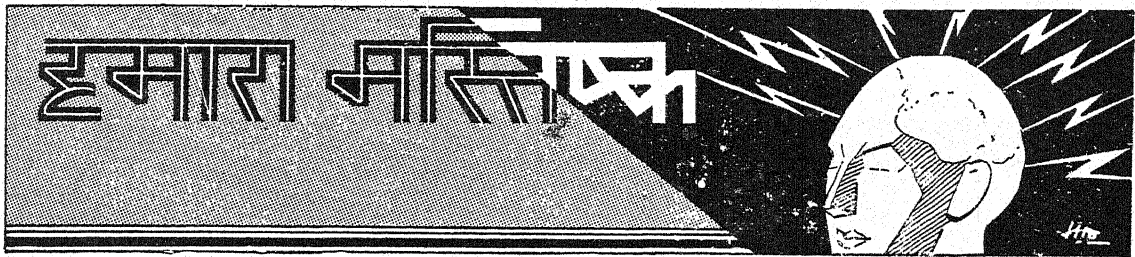
स्वयंभू वृत्तियाँ और स्वाभाविक कार्य

मनोविज्ञान की एक सबसे बड़ी पहेली यह है कि जो क्रियाएँ वास्तव में सबसे अधिक उलझी हुई मानसिक क्रियाएँ हैं, वे हमें सरल मालूम पड़ती हैं, और जो एक प्रकार से मस्तिष्क की सरल या अमिश्रित क्रियाएँ हैं, वे ही समझने में सबसे अधिक कठिन हैं। हमारी 'स्वयंभू वृत्तियाँ' हमारी मानसिक श्रेणी का सबसे निचला अतएव सरलतम सोपान होते हुए भी इसी तरह हमारी समझ के लिए अत्यंत कठिन है।

यदि हम जानवरों, पक्षियों और कीड़ों के आचरण (Behaviours) का अध्ययन करें, तो देखेंगे कि इनमें बहुतेरे प्राणी बहुत ही मिश्रित (complicated) प्रकार के कार्य कर सकने में समर्थ हैं, बावजूद इसके कि उन्हें न तो वैसा करने का कोई निजी अनुभव प्राप्त है और न वैसी शिक्षा ही उन्हें मिली है। इस तरह स्वयमेव कार्य करने की शक्ति को मनोविज्ञान की भाषा में 'स्वयंभू वृत्ति' (Instinct) के नाम से पुकारते हैं, और इन शक्तियों द्वारा सम्पन्न होनेवाले कार्यों को स्वाभाविक कार्य (Instinctive Acts) का नाम दिया जा सकता है।

प्रसिद्ध मनोविज्ञान-शास्त्री मैक्डूगल ने अपनी पुस्तक 'मनोविज्ञान की रूपरेखा' (Outlince of Psychology) में इन शक्तियों की परिभाषा यों दी है—"एक आन्तरिक प्रवृत्ति (innate disposition), जो प्राणी को किसी खास तरह की चीज़ को देखने, उसकी ओर ध्यान देने और उसकी उपस्थिति में एक खास तरह की भावुक उत्तेजना तथा कार्य करने की ऐसी प्रेरणा प्रदान करती है, जो उस चीज़ के प्रति एक विशेष प्रकार के आचरण में प्रकट होती है। इसे हम स्वयंभू वृत्ति (Instinct) कहते हैं।"

ध्यान में रखने की बात यहाँ यह है कि उपरोक्त परिभाषा में मैक्डूगल एक विशेष प्रकार के आचरण की बात कहता है, जिसे हम स्वाभाविक कार्य (Instinctive Act) कहेंगे। "इंस्टिक्ट" (Instinct) शब्द को लेकर अंग्रेज़ी लेखकों ने बड़ा बौद्धिक विभ्रम फैलाया है। कुछ ने इस शब्द का प्रयोग 'प्रेरक शक्तियों' (Driving Forces) के अर्थ में किया है, तो कुछ ने उसे मानों साँचे में ढली हुई एक ही तरह की क्रिया (Stereotyped Activity) के अर्थ में लिया है। इसलिए मनोविज्ञान के अध्ययन में इस शब्द के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए इसका अर्थ प्रारंभ में ही ठीक-ठीक ग्रहण कर लेना चाहिए।

स्वयंभू प्रवृत्ति के अर्थ को और भी साफ़ कर देने के लिए हम उदाहरण के रूप में ऐसे प्रश्न पूछ सकते हैं, जैसे जानवरों या मनुष्य के बच्चों को माता के स्तन से दूध चूसना कौन सिखा जाता है? चिड़ियों के नन्हें-नन्हें बच्चे उड़ने की शिक्षा कहाँ पाते हैं? मछली और मेढ़कों को तैरना किसने बताया? उत्तर में ईश्वर को खड़ा करके सारा गुड़ गोबर किया जा सकता है और हमारे वैज्ञानिक अध्ययन को पथभ्रष्ट करके दर्शनशास्त्र के दलदल में फँसा दिया जा सकता है। पर आज का मनोविज्ञानशास्त्र दर्शन आदि को चुनौती देता हुआ कह रहा है कि भविष्य में हमारा अध्ययन केवल भौतिक विद्या के सहारे ही संभव हो सकेगा। अस्तु, ईश्वर के झमेले में पड़े बिना ही हम कह सकते हैं कि उक्त आचरण उन्हीं स्वयंभू वृत्तियों के द्वारा सम्पन्न होते हैं, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। ये वृत्तियाँ स्वयंभू इसलिए हैं कि वे उद्देश्यात्मक (Purposive) नहीं होतीं। निर्विवाद ही है कि बच्चा माता के स्तन से दूध इसलिए कदापि नहीं चूसता कि उसके द्वारा उसके शरीर की रक्षा या विकास होगा। न छोटी चिड़ियाँ ही अपने नन्हें-नन्हें परों से इसलिए उड़ने का अभ्यास करती हैं कि उससे उनके लिए

हरे-भरे खेतों और फुलवाड़ियों अथवा नयनाभिराम प्रासादों की सैर सुलभ हो जायगी। निश्चय ही ऐसा कोई ज्ञान उन्हें नहीं होता है, बल्कि उनके शरीर की बनावट में ही कुछ इस तरह की शक्तियाँ निहित होती हैं, जो बिना पूर्व निश्चय के उन्हें कार्य करने की प्रेरणा देती हैं।

अब इन स्वाभाविक कार्यों की समस्या के साथ ही एक प्रश्न हमारे सामने और उपस्थित होता है। क्या इस प्रकार की स्वयंभू प्रेरणा से होनेवाले प्रत्याचरण (Responses) निश्चित होते हैं या परिवर्त्तनशील? क्या ये मशीन की क्रिया की तरह एक निश्चित गति और सीमा में ही बँधे हुए हैं या परिस्थितियों और वायुमंडल की विभिन्नता के अनुसार उनमें भी परिवर्त्तन संभव है या होता रहता है? मनोविज्ञान के पंडितों में इस विषय पर गहरा मतभेद है, विशेषकर उन दो मुख्य मत के पोषकों में, जिनमें से एक निम्न कोटि के जीवों में बुद्धि का अभाव मानते हैं और दूसरे उसकी विद्यमानता स्वीकार करते हैं। हमारी राय उन विद्वानों के साथ है, जो स्वाभाविक प्रत्याचरणों को परिवर्तनशील मानते हैं।

उक्त स्वयंभू वृत्तियों के दो विशेष गुण होते हैं। एक तो यह कि अभ्यास या आदत के द्वारा वे कमज़ोर या दृढ़ अथवा परिवर्तित हो जाती हैं और दूसरा यह कि उनके बल की एक निश्चित अवधि होती है, जिसके बाद अनुभव की परिपक्वता तथा विभिन्न शारीरिक ग्रंथियों के विकास के साथ-साथ वे निर्बल हो जाती हैं, या उनका लोप हो जाता है।

पहले गुण का प्रभाव यह होता है कि जब कोई प्राणी स्वयंभू वृत्तियों के कारण कोई आचरण करता है और प्रायः बार-बार वैसा ही करता रहता है, तो अभ्यासवश उसका उस प्रकार के आचरण के प्रति अनुराग हो जाता है और उसे बदलने अथवा त्यागने में उसे पर्याप्त कष्ट का अनुभव होता है। चिड़ियों ही को लीजिए, वे जहाँ एक बार अपना घोंसला बनाती हैं, वहीं बार-बार बनाती रहती हैं। खरगोश के लिए कहा जाता है कि वे अपने बिल के एक विशेष कोने में ही मल त्याग करते हैं। उसी प्रकार आदमी भी अपना निवासस्थान अथवा कार्य चुनकर उसका अभ्यस्त हो जाने पर उसे छोड़ने में कष्ट अनुभव करता है।

ऐसा भी होता है कि दो विपरीत वृत्तियों में जिसे विकास का अवसर पहले मिल जाता है, वह दूसरी को दबा लेती है। उदाहरण के लिए ऐसा एक छोटा बच्चा लीजिए, जिसे दुनिया के भले-बुरे का कोई ज्ञान नहीं है। वह किसी कुत्ते को पहली ही बार देखकर कुत्ते के आचरण के अनुसार उससे प्रेम भी करने लग सकता है और उससे भयभीत भी हो सकता है। प्रेम और भय दोनों विपरीत वृत्तियाँ हैं। यदि पहली ही बार बिना किसी कारणवश बच्चे को कुत्ते का रौद्र रूप दीख पड़े, तो फिर बहुत दिनों के लिए कुत्ते की ओर से वह भयभीत रहने लगेगा। इसके विपरीत कुत्ता अगर बच्चे को अपने साथ खेलने दे, मुँह पकड़ने दे, दुम नोचने दे, तो उसकी ओर बच्चे की रुचि अधिकाधिक बढ़ती जायगी।

दूसरे गुण के अनुसार स्वयंभू वृत्तियों के विकास की एक निश्चित अवधि होती है और उस निश्चित अवधि के पश्चात् प्रायः वे वृत्तियाँ काम लायक़ नहीं रहतीं। यदि निश्चित अवधि के भीतर उनके विकास के साधन और अवसर प्राप्त हो गये तब तो ठीक, वरना उनके विकास का अवसर फिर कभी नहीं आता। उदाहरण के लिए पैदा होने के कुछ दिनों बाद तक यदि बच्चे को स्तन से दूध खींचने का अवसर न दिया जाय, तो फिर उसकी दूध खींच सकने की वृत्ति ही नष्ट हो जाती है।

मनुष्य तथा अन्य प्राणियों के आचरणों की तुलना करके यदि देखा जाय, तो मालूम होगा कि मनुष्य में ये स्वयंभू वृत्तियाँ बहुत ही कम विकसित हो पाई हैं। इसका कारण यह नहीं है कि मनुष्य में उक्त वृत्तियाँ अपनी पूरी मात्रा में विद्यमान नहीं हैं, बल्कि इसका कारण यह प्रतीत होता है कि मनुष्य में अन्य प्राणियों की अपेक्षा बुद्धि की मात्रा अधिक होती है, जिसके द्वारा उसकी स्वयंभू वृत्तियाँ संशोधित अथवा परिमार्जित होती रहती हैं। उदाहरण के लिए, मछली को अपना भोजन जहाँ-कहीं भी मिलेगा, वह तुरंत उसे मुँह में डालने को दौड़ेगी, फिर चाहे उसे मछुवे के जाल में ही क्यों न फँस जाना पड़े! परन्तु आदमी हर जगह खाना देखते ही टूट नहीं पड़ेगा, यद्यपि उसमें भी खाद्य पदार्थ को उदरस्थ करने की स्वयंभू वृत्ति का अभाव नहीं है। वह अवश्य ही शत्रु, मित्र, समय, असमय आदि का विचार करेगा। यहाँ केवल बुद्धि से वृत्ति का परिमार्जन हो गया है, अन्यथा दोनों में कोई अन्तर नहीं होता।

मनोविज्ञानशास्त्र के कुछ पंडितों का मत है कि मनुष्य में स्वयंभू वृत्तियाँ बिलकुल होती ही नहीं हैं, और इस विषय पर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। किन्तु 'आचरणवादी मनोविज्ञान' (Behaviourist School of Psychology) ने इस मत के विरोधी मत को एक

प्रकार से स्थापित कर दिया है। प्रमुख 'आचरणवादी मनोविज्ञान-शास्त्री' डॉक्टर वाट्सन ने इस विषय पर काफ़ी खोज की है और वह इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि बच्चा अपनी पैदाइश के तीस दिनों के भीतर ही स्वयंभू वृत्तियों की विद्यमानता का परिचय निम्न-लिखित आचरणों के द्वारा देना प्रारंभ कर देता है:—

(१) अगर उसके किसी गाल अथवा ठुड्डी को उँगली से धीरे से छुआ जाय, तो बच्चा अपनी पैदाइश के थोड़ी ही देर बाद अपना सिर इस तरह घुमायेगा कि वह अपना मुँह हमारे हाथ के सम्पर्क में ला सके।

(२) वह किसी चीज़ को पकड़ सकता है और उसे पकड़कर उस पर अपने को सँभाल सकता है।

(३) नाक को हल्के-हल्के दबाने से वह रक्षात्मक ढंग से अंग-संचालन कर सकता है। इस विशेष उदाहरण से साफ़ ही है कि उक्त स्वाभाविक प्रत्याचरण यांत्रिक क्रिया नहीं है।

(४) वह प्रकाश को ग्रहण कर सकता है।

(५) आँखों और हाथों का कर्तृत्व-सामंजस्य स्थापित हो जाने पर वह सामने से दिखाई जानेवाली चीज़ की ओर हाथ फैलाता है।

(६) वह भयजनित प्रत्याचरण कर सकता है, यदि (अ) उसे एक ऊँचाई से गिराने की स्थिति में लाया जाय, (ब) ज़ोर का शब्द किया जाय, (स) सोते में धक्का दिया जाय, (द) उनींदी हालत में उसका ओढ़ना खींचा जाय, इत्यादि। इस अवस्था में प्रत्याचरण तरह-तरह से होते हैं—जैसे, साँस का अकस्मात् रुक जाना, हाथ से जिस किसी चीज़ को पाकर पकड़ लेना, अकस्मात् आँखें बन्द कर लेना, ओंठ सिकोड़ना, फिर रोना आदि।"

डाक्टर वाट्सन ने अपने द्वारा प्रस्तुत की गई एतत्-सम्बन्धी सूची की पूर्णता का दावा नहीं किया है और न उपरोक्त सूची में डाक्टर वाट्सन द्वारा प्रस्तुत सारे आचरण प्रत्याचरण ही में शामिल किये गये हैं। इनके अतिरिक्त भी अनेकों इस तरह के आचरण बताये जा सकते हैं। यह सब होने पर भी इस बात के लिए पर्याप्त उदाहरण मौजूद हैं कि अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य के बालक में मिश्रित (Complex) कार्य करने की आन्तरिक वृत्ति कम होती है। कई प्राणियों के मुक़ाबले मनुष्य जीवन-युद्ध के लिए एक असज्जित और अरक्षित सैनिक ही है। कई प्रकार के प्राणियों में स्वरक्षा की शक्ति और वृत्ति पैदाइश से ही रहा करती है। इसके विपरीत मनुष्य पर्याप्त बाह्य सहायता के बिना स्वरक्षा का सामर्थ्य नहीं प्राप्त कर सकता। फिर भी मनुष्य अपनी स्वयंभू वृत्तियों के अभाव की पूर्त्ति अनुभव और शिक्षा द्वारा कर लेता है; क्योंकि वह आदतें पैदा करने और पिछले अनुभवों के परिणामों का चेतनापूर्वक उपभोग कर सकने की भी शक्ति रखता है।

अब कुछ प्रमुख स्वयंभू वृत्तियों पर अलग-अलग ध्यान दिया जाय।

१. जिज्ञासा या जानने की इच्छा—यह एक प्रबल स्वयंभू वृत्ति है। यद्यपि यह प्रवृत्ति कई अन्य प्राणियों में भी होती है, पर मनुष्य में इस प्रवृत्ति का जितना विकसित रूप दृष्टिगोचर होता है, उतना अन्यत्र नहीं। जो वस्तुएँ आकर्षक होती हैं—जैसे रंगीन, चमकीली, विचित्र—उनकी ओर बच्चे का ध्यान तुरंत जाता है और यदि वे पहुँच के भीतर हुई, तो उन्हें प्राप्त करने की चेष्टा संबंधी आचरण करने लगता है। इसीलिए 'शिक्षा-मनोविज्ञान' के पंडितों के प्रभाव से आजकल पाठ्यक्रम में दस्तकारी और वस्तुपाठ पर अधिक ज़ोर दिया जाता है, क्योंकि इनमें बच्चे चीज़ों को छूते, उठाते तथा देखते हैं और इस कारण उन चीज़ों के बारे में वे जो कुछ भी सीखते हैं, उसे कभी भूलते नहीं। यह तो हुई इन्द्रिय-ज्ञान की पिपासा।

दूसरी होती है बुद्धयात्मक जिज्ञासा, जिससे बाह्य जगत् की चीज़ों को देखने आदि से कोई सम्बन्ध नहीं होता, वरन् वस्तुओं का कारण ढूँढ़ने, ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी विचारों की तह ढूँढ़ने आदि का काम होता है। इस प्रवृत्ति को भी यदि प्रारंभ में अभ्यस्त होने का अवसर नहीं मिलता, तो फिर बाद को प्रायः वह अविकसित ही रह जाती है।

२. अनुकरण—मनुष्य में यह शक्ति सब प्राणियों से अधिक होती है। बच्चा जैसी संगति में रहता है, वैसी ही आदतें वह सीखता है। हमारी भाषाएँ, हमारे कला-कौशल, हमारी विद्याएँ, हमारी संस्थाएँ, हमारे रीति-रिवाज, हमारा पहनावा आदि सब अनुकरण ही के फल हैं। प्रायः देखा गया है कि एक कुटुम्ब के सब आदमियों के हस्ताक्षर एक ही प्रकार के होते हैं और चाल भी प्रायः एक ही तरह की। ऐसे आदमियों की भी बातें आपने सुनी होंगी, जिन्हें बचपन में भेड़िये उठा ले गये थे। वे भेड़ियों के बीच रहे और उन्हीं का अनुकरण करके भेड़ियों-जैसे ही हो गये। हाथ-पैरों के बल चलना, कच्चा मांस खाना, 'ऊँ' 'ऊँ' के सिवा और शब्द न उचारण कर सकना, मनुष्य से दूर

भागना, जंगली जीवों का शिकार करना आदि बातें उनके स्वभाव-सी हो गईं।

अनुकरण का प्रभाव बोली पर बहुत अधिक होता है। एक स्थान के निवासी प्रायः एक ही प्रकार का उच्चारण करते हैं। कहा जाता है कि जो लोग जन्म से गूँगे और बहरे होते हैं, वे यथार्थ में बहरे ही रहते हैं। उनके कंठ या जिह्वा आदि शब्दोच्चारक यंत्रों में कोई बुराई नहीं होती। परन्तु शब्द न सुन सकने के कारण वे उनका अनुकरण नहीं कर सकते और उनमें मूकता आ जाती है।

स्पर्धा, ईर्षा आदि भी अनुकरण ही से पैदा होती हैं। कोई आदमी कोई काम किसी तरह से करता है, उस काम को दूसरा आदमी भी उसी तरह करने का प्रयत्न करे तो हम उसे अनुकरण कहते हैं। साधारण अनुकरण में यह इच्छा नहीं होती कि जो कुशलता पहले आदमी ने दिखाई, वही दूसरा भी दिखावे। परन्तु यह इच्छा जब क्रमशः बढ़ जाती है, तब उस प्रवृत्ति को स्पर्धा कहते हैं। स्पर्धा में आदमी को यह इच्छा रहती है कि जो काम अन्य लोग करते हैं वही मैं भी करूँ और उसका परिणाम औरों के परिणाम से किसी तरह बुरा या कम न हो, वरन् जहाँ तक हो सके, उससे अधिक अच्छा ही हो। यही शक्ति जब खूब प्रबल हो जाती है, अर्थात् आदमी के मन में जब यह इच्छा पैदा होती है कि मेरा महत्त्व औरों के महत्त्व से अधिक हो जाय, तब उसे औरों की उन्नति अच्छी नहीं लगती और अपनी उन्नति न कर सकने पर वह औरों की अवनति चाहने लगता है। इसे ईर्षा कहते हैं।

सारांश यह कि स्पर्धा और ईर्षा भी अनुकरण के ही रूप हैं। जहाँ तक अपनी उन्नति करने की इच्छा रहे और उस उन्नति के लिए उचित साधन काम में लाये जायँ, वहाँ तक कोई हानि नहीं; किन्तु अपना महत्त्व बढ़ाने के लिए जब दूसरों की हानि सोची जाती है, तब वह कार्य बुरा कहा जाता है।

३. स्वत्व—अपनी संपत्ति, अपने वस्त्र, अपने घर और अपने कुटुम्ब के लिए मनुष्य का बड़ा पक्षपात होता है। जो वस्तु अपनी है, उसकी रक्षा के लिए लोग कुछ भी उठा नहीं रखते। त्यागी-संन्यासियों की भी ममता अपने-अपने दंड-कमंडल और कोपीन आदि पर होती है।

जन्म से दूसरे ही वर्ष से यह प्राकृतिक शक्ति पैदा होने लगती है और बच्चे की ममता अपनी चीज़ों पर अधिकाधिक होती जाती है। स्वत्व की जो स्वयंभू प्रवृत्ति है, वह मानव स्वभाव की उस असहायावस्था की देन है, जब जीवन अरक्षित तथा खतरों से भरा रहता था। बाद को विकास के क्रम में यही प्रवृत्ति 'स्वत्व की होड़' के रूप में आकर घोर सामाजिक वैषम्य का कारण हुई।

४. विधायकता—विचार करके देखने पर हमें ज्ञात होगा कि ८-१० वर्ष की अवस्था तक बच्चों का काम चीज़ के तोड़ने-फोड़ने और फिर उन्हें जोड़ने-जाड़ने के सिवा कुछ नहीं होता है। आप हज़ार उपाय करें कि बच्चा चुपचाप ही रहे और चीज़ न छुए, परंतु वह न मानेगा। अवकाश पाकर चीज़ों को उठाएगा, छुएगा, खोलेगा, बन्द करेगा, बजावेगा, चाटेगा, फेंकेगा, तोड़ेगा, फिर बनाने की कोशिश करेगा, उन पर हाथ फेरेगा, चढ़ेगा, उन्हें अपने सिर पर रखेगा, नापेगा और न-जाने क्या-क्या करेगा। इन सब कामों का मतलब क्या है? मतलब यही है कि बच्चा जिन चीज़ों के बीच रहता है, उनके संपूर्ण लक्षण और धर्म जानने, उनके आकार और वज़न आदि का अन्दाज़ा करने, उनकी बनावट से परिचित होने का यत्न करता है। लोक-दृष्टि से बनाना और बिगाड़ना परस्पर विरुद्ध बातें हैं; परन्तु बच्चे के लिए उनका महत्त्व समान है, क्योंकि दोनों ही दशाओं में वस्तुओं के वर्त्तमान रूप में कोई-न-कोई परिवर्त्तन ही किया जाता है।

अब प्रत्यक्ष है कि बच्चों को जितनी ही चीज़ों को छूने, हटाने, देखने, बनाने आदि का मौक़ा मिलेगा, उतनी ही चीज़ों का उन्हें पूरा परिचय प्राप्त होगा। जो ज्ञान उन्हें केवल पुस्तक द्वारा होगा, वह सदा कच्चा बना रहेगा। इसी कारण आधुनिक शिक्षा में यथार्थ वस्तुओं को सामने रखकर शिक्षा देने पर ज़ोर दिया जाता है।

इसी प्रवृत्ति से लाभ उठाने के लिए बड़े-बड़े स्कूलों में मिट्टी के खिलौने बनवाये जाते हैं। लकड़ी का काम सिखाया जाता है। काग़ज़ काटकर उनमें अनेक चीज़ों के नमूने तैयार कराये जाते हैं। कमरा और मैदान आदि बच्चों से नपवाकर उनके नक़्शे बनवाये जाते हैं। ये काम इसलिए कराये जाते हैं, जिससे बच्चों को अपने इर्द-गिर्द की वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो।

५. भय—यह एक अत्यंत प्रबल स्वयंभू वृत्ति है। इससे बड़े-बड़े काम लिये जाते हैं। बहुतेरे बुरे आदमी केवल राजदण्ड ही के डर से नीति पर चलते हैं। बच्चे घर पर हौआ से डरकर माता-पिता की आज्ञा मानते हैं। स्कूल में दंड का भय रहता है, इसलिए लड़के सबक़ याद करते हैं।

६. प्रेम—यह प्रवृत्ति मनुष्य में बहुत ही ज़ोरदार है। इसके बारे में बड़े-बड़े विवादास्पद प्रश्न मनोविज्ञान-शास्त्रियों ने खड़े किये हैं, जिनका विस्तृत विवेचन हम आगे करेंगे।
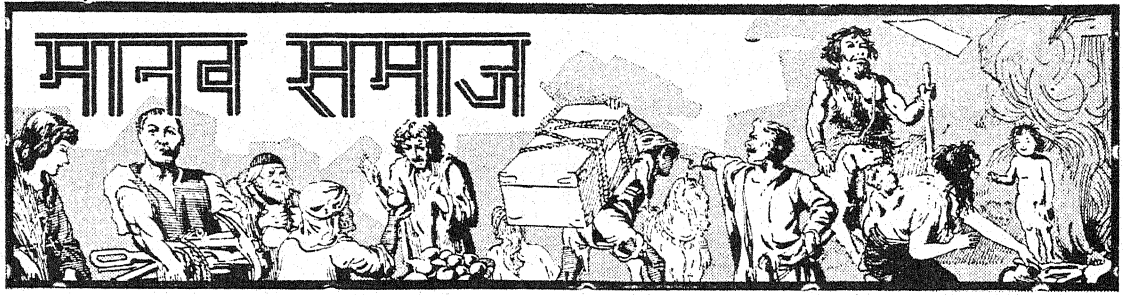
विवाह-पद्धति—उसका प्रारम्भ, वर्त्तमान रूप और भविष्य- (१)

मानव समाज की सबसे छोटी सुसंगठित संस्था "परिवार" की उत्पत्ति और विकास के सिलसिले में विवाह-प्रणाली का अध्ययन अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि विवाह-प्रथा की नींव पर ही परिवार की इमारत खड़ी की गई है।

पिछले लेख में मानव परिवार के उत्थान और विकास पर प्रकाश डाला गया था। परिवार का जन्मदाता मनुष्य का एक पुराना और कहीं-कहीं धार्मिक संस्कार विवाह है। स्त्री व पुरुष का नियमपूर्वक सहवास विवाह कहलाता है। बिना विवाह के, अथवा यों कहिये कि विवाहित जीवन के बिना, परिवार का जन्म हो ही नहीं सकता। इसलिए परिवार का विवाह से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी कारण से परिवार के वर्णन में बहुधा विवाह के नियम, रंग-ढंग, पद्धति इत्यादि का वर्णन सम्मिलित होता है। इस और आगे के लेख में विवाह-पद्धति पर पूरा विचार किया जायगा।

मनुष्य के जीवन में विवाह एक महत्त्वपूर्ण संस्कार है। बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि इसी पर मनुष्य के जीवन का सुख निर्भर है। यह स्पष्ट है कि मनुष्य के स्वाभाविक वेगों में काम-वेग भी एक विशेष महत्त्व रखता है, जिसको असाधारण व्यक्तियों को छोड़कर अन्य मनुष्य पराजित नहीं कर सकते। जिस प्रकार मनुष्य-समाज ने अपनी बुद्धि तथा आचरण से जाँचकर प्रत्येक कार्य की पूर्ति के नियम बनाये हैं, उसी प्रकार स्त्री-पुरुष की काम-वासना की पूर्ति के भी नियम बने हैं, जो भिन्न-भिन्न देशों और वातावरण में प्रयोग के बाद सुगम तथा लाभदायक प्रमाणित हुए हैं।

विवाह की रीति तथा नियम हर समय और हर देश में पृथक्-पृथक् रहे हैं और यह विभिन्नता अब भी अधिकांश में पाई जाती है। यह भी कहा जा सकता है कि एक ही काल में भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न विवाह-प्रथाएँ प्रचलित रही हैं। लिटोरनियो ने अपनी पुस्तक में कई अद्भुत प्रकार के विवाहों का वर्णन किया है। उनमें से कुछ नीचे लिखे जाते हैं—

(क) मैलानेशिया में बोचीमन्स (Bochimans) जाति में स्त्रियाँ उधार या बदले में दी जाती हैं और दो, मित्रों या दो व्यक्तियों का अपनी स्त्रियों को एक नियमित समय के लिए बदलना न्याय-विरुद्ध नहीं समझा जाता।

(ख) कनाडा के रेडस्किन (Redskins), तथा ओटोमी (Otomies), सन्ताल (Santals) और तार-तार (Tartars) जातियों एवं लंका के रहनेवालों में विवाह जाकड़ अथवा परीक्षा के बाद फेरने की शर्त्त पर होता है। अर्थात् यदि कोई व्यक्ति विवाह करे, तो उसे विवाह के एक से पन्द्रह दिन तक या किसी और नियमित समय तक स्त्री से असन्तुष्ट होने पर विवाह-विच्छेद का अधिकार होता है; या यों कहिए कि विवाह नियमित समय के न बीतने तक पक्का नहीं माना जाता।

(ग) मरक्को व टेपीरीज़ (Tapyres) में अल्प-सामयिक विवाह होते हैं। यहाँ कोई चाहे तो कम-से-कम ६ महीने तक के लिए विवाह कर सकता है।

(घ) अरब में यह नई रीति है कि विवाह हफ़्ते में कुछ खास दिनों के लिए होता है, जैसे हर सप्ताह के तीन दिन अमुक स्त्री अमुक पुरुष से दाम्पत्य सम्बन्ध रक्खेगी और बाक़ी दिनों में उस पुरुष का उस स्त्री पर कोई अधिकार नहीं होगा। वहाँ स्त्रियाँ मोल लेने की भी प्रथा है और इसके उपलक्ष में स्त्री के पिता को मूल्य के रूप में पशु दिये जाते हैं।

विवाह के नियमों का ऐतिहासिक अध्ययन करने के लिए हम उस समय से आरम्भ करते हैं, जिसे 'मृगया का समय' (Hunter's Stage) कहते हैं। इस समय मनुष्य खेती इत्यादि से अनभिज्ञ थे और उनका आहार केवल पशुओं का मांस था। उनका न कोई घर था, और न कोई निश्चित टिकने का स्थान। जंगल-जंगल घूमना, आखेट करना और उदर-पालन करना ही इनके मुख्य कर्त्तव्य थे। ऐसे समय में विवाह के नियम क्या रहे होंगे, इसका जानना सरल नहीं। कुछ लेखकों का, जिनमें मैकलिनेन और मारगन भी सम्मिलित हैं, यह मत है कि प्राचीन काल में समाज पूर्णतया अविवेकी था; अर्थात् अपनी तथा पराई स्त्री का कोई भेद न था। एकव्रत की प्रथा समाज में अल्पकाल से प्रचलित मानी गई है और इसका कारण मनुष्य की शिक्षा व नैतिक उन्नति ही है।

इन विचारकों का यह तर्क मातृवंशी परिवारों की स्थिति पर निर्भर है। उनका कथन है कि इस प्रकार के परिवार अथवा स्त्रियों का पारिवारिक साम्राज्य पूर्वकाल में पाया जाता था। उन दिनों अविवेकता के प्रचलित होने का प्रमाण यह है कि उस समय किसी एक पुरुष का उस स्त्री से, जिसके साथ वह एक क्षण के लिए एक स्थान पर पत्नी-सदृश व्यवहार करता था, कोई चिरस्थायी सम्बन्ध नहीं रहता था और न कोई स्त्री ही किसी विशेष पुरुष को अपनी नवजात सन्तान का पिता बतला सकती थी; अतः पिता का ज्ञान न होने से माता ही बालक की पूर्ण रूप से रक्षक होती थी। इसलिए माता को शिशु पर पूर्ण अधिकार प्राप्त थे और वही बालक का शिशुकाल में निरीक्षण करती थी।

वेस्टरमार्क ने इस मत का खण्डन किया है और यह प्रमाणित किया है कि पूर्वकाल में समाज अधिकांश में एकव्रत (Monogamous) था और अविवेकता बहुत कम थी। उनके प्रमाण ये हैं—

(अ) उच्च श्रेणी के पशुओं में भी पति-पत्नी के समागम के निश्चित नियम हैं और इनमें भी एकव्रत ही अधिकांश में प्रचलित है। उदाहरण के लिए वैज्ञानिकों का कथन है कि चिम्पान्ज़ी और गोरिल्ला जाति के मानवसम बन्दर भी एकव्रत होते हैं।

(ब) अविवेकी समागम की प्रथा का प्रचलित होना इसलिए भी सम्भव नहीं हो सकता था कि ऐसा करने से शरीर-शास्त्र के अनुसार स्त्री बन्ध्या हो जाती है और इस प्रकार जाति की वृद्धि नहीं हो सकती।

(स) मनोविज्ञान के निरीक्षण से भी ज्ञात होता है कि अविवेकी समागम होना इसलिए असम्भव था कि पुरुष में अपनी स्त्री के साथ दुराचार करनेवाले परपुरुष के प्रति द्वेषभाव उत्पन्न होना बिलकुल स्वाभाविक है। यह द्वेष का भाव अविवेकी समागम की प्रथा को सदैव रोकता रहता है।

(ड) एक अन्य लेखक डाऊ ने एक और कारण यह भी बतलाया है कि सन्तानोत्पत्ति के समय स्त्री को किसी बाहरी व्यक्ति की शारीरिक सहायता की आवश्यकता होती है और ऐसे समय में उसे अपने पति के अतिरिक्त किसी दूसरे से इस प्रकार की सहायता की सम्भावना नहीं हो सकती। इस दृष्टि से भी आरंभिक युग में अविवेकी समागम की प्रथा होना कम संभव प्रतीत होता है।

तथापि हम निर्भीक होकर यह नहीं कह सकते कि केवल एकव्रत जनसाधारण का नियम था। देश तथा काल के अनुसार थोड़ा-थोड़ा अन्तर अवश्य हुआ होगा, जैसा कि वंश-संगठन के संबंध में हम पाते हैं। परन्तु मैकलिनेन और मारगन के मत का खण्डन करना ही पर्याप्त नहीं है; क्योंकि इस तरह किए गए खंडन के आधार पर मातृवंशी संस्था को हम एकदम भूल नहीं सकते। निश्चय ही मातृवंशी संस्थाएँ संसार के कुछ भागों में पाई जाती थीं और उनकी स्थिति पर प्रकाश डालना आवश्यक है। मातृवंशी संस्था की स्थिति का कारण यह बतलाया गया है कि उस समय माता का अपनी सन्तान के पालन में अत्यावश्यक भाग था; बल्कि यों कहिये कि माता ही पर संतान का पालन-पोषण निर्भर था और इसी कारण माताएँ उनकी अधिष्ठात्री होती थीं। अब प्रश्न यह है कि पिता अपने उत्तरदायित्व से क्यों छुटकारा पा जाता था और बच्चों के पालन का पूर्ण भार माता ही पर कैसे रह जाता था? उस काल के इतिहास से ज्ञात होता है कि मनुष्य उस समय सन्तानोत्पत्ति तथा गर्भाधान के कारण तथा नियमों से अनभिज्ञ थे और संतानोत्पत्ति को वे किसी जादू एवं दैविक शक्ति की कृपा का फल समझते थे। अतः सन्तान के जन्म में पिता का उत्तरदायित्व नहीं समझा जाता था। इसीलिए पिता पर उस बालक के पालन-पोषण का भार भी नहीं होता था। दूसरा कारण यह भी था कि पिता शिकार के लिए सदैव इधर-उधर भटकता रहता था, इसलिए बच्चे की देख-रेख नहीं कर सकता था और इसका भार माता ही पर रह जाता था। इस प्रकार मातृवंशी संस्था की उत्पत्ति हुई। इस संस्था में उत्तराधिकार कन्याओं को प्राप्त होता था और वही पारिवारिक धन की स्वामिनी होती थीं। प्रत्येक कुल किसी एक स्त्रीवाचक गोत्र के नाम से प्रसिद्ध होता था। इस प्रकार उस समय

का समाज 'स्त्री-प्रधान समाज' था और उसमें स्त्रियों की मर्यादा बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। दक्षिण भारत में अब भी कुछ जातियाँ ऐसी हैं, जिनमें उत्तराधिकार कन्याओं को ही प्राप्त है, वहाँ पुत्र को पारिवारिक सम्पत्ति का भाग नहीं मिलता।

अर्थशास्त्र के अनुसार मातृवंशी संस्थाएँ उन स्थानों पर पाई जाती हैं, जहाँ स्त्रियाँ भोजन प्राप्त करने में बहुत सहायक होती हैं। उन देशों में जहाँ कृषि-उद्यम की अधिकता है, मातृवंशी संस्थाओं की स्थिति पाई जाती है; क्योंकि कृषि-विद्या को जन्म देनेवाली स्त्रियाँ ही मानी जाती हैं और आजकल भी वे इसमें अधिक सहायता देती हैं।

मातृवंशी संस्थाओं में कालान्तर में कहीं-कहीं एक नई प्रथा प्रचलित हो गई, जिसे बहुपतित्व (Polyandry) कहते हैं। बहुपतित्व (अर्थात् एक स्त्री का कई पुरुषों से दाम्पत्य सम्बन्ध करना) उन स्थानों पर प्रचलित हुआ, जहाँ की आर्थिक दशा बुरी थी और जहाँ उदर-पालन दुष्कर था; जैसे तिब्बत या आसाम की पहाड़ियों में। बहुपतित्व प्रथा मुख्यतः तीन प्रकार की होती हैं—नेयरों-जैसी (Naire type); तिब्बतन ढंग की (Tibetan type) और टोडो-जैसी (Todatype)। नेयरों के बहुपतित्व में एक स्त्री के अनेक पतियों में कोई सम्बन्ध नहीं होता; तिब्बतन बहुपतित्व में स्त्री अपने पति तथा उसके भाइयों की ही पत्नी होती है और टोडा बहुपतित्व में पत्नी और उसकी बहनें पति और उसके भाइयों की स्त्रियाँ हो जाती हैं।

इन मातृवंशी संस्थाओं का क्रमशः टूटकर पितृवंशी संस्थाओं के रूप में परिवर्त्तन होने का इतिहास परिस्थिति, आवश्यकताओं, तथा उन पर निर्भर वैवाहिक नियमों से जाना जा सकता है। प्रारम्भिक समय में विवाह प्राकृतिक आकर्षण से ही होते थे और वैवाहिक सम्बन्ध के लिए स्त्री-पुरुष का समागम पारस्परिक आकर्षण-शक्ति पर ही निर्भर था। इसी प्रकार उन दिनों के वैवाहिक जीवन का अन्त स्त्री-पुरुष के प्रेम व आकर्षण में शिथिलता आ जाने पर होता था। इस तरह के विवाह मातृवंशी संस्थाओं के युग में हुआ करते थे। इसके बाद चरवाहों के समय में मनुष्य की सम्पत्ति की नाप उसकी स्त्रियों तथा बच्चों की संख्या से होने लगी; क्योंकि बड़ा परिवार अधिक पशुओं की देख-रेख कर सकता था। अतएव अब पुरुष ने अपनी स्त्री को अपने घर लाने का विचार किया। ऐसा निश्चय करने पर पुरुष ने स्त्री को चुराना व बलपूर्वक हरण करना भी प्रारम्भ किया और हरण की हुई स्त्री पर प्रभुत्व स्थापन करके स्वयं ही उसकी और उसकी सन्तान की रक्षा का भार भी ग्रहण किया। इस प्रकार परिवार में माता के साम्राज्य के बदले अब पिता का राज्य हो गया। कन्याहरण में एक बड़ा अवगुण यह था कि कन्याहरण करनेवाले कुल के प्रति कन्या के कुलवालों के मन में अधिकतर द्वेषभाव उत्पन्न हो जाता था और इसके परिणामस्वरूप अनेक युद्ध भी होते थे। दोनों में से एक वंश दूसरे की अधीनता स्वीकार न कर लेता, तब तक युद्ध जारी रहता था और तब तक बंद नहीं होता था जब तक एक कुल नष्ट नहीं हो जाता था। इस खून-खराबी को बचाने के लिए स्त्री मोल लेने की प्रथा प्रारम्भ हुई और विवाह के समय कन्या के पिता को मूल्य देकर अब उसकी कन्या हरने की हानि की पूर्ति की जाने लगी।

मोल लेने की प्रथा से स्त्री की मर्यादा और भी घट गई, और वह अपने मोल लेनेवाले पति की दासी समझी जाने लगी। स्त्री की ऐसी हीन अवस्था के उदाहरण क़ुरान के कुछ शब्दों में मिलते हैं। पिता की अन्य सम्पत्ति के साथ-साथ उन दासियों पर भी, जो पिता की रखेली स्त्री (Concubines) की तरह रहती थीं, पुत्र का अधिकार होना, उनके साथ समागम का व्यवहार न्याय-संगत होना आदि इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि स्त्रियों की गणना सामान्य धन-सम्पत्ति की तरह होने लगी थी और उनका कोई विशेष मान नहीं किया जाता था। एक स्थान पर क़ुरान में यहाँ तक आज्ञा है कि "उन स्त्रियों को, जो अपने पति की आज्ञाकारिणी न हों, दण्ड भी दिया जा सकता है, परन्तु जब वे आज्ञा मानने लगें, तो उन्हें व्यर्थ कष्ट मत दो।" स्त्रियों के मोल लेने के बारे में क़ुरान में लिखा है कि "तुम धन देकर स्त्रियाँ प्राप्त कर सकते हो, पर जिसके साथ भी समागम करो उसे निश्चय किया हुआ दहेज या मेहर अवश्य दे दो।"

इन प्रथाओं के बढ़ने से बहुपत्नित्व के विचार पैदा होने लगे। बहुपत्नित्व—अर्थात् एक पति का एक से अधिक स्त्रियों से वैवाहिक संसर्ग रखना—समाज में मर्यादा अथवा धनी होने का चिह्न माना जाने लगा और किसी व्यक्ति की प्रतिष्ठा का प्रमाण अब उसकी स्त्रियों की संख्या हो गई। क़ुरान और हिन्दू शास्त्रों में भी एक से अधिक विवाह करने की आज्ञा है। हिन्दू-समाज में कुलीन जाति के पुरुषों के अब भी अनेक विवाह होते हैं। इस प्रथा की नींव इस विचार पर है कि कन्या विवाह द्वारा अपने से ऊँचे कुल में जाय। इसे समाज-शास्त्री ऊँचे कुल में विवाह करने की रीति (Hypergamy) कहते हैं।

क्रमशः बहुपत्नित्व (Polyandry) की प्रथा का लोप हुआ और उसके स्थान पर एकव्रत नियम की दृढ़ स्थापना हुई। इस महत्त्वपूर्ण क्रान्ति के कई कारण हैं। मनुष्य की सभ्यता, स्त्रियों के व्यक्तित्व का विकास, व्यक्तिगत संपत्ति के भाव का प्रभुत्व, अनेक स्त्रियों के प्रति पुरुष के प्रेम तथा व्यवहार में असमानता और स्त्री-पुरुष के समान अधिकार के विचारों की पुष्टि इत्यादि इस महान् परिवर्त्तन के प्रमुख कारण हैं। वैसे तो किसी भी एक पुरुष की पत्नी बनने के लिए प्रत्येक स्त्री उपयुक्त है और इस विचार के अनुसार विवाह निश्चय करने में कोई असाधारणता होनी ही न चाहिए, परन्तु सम्पत्ति, शारीरिक आकर्षण और प्रेम ने आदि काल से ही पुरुष व स्त्री का प्राकृतिक सम्बन्ध निश्चय करने में असाधारण बाधाएँ उपस्थित की हैं और यही अन्त में बहुपत्नित्व से एकव्रत स्थापित होने के कारण हुए हैं। स्त्री मोल लेने की प्रथा ने धनरहित पुरुषों को बहुपत्नित्व प्रथा का पालन करने में असमर्थ कर दिया और किसी एक पुरुष की स्त्रियों की संख्या अब उसके धन के हिसाब से सीमित हो गई। केवल बहुधनी पुरुष ही बहुविवाह कर सकते थे। अतएव अधिकांश साधारण सम्पत्तिवाले व निर्धन एक अथवा दो विवाह से ही सन्तुष्ट रहने लगे। आर्थिक परिस्थिति ने इस प्रकार एकव्रत होने के लिए पुरुष को बाध्य किया। इससे मिलता-जुलता एक और कारण यह भी था कि मोल लेने के व्यवहार में धनी-मानी पुरुषों की कन्याएँ बहुत धन देकर ही प्राप्त की जा सकती थीं, जिस प्रकार किसी वीर बाला के हरण में बड़े-बड़े योद्धाओं के बलि की आवश्यकता होती थी। सांसारिक नियम है कि दुर्लभ्य वस्तु का आदर अधिक होता है। इस प्रकार अनेक स्त्रियों में धनी पुरुष की कन्याएँ विशेष पद को प्राप्त होती थीं। राजपरिवारों में रानी व पटरानी की कथाएँ आपने प्रायः सुनी होंगी। कहीं-कहीं तो कन्या का पिता जामातृ को वचनबद्ध करा लेता था कि वह उसकी कन्या को सब स्त्रियों से उच्च पद देगा। स्त्री को पतिगृह में उच्च पद प्रदान करने में उसके विशेष गुण व शारीरिक सौन्दर्य का भी हाथ था। सौन्दर्यपूर्ण स्त्रियों के पुरुषों पर राज्य करने का इतिहास आदि काल से आज तक मिलता है। कैकेई का राजा दशरथ पर अद्वितीय प्रभाव, शकुन्तला का दुष्यन्त पर अधिकार, संयोगिता के रूप का पृथ्वीराज पर छाया हुआ जादू, नूरजहाँ का जहाँगीर पर प्रभुत्व आदि की कहानियों से मानव इतिहास परिपूर्ण है। विशेष प्रेम व आदर का परिणाम यह हुआ कि पुरुष उन सौभाग्यशाली स्त्रियों के सम्मुख अन्य स्त्रियों की बात ही न सोच सका। इस प्रकार बहुपत्नित्व प्रथा को भारी ठोकर लगी। कहीं-कहीं यह भी प्रथा रही है कि पहली विवाहित स्त्री का पद अन्य स्त्रियों से ऊँचा माना जाता है। राज्याधिकारी सदैव प्रथम रानी के उदर से उत्पन्न पुत्र ही हुआ करता है। बहुपत्नित्व का एक कारण यह भी था कि अंधविश्वासवश समाज ने गर्भावस्था में पुरुष का स्त्री के निकट वास करना मना कर दिया था। सम्भवतः लोग गर्भाधान को किसी दैवी शक्ति अथवा जादू का फल समझते थे, अतः ऐसी दशा में पुरुष के सम्पर्क का निषेध था। स्त्री के विछोह की इस अवस्था में पुरुष दूसरा विवाह कर लिया करते थे। इस विश्वास के दुर्बल हो जाने से पुरुष के पुनर्विवाह की इच्छा शिथिल पड़ गई। सभ्य समाज में बहु सन्तान की भी आवश्यकता नहीं रही। पुरुष की शक्ति व मान सन्तान की संख्या पर निर्भर नहीं रहे, इसलिए सन्तान-वृद्धि के विचार से अनेक स्त्रियाँ रखने की आवश्यकता जाती रही। प्रेम का उज्ज्वल रूप प्रकाशित होने पर बहुपत्नित्व की हीन प्रथा का लोप होना निश्चय ही था। साथ-ही-साथ स्त्रियों में व्यक्तित्व (individualism) के विकास से एक नवीन जागृति पैदा हो गई। उन्होंने पुरुष के समान अधिकार प्राप्त करने की घोषणा की। इसका प्रभाव यह हुआ कि यदि स्त्री एक समय में अनेक पति नहीं रख सकती, तो पुरुष भी एक स्त्री के होते हुए अनेक पत्नियाँ नहीं कर सकता। इसी तरह के अधिकतर समानता के विचार समाज द्वारा स्वीकृत किये गये और इसके फलस्वरूप पाश्चात्य देशों में, जहाँ इसकी लहर पहले पहुँची थी, एकव्रत के नियम बन गये। ईसाई धर्म में केवल एक ही विवाह की अनुमति दी गई है। व्यक्तित्व के विकास के पूर्व ही व्यक्तिगत सम्पत्ति का भाव प्रबल हो चुका था और स्वाभिमानी स्त्रियाँ अपने पति पर केवल अपना ही व्यक्तिगत अधिकार समझती थीं जिसे वे किसी स्त्री से बाँटने को तैयार न थीं। इसके फलस्वरूप वेश्यागमन अथवा रखेली स्त्रियों के रखने की प्रथा प्रचलित हुई, क्योंकि पुरुष बहुगामी होते हुए भी खुले रूप से दूसरा विवाह नहीं कर सकता था और वेश्या व रखेली को पुरुष पर कोई समाज-रक्षित अधिकार प्राप्त नहीं था। इस प्रकार एकव्रत की प्रथा पुष्ट हुई और बहुपत्नित्व का विनाश हुआ। एकव्रत में स्त्री-पुरुष की मर्यादा बराबर है पर पूर्वीय देशों में स्त्री को अभी पूर्ण स्वतन्त्रता अथवा पुरुष के समान अधिकार प्राप्त नहीं हुए हैं, अतएव यहाँ वह अब भी पुरुष के अधीनस्थ होकर रहती है।

सभ्यताओं का उदय—(३) प्राचीन भारत की सभ्यता

नील और दजला-फ़रात नदियों की उपजाऊ तलहटियों में पनपनेवाली प्राचीनतम सभ्यताओं की झलक आपको पिछले दो लेखों में मिल चुकी है। आइए, अब और अधिक पूर्व की ओर मुड़ें और पाँच-छः हज़ार वर्ष पूर्व की एक और समकालीन सभ्यता का दिग्दर्शन करें, जिसके चिह्न सिन्धुनद की तलहटी में हाल में मिले हैं।

हमारे देश की रचना और सभ्यता का विकास उन्हीं प्राकृतिक नियमों के अनुसार हुआ है, जिनका दिग्दर्शन पिछले लेख में किया जा चुका है। भूगर्भ-वेत्ताओं की खोजों के अनुसार भारतवर्ष का स्वरूप और आकार युग-युग में बदलता रहा है। दक्षिण भारत का अन्तरीप पुरातन काल में पृथक् था। वह उस महाद्वीप का एक भाग था, जो दक्षिण अफ़्रीका से ऑस्ट्रेलिया और दक्षिण अमरीका तक फैला हुआ था। उस महाद्वीप के उत्तर में 'टेथाइस' नामक समुद्र योरप से लेकर बर्मा तक लहराता था। केवल अरावली पर्वत उस समुद्र में टापू की तरह दिखाई पड़ता था। कालान्तर में भौगोलिक परिवर्त्तनों के प्रभाव से हिमालय का प्रादुर्भाव हुआ, जिसकी तलहटी में विकराल वन फैला हुआ था। यह वन धीरे-धीरे कई युगों तक पीछे हटता और मैदान छोड़ता गया। यही मैदान आजकल वह भूभाग है, जो हिमालय और विन्ध्याचल के बीच में फैला हुआ है। इस प्रकार 'टेथाइस' समुद्र के सिकुड़ने और जलमग्ना भूमि के उभड़ने से उत्तरी और दक्षिणी भाग का संयोग हो गया; जिससे हमारे देश का आधुनिक आकार प्रकट हो गया।

इस देश में भी अन्य देशों की तरह अनेक जातियों और उपजातियों के लोग आते और बसते गये। उनमें सबसे पुराने लोग 'नेग्रिटोज़' माने जाते हैं, जिनके वंशज सुदूर दक्षिण और अण्डमन टापू में अब भी मिलते हैं। उनके बाद "प्रोटोऑस्ट्रेलायड" लोग आये, जिनके वंशज आजकल 'वेद्द' कहे जाते हैं। उनके पश्चात् 'मेलानेशियन' आये, जिनके वंशज आसाम और बर्मा की सरहद्द एवं मालाबार-तट और निकोबार टापू में हैं। उनके बाद ऐनाटोलिया (एशियाटिक टर्की) और आर्मीनियाँ की ओर से 'मेडिटरेनियन' और 'आर्मिनायड' लोग आये। ये लोग अपने से पूर्व आनेवाले लोगों से अधिक सभ्य थे। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि इन्हीं दोनों जातियों के सम्मिश्रण से 'सुमेरियन' लोग उत्पन्न हुए थे। तामिल प्रान्त में इनके वंशज पाये जाते हैं। इन दोनों जातियों के अलावा पामीर की ओर से 'अल्पाइन' लोग आये, जिनके वंशज मराठा देश, मैसूर और बङ्गाल में बसते हैं। पूर्व से आनेवाले लोगों में 'मङ्गोल' भी थे, जिनके वंशज ब्रह्मपुत्र नदी की तलहटी और आसाम में मिलते हैं। सारांश यह है कि हमारे देश की जनता और सभ्यता की सृष्टि में सारे एशिया की जातियों ने अपना-अपना अंश प्रदान किया है, और उनका सामूहिक प्रयत्न हमारे देश में गुप्त अथवा प्रकट रूप से केन्द्रित है।

उपर्युक्त सभी लोगों ने भारतीय सभ्यता के भाण्डार की पूर्ति में कुछ-न-कुछ भाग लिया है। कहते हैं कि 'नेग्रिटो' ने धनुष का आविष्कार किया था। 'प्रोटोऑस्ट्रेलायड' लोगों ने मिट्टी के बरतनों का बनाना शुरू किया। इनकी भाषा मुण्डा थी, जो अब तक लद्दाख, शिकिम, सन्थाल परगना और छोटा नागपुर, मध्य-प्रान्त, गञ्जाम और विज़िगापटम में बोली जाती है। इन लोगों का स्वतंत्र ग्रामीण जीवन और संगठन था। इनके अपने रीति-रिवाज थे। जाति-भोज के रूप में जुर्माना देने अथवा जाति-बहिष्कार करने की प्रथा इन लोगों में प्रचलित थी। ये लोग वृक्षों की और उन पर रहनेवाले देवों और देवियों की पूजा बलि चढ़ाकर करते थे। आर्यों के पूर्व आनेवाले लोगों में 'मेडिटरेनियन' और 'आर्मीनायड' लोग सबसे सभ्य थे। इनकी भाषा 'द्राविड़ी' थी। इन्होंने सिन्धुनद की तलहटी में सभ्यता का अच्छा और विशद विकास किया।
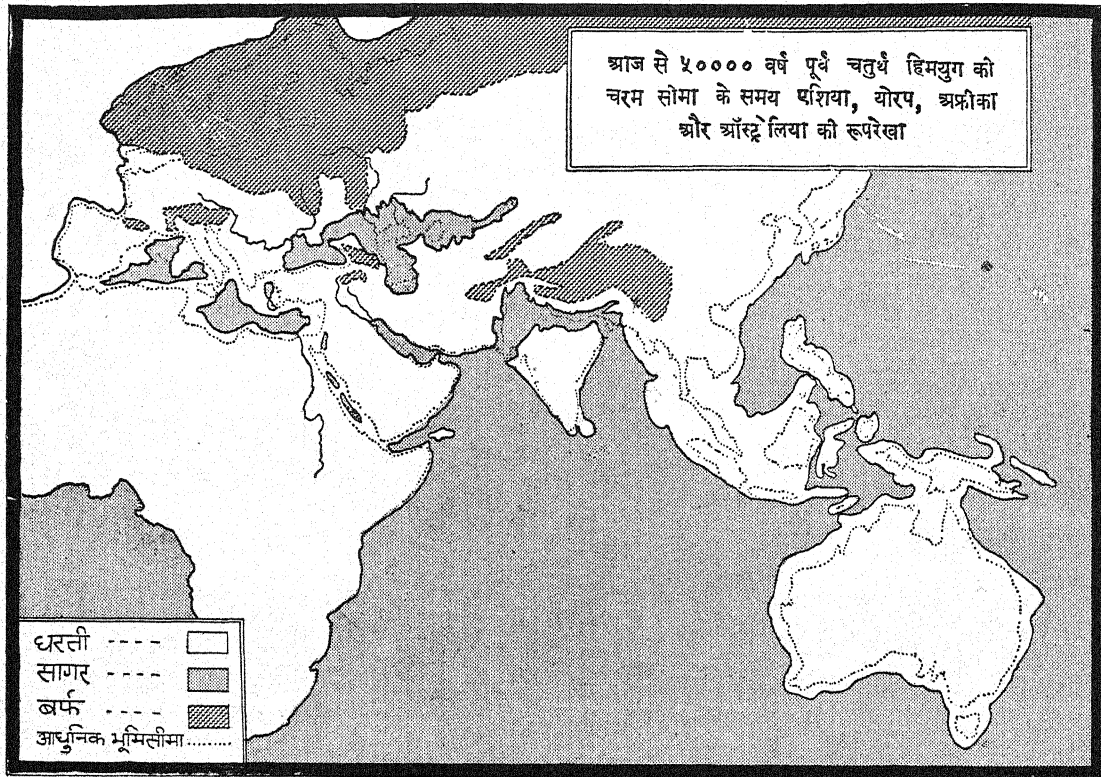
भूगर्भवेत्ताओं का कथन है कि पृथ्वी पर होनेवाले भौगर्भिक परिवर्त्तनों के फलस्वरूप युग-युग में धरातल की रूपरेखा बदलती रही है। आज से केवल ५० हजार वर्ष पूर्व ही, जब कि पृथ्वी पर निएण्डरथैल जाति के मानव विचरते थे, पूर्वी गोलार्द्ध के जल और स्थल भाग का संभवतः ऐसा ही रूप रहा होगा, जैसा इस नक़्शे में दिखाया गया है। इस युग में भारत का दक्षिणी भाग उत्तरी भाग से बिल्कुल कटा हुआ था, और गंगा-सिंधु के मैदान में महासागर लहराता था!

आर्यों के आने के पहले ही इन्होंने हिन्दू-धर्म के प्रारंभिक रूप-रेखा की रचना की थी। वेदों में इनका उल्लेख मिलता है। ये धनवान् थे, सिक्कों का प्रयोग करते थे, सुन्दर नगरों में रहते थे, जिनकी रक्षा के लिए पत्थर और लौह के क़िले इन्होंने बनाये थे। इनका व्यापार जल-थल-मार्ग से होता था। अनुमान किया जाता है कि इन्हीं लोगों ने आर्यों का घोर विरोध किया था, और ये ही मोहनजोदड़ो की सभ्यता के निर्माता थे।

हमारे देश का सबसे प्राचीन भूभाग दक्षिण है। यहाँ पुराने पत्थर-युग की चीज़ें बहुतायत से पाई जाती हैं। मद्रास, गन्टूर, कड़ापा ज़िलों में उस युग की चीज़ें प्रायः मिलती हैं। किन्तु नए पत्थर-युग के चिह्न सारे हिन्दुस्तान में बिखरे हुए मिलते हैं। पत्थर के छोटे-छोटे औज़ार मिर्ज़ापुर ज़िला, रीवाँ, बघेलखण्ड, छोटा नागपुर, आसाम और बर्मा आदि में मिले हैं। पत्थर के पालिशदार बड़े-बड़े औज़ार, उनके बनाने के साधन और कुम्हार के चाक से बनाये हुए मिट्टी के बरतन दक्षिण में, विशेषतया बिलारी ज़िले में, मिलते हैं। पत्थर की शिलाओं पर नक्काशी का काम और चित्र मिर्ज़ापुर, होशङ्गाबाद, सिंहनपुर एवं कैमूर की पहाड़ियों में पाये गये हैं। सिंध और दक्षिण में नये युग की कुछ क़ब्रें भी मिली हैं, जिनमें मिट्टी के बरतन आदि पाये जाते हैं।

पत्थर-युग के बाद दक्षिण में तो लोहे के और उत्तर में ताँबे के युग का आरम्भ हुआ। यद्यपि इधर-उधर कभी-कभी कुछ काँसे की चीज़ें भी मिलती हैं, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे देश में कभी काँसे का युग हुआ ही नहीं। हुगली नदी से सिन्धुनद तक और हिमालय से कानपुर ज़िले तक ताँबे के युग के ताँबे के बने हुए हथियार मिलते हैं। किन्तु सबसे बड़ा ज़ख़ीरा मध्य-भारत के गङ्गेरिया नामक गाँव में मिला है। पत्थर-युग अथवा

आदिम ताम्रयुग की इतनी सामग्री हमें नहीं मिलती कि उस समय के जीवन, रहन-सहन आदि की हम साफ़ तस्वीर खींच सकें। किन्तु यह धुँधलापन अब से सवा पाँच हज़ार वर्ष हुए हटता हुआ दिखाई देता है। हमारे देश की प्राचीन सभ्यता का कुछ-कुछ दर्शन सिन्धुनद की तलहटी में होता है। पुरातत्व-वेत्ताओं का कथन है कि सिन्धुनद और सिन्ध प्रदेश की मिहरान नामक लुप्त नदी की तलहटी में भी सभ्यता का आदिम विकास उसी तरह से और उसी समय में हुआ, जैसे कि फ़ारस की हेलमन्द, क़ारून और करखेह नदियों, मध्य एशिया की सिर और आमू, मसोपटेमिया की दजला और फ़रात तथा मिस्र की नील नदी की तलहटियों में हुआ था। मिस्र देश का सबसे पुराना पिरामिड जिस समय बनना शुरू हुआ, उस समय मोहनजोदड़ो उन्नति की चोटी पर पहुँच चुका था। ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्धु-नद के तटस्थ नगर उस समय मसोपटेमिया, एलाम आदि प्रदेशों से कुछ व्यापार भी करते थे। सम्भव है कि इन सबका आपस में और भी गहरा सम्बन्ध रहा हो। मेकडानेल की राय में सिन्धुतटवालों ने अपनी सभ्यता सुमेरिया से ली थी। इसके विपरीत हाल की सम्मति में सुमेरियावालों ने ही सभ्यता सिन्धु-तटवालों से सीखी। किन्तु वूली का अनुमान है कि सुमेरिया और सिन्धु तटवालों की सभ्यता का उद्गम उनसे भी पूर्व की सभ्यता है, जिसका विकास बिलूचिस्तान में अथवा उसके आस-पास ही कहीं पर हुआ था। चाइल्ड का मत है कि सिन्धु-नद के तट की सभ्यता सुमेरिया की सभ्यता से पुरानी है।

मध्य भारत में प्राप्त ताम्र-युग के कुछ ताँबे और हथियार के औज़ार

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की सभ्यता के निर्माताओं का पता निश्चित रूप से अभी तक नहीं चला है। ऊपर कहा जा चुका है कि कुछ विद्वान् उनको द्राविड़ जाति का मानते हैं, जो भूमध्य सागर के आसपास से दक्षिण एशिया में फैली हुई थी। कुछ विद्वानों का यह मत है कि वे किसी एक विशेष जाति के न थे; उनका समाज तीन-चार जातियों के मेल से बना था। वे जातियाँ वे ही थीं, जिनके वंशज कोल, भील, गुजराती, मराठे, बङ्गाली और हिन्दुस्तानी हैं।

खुदाई करने पर मोहनजोदड़ो में एक-दूसरे पर पुरानी इमारतों की सात तहें मिली हैं। अनुमान किया जाता है कि सबसे नीचे की सतह के नीचे और भी तहें होंगी, जो पानी में डूबी हुई हैं। मोहनजोदड़ो में आज से पाँच हज़ार वर्ष पहले के पक्की ईंटों के बने हुए छोटे और बड़े मकान मिलते हैं। कोई-कोई मकान तो इतने बड़े हैं कि कोठी अथवा महल कहे जा सकते हैं। एक की लम्बाई ८५ फ़ीट और चौड़ाई ६७ फ़ीट है। उसमें ३२ फ़ीट का आँगन है। सड़क की तरफ़ ख़ास दरवाज़ा रहता था। उसमें घुसने पर आँगन मिलता था। आँगन के चारों तरफ़ कमरे या कोठरियाँ बनी थीं, जिनमें खिड़कियों से काफ़ी हवा और रोशनी आती थी। कोई-कोई मकानों की दीवारें चार या पाँच फ़ुट तक मोटी हैं। शायद कुछ मकान दो मंज़िल के भी रहे होंगे। दोनों मंज़िलों के कमरों की फ़र्श पक्की ईंटों की है। सीढ़ियाँ तंग और कुछ सीधी-सी बनी हैं। मकानों में अक्सर तहख़ाने बने होते थे। मकानों में कुएँ भी होते थे। कुछ कुएँ तो इस ढंग से बनवाये जाते थे कि मकान के अन्दर और बाहर दोनों ओर से काम में आ सकें। पानी के निकास के लिए ढँकी नालियाँ बनी रहती थीं। उनसे पानी एक हौज़ में गिरता था। नगर में बड़े हॉल, पक्के और बिटुमिन से पुते हुए तैरने के लिए सङ्गीन तालाब, नहाने के लिए गर्म हम्माम आदि बने हुए थे। संभव है कि वहाँ देवालय भी बने रहे हों। शहर की सड़कें पक्की बनाई जाती थीं। प्रत्येक गली, कूँचे और चौड़ी सड़कों से पानी के निकलने के लिए नालियाँ बनी हुई थीं।
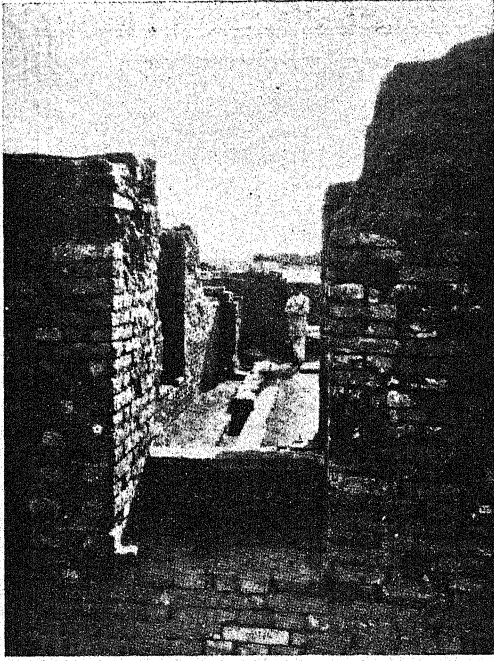
(ऊपर) बाईं ओर—मोहनजोदड़ो के ५००० वर्ष पूर्व के पक्की ईंटों के मकान, जिनमें पानी के निकास के लिए पक्की ढकी नालियाँ बनी हैं। दाहिनी ओर—उसी युग का एक मिट्टी का बरतन। (नीचे) बाईं ओर—मोहनजोदड़ो का एक पक्का कुवाँ। दाहिनी ओर—दो प्राप्त मुद्राएँ। [कापीराइट—आर्कियालाजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया।]
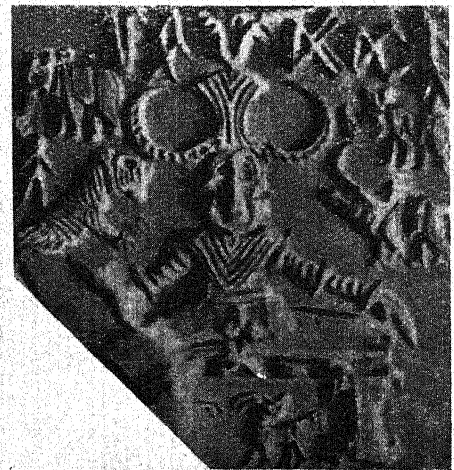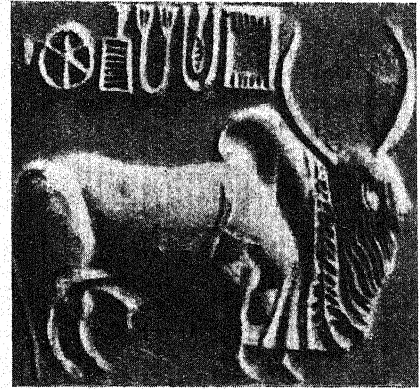
सिन्धुनद के श्रीसम्पन्न नगरों की सम्पत्ति कृषि और व्यापार के आधार पर थी। गेहूँ, जौ और रुई की खेती होती थी। नगरों का व्यापार अफ़ग़ानिस्तान, तुर्किस्तान, ख़ुरासान, एलाम, मसोपटेमिया और शायद ग्रीस से भी होता था। उनमें कताई और बुनाई का ख़ूब काम होता था। अमीर और ग़रीब सब कताई का काम करते थे। वहाँ से सूती कपड़ा बाहर भेजा जाता था। वहाँ के निवासियों को संभवतः लोहे का ज्ञान न था; क्योंकि सोने, चाँदी, ताँबे, काँसे और जस्ते के बने हुए ज़ेवर, सिक्के आदि मिलते हैं, किन्तु लोहे की बनी वहाँ कोई चीज़ नहीं मिली। हड्डी, हाथी-दाँत और सीप की बनी चीज़ें भी वहाँ मिलती हैं। इनके अलावा घरेलू चीज़ें, जैसे तसले, लोटे तश्तरियाँ, प्याले मटके, कुठिले आदि भी मिले हैं।

मोहनजोदड़ो आदि के लोगों को कपड़ों और ज़ेवरों का बड़ा शौक़ था। उनमें सूती ऊनी कपड़ों का चलन था। उस समय शायद सिले हुए कपड़ों का प्रयोग नहीं होता था। लोग शाल अथवा चादरें कन्धों पर ओढ़ा करते थे। आदमी अपने बालों को या तो आज के आक्सफ़र्ड फ़ैशन की तरह उलट लेते थे, या पट्टे रखाते अथवा बाँध लेते थे। औरतें बालों की चोटी गुहकर गुण्डल करके सिर पर लपेट लेती थीं। आदमी दाढ़ी रखते थे, किन्तु मूँछें कुछ-कुछ मुड़वाते थे। मर्द अँगूठियाँ पहनते और औरतें हार या नेकलेस, करधनी, कड़े, टड्डियाँ आदि पहनतीं और बड़ी सज-धज से रहती थीं। बाज़-बाज़ तो सम्भवतः दूध से नहाती थीं! वे लोग मूर्त्तियाँ, चित्र और खिलौने भी बनाते थे। बन्दर, भालू, ख़रगोश, बाघ, गैंडा और भैंसों की शक्ल के बने हुए खिलौने वहाँ मिलते हैं। खिलौनों के अलावा साधारण रङ्गीन चीज़ें, जैसे हाँडियाँ, घड़े, धूप-दीपदान, बटखरे आदि भी मिले हैं। वहाँ के लोगों को शायद जुआ खेलने का भी शौक़ था, क्योंकि पाँसे भी पाये जाते हैं। वे लोग शायद कला के अधिक प्रेमी न थे, क्योंकि केवल मनोविनोद के लिए उन्होंने कला या कारीगरी का कोई प्रयत्न नहीं किया।

मोहनजोदड़ो में प्राप्त एक मानव-मूर्त्ति

वे लोग बैल, भैंसे, भेड़, हाथी, ऊँट, सुअर और शायद घोड़े और कुत्ते भी पालते थे। वे भेड़, बैल, सुअर, चिड़ियों, घड़ियाल, कछुओं आदि का मांस और अण्डे खाते थे। अनाजों के अलावा वे दाख भी खाते थे। उनके अन्य फलों और तरकारियों का ठीक पता अभी तक नहीं मिलता। सवारी और माल ले जाने के लिए उनके पास पहियोंवाली गाड़ियाँ और इक्के थे।

उन नगरों के लोग शायद युद्ध-प्रेमी न थे और न उनको आक्रमण का ही अधिक भय था। संभव है कि वे क़िले बनाते हों, किन्तु युद्ध में शरीर-रक्षा के लिए न तो उनके पास ज़िरह-बख़्तर और न ढालें ही थीं। उन्हें तलवारों का भी उपयोग नहीं मालूम था। युद्ध आदि में वे तीर-कमान, बर्छे, फ़रसे, ख़ञ्जर, गदाओं और गोफ़नों से काम लेते थे।

सिन्धुतट के निवासी प्रायः मुर्दों को जला देते थे। जलाने के बाद मृतक की बची-खुची हड्डियों को चूर्ण करके या तो राख इधर-उधर फेंक देते थे, या उसको
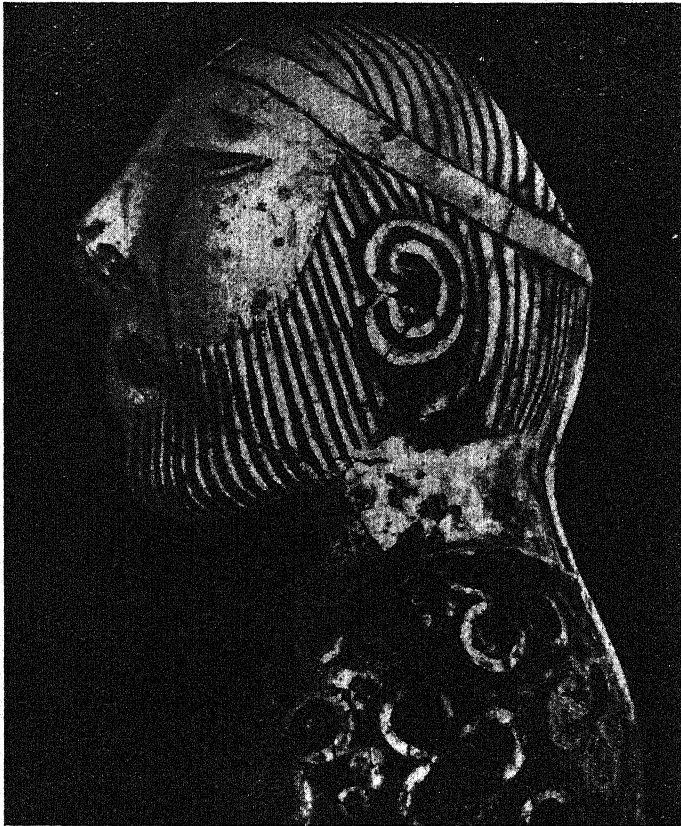
हाँड़ी आदि किसी बर्तन में रखकर कुछ दूसरी चीज़ों के साथ गाड़ देते थे। कभी-कभी वे मृतक को या उसके किसी अंश को गाड़ दिया करते थे। कभी वे मृतक को पशु-पक्षियों के आहार के लिए भी छोड़ दिया करते थे।

सिन्धुतटवालों में धर्म के भाव भी थे। वे लोग धरती को माता अथवा देवी या शक्ति समझकर नग्न रूप में उसकी मूर्तियाँ बनाकर पूजा करते थे। वे पशुओं से सेवित योगासनस्थ दो सींगधारी त्रिमुख, अथवा एक मुखवाले त्रिनेत्र देवता को भी पूजा करते थे। चतुर्भुज देवता का भी वे सम्भवतः पूजन करते थे। उनका एक देवता कार्योत्सर्ग आसन में खड़ा हुआ मिलता है, जिसकी कुछ समता भगवान् 'जिन' से मिलती है। उसके पास नन्दी की तरह एक बैल भी बना रहता था। वे लोग लिङ्ग और योनि के आकार की मूर्तियाँ पूजते थे। इन देवी और देवताओं के अतिरिक्त वे वृक्षों और उन पर रहनेवाली आत्माओं की भी पूजा करते थे। उस समय की एक मुद्रा मोहनजोदड़ो में मिली है, जिस पर पीपल का वृक्ष बना हुआ है। उस पर सात सहचरियों से सेवित वृक्ष की देवी है। उसके पास एक पशु अङ्कित है, जिसका कुछ अङ्ग तो बैल का-सा, कुछ बकरे का-सा और मुँह मनुष्य का-सा बना हुआ है। अन्य प्रकार के मनुष्य के-से मुखवाले बकरे, भेड़, बैल, हाथी, सींगवाले बाघों की मुद्राएँ भी मिलती हैं। स्वाभाविक आकार के पशुओं-पक्षियों की भी मुद्राएँ पाई जाती हैं। स्नान करना उनकी पूजन-विधि का एक अङ्ग था। उपर्युक्त वर्णन से यह साफ़ जान पड़ता है कि उस समय पशु-
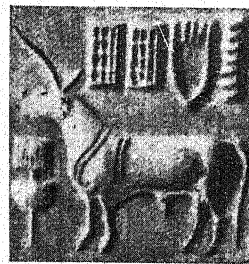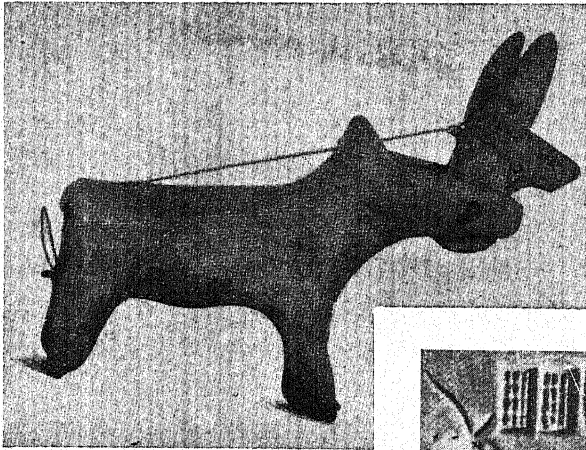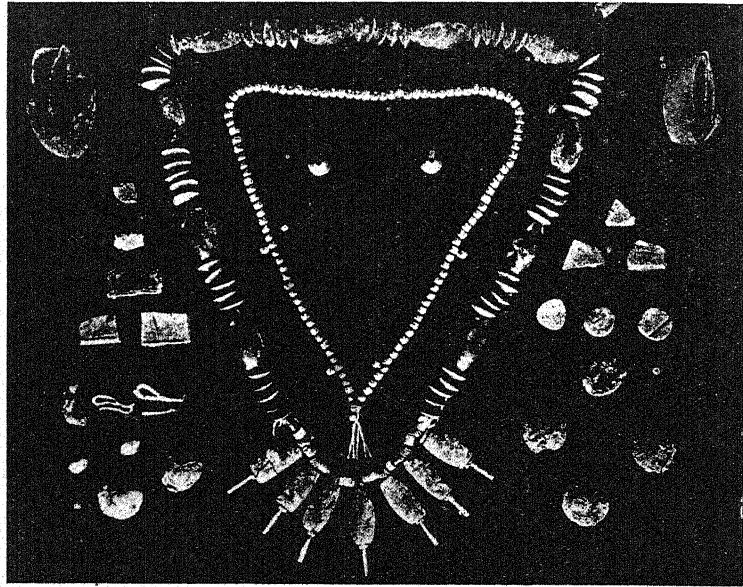
(ऊपर) मोहनजोदड़ो में मिले हुए कुछ आभूषण। (बाईं ओर) एक खिलौना। इसमें यह विशेषता है कि जब इसकी दुम खींची जाती है, तो इसका सिर नीचे झुक जाता है। (नीचे) एक मुद्रा (Seal)। [फ़ोटो—कॉपीराइट आर्कियालाजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया।]

पक्षियों, तथा देवी-देवताओं की पूजा उनकी कल्पित अथवा वास्तविक मूर्त्ति बनाकर की जाती थी। इन देवताओं में शक्ति देवी और महादेव की पूजा अधिक प्रचलित थी, किन्तु विष्णु एवं अन्य देवताओं की भी कल्पना का आरम्भ हो गया था। इससे यह अनुमान किया जाता है कि आर्यों और हिन्दुओं के अनेक देवताओं, उनके पूज्य नागों, तथा पशु-पक्षियों का विकास वैदिक युग के पूर्व और आज से पाँच हज़ार वर्ष पहले ही होने लगा था। मूर्ति और लिङ्ग-योनि की पूजा भी इस देश में वैदिक काल के पहले ही से प्रचलित है।
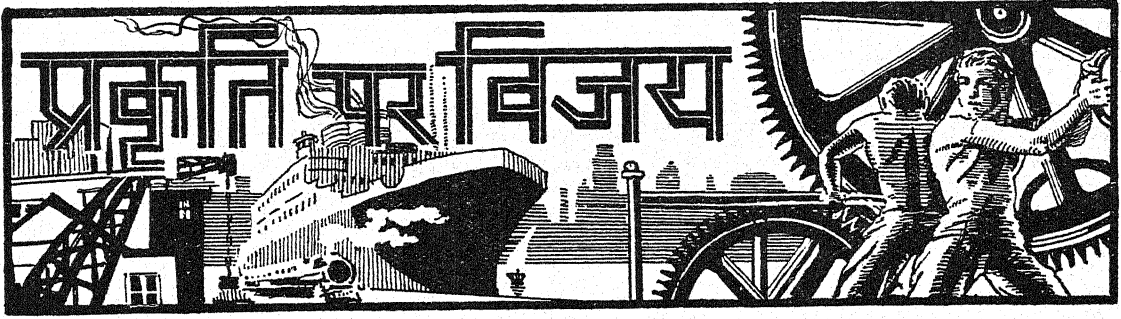
भाप की शक्ति के प्रयोग में क्रान्ति

टरबाइन इंजिन का आविर्भाव

यद्यपि भाप से हटकर मनुष्य आज तेल से उत्पन्न की गई गैस व बिजली की शक्ति की ओर बढ़ रहा है, फिर भी आज के इस यंत्र-युग की सभ्यता में भाप की शक्ति का ही सर्वोपरि हाथ है। हमारी रेलगाड़ियाँ और जहाज़, मिलें और बड़े-बड़े कारख़ाने—सभी तो भाप की अतुल शक्ति पर टिके हुए हैं। यहाँ तक कि स्वयं बिजली भी अधिकतर भाप ही की शक्ति से पैदा की जा रही है! इसका एक कारण भी है। गैस या बिजली अथवा अन्य किसी प्रकार की शक्ति के प्रयोग में अमित सुविधाएँ होने पर भी उनके उत्पादन की इतनी सुविधाएँ अभी हमारे पास नहीं हैं, जितनी भाप की उपजाने की। पानी की पृथ्वी पर कमी नहीं, और ईंधन में अब भी कोयला ही हमारे लिए सबसे सस्ता साबित हो रहा है। किन्तु खाली अधिक मात्रा में भाप उपजाने ही से तो आज दिन हमारा काम नहीं चल सकता। जहाँ छोटे से इंजिन द्वारा भीषण शक्ति और गति पैदा करने की समस्या सामने आती है, वहाँ न्यूकामेन और वैट या स्टीफ़ेन्सन की परम्परा को लिये चला आ रहा पुराना भाप का इंजिन तेल से चलनेवाले इंजिनों के आगे फिसड्डी साबित होता है। अब तो पेट्रोल या बिजली से सामना है! तब फिर क्या यह अनिवार्य रूप से आवश्यक नहीं कि यदि मैदान में टिके रहना है, तो प्रचुर उत्पादन द्वारा नहीं वरन् प्रयोग के ढंग ही में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन करके भाप की शक्ति की वृद्धि की जाय? यह बात सबसे पहले पार्सन्स नामक एक अंग्रेज़ के माथे में ठनकी और उसने भाप के इंजिनों का रूप बदलकर वैट और न्यूकामेन के सिद्धान्त ही को उलट दिया! किस तरह? आइए, इसकी मनोरंजक कहानी इस लेख में आपको सुनाएँ।

सन् १८९७ ई० के अक्तूबर मास की २७ वीं तारीख़—इँगलैंड में विक्टोरिया की हीरक-जयंती की धूम है! आज स्पिटहेड में जंगी जहाज़ों का विराट् प्रदर्शन है। संसार भर के राष्ट्रों के प्रतिनिधि, ब्रिटिश जल-सेना के बड़े-बड़े अफ़सर और राजपरिवार के सभी सदस्य मौजूद हैं। तट के कगारों पर खड़े दर्शकों की उमड़ती हुई जन-राशि किनारे से टकराती हुई सागर की अनंत जल-राशि से मानो होड़ बद रही है!

जंगी जहाज़ क़तार बाँधकर खड़े हो गये। भयानक लंबी तोपों के रूप में मानो अपने कराल फ़ौलादी पंजों की डरावनी उँगलियों को बाहर निकाले, धुँआ उगलते हुए वे दैत्याकार जहाज़! ऐसा मालूम होता था मानो भीतर-ही-भीतर समुद्र में एक क़िला बाँध दिया गया है, और थोड़े-थोड़े फ़ासले पर पानी के ऊपर उठी उसकी लोहे की बुर्जें पास फटकने का साहस करनेवाले किसी भी दुस्साहसी को चुटकी बजाते ही मसल डालने के लिए दाढ़ें खोले खड़ी हैं!

किन्तु यह क्या! मुश्किल से सौ फ़ीट लंबी और नौ फ़ीट चौड़ी यह मामूली नाव छिपकली की तरह सरसराती हुई रणसज्जा से सज्जित इन भीमकाय जहाज़ों के लौह दुर्ग में कहाँ से घुस पड़ी!! यहाँ तक तो प्रतिष्ठित व्यापारी जहाज़ों के भी आने की सख़्त मुमानियत है!

किनारे पर एकत्रित भीड़ स्तब्ध हो गई—क्षण भर

के लिए मानो उसकी साँस ही रुक गई। जंगी अफ़सर भी हक्का-बक्का थे। फ़ौजी अनुशासन भंग करने की यह ढिठाई! यह दुस्साहसी कौन है? एक तीव्रगामी टारपैडो-बोट को आज्ञा दी गई कि उसे पकड़कर बाहर करो!

नौका अब भी जहाज़ों के बीच की पंक्तियों में निर्द्वन्द्व होकर यहाँ से वहाँ सरसराती हुई चुहिया की तरह फ़ुदक रही थी। टारपैडो-बोट भीषण वेग से उसकी ओर लपका, पर उसे बचाकर मानो खिलखिलाती हुई वह एक ओर को भाग चली।

बड़े अचरज की बात थी! जहाँ तक गति का संबंध था, यह टारपैडो-बोट' नौ-सेना-विभाग की शान था—दौड़ में अब तक वह सबसे बाज़ी मार चुका था। फिर भी यह छोटी सी नौका उसे यहाँ-से-वहाँ नचाते हुए मानो उसके साथ खिलवाड़ कर रही थी, वह उसे अपने पास तक नहीं फटकने देती थी! जब देखो तब वह उससे बाँसों आगे ही दिखाई देती। सब लोग हैरान थे! आखिर इसमें ऐसा कौन-सा अद्भुत यंत्र लगा है कि तेज़-से-तेज़ दौड़नेवाला टारपैडो-बोट भी इससे हार खा रहा है? मुश्किल से ४०-५० टन वज़न की यह नौका बड़े-से-बड़े जंगी जहाज़ के इंजिनों के लिए भी असंभव ३४ नॉट (Knot) अर्थात् क़रीब ३६ मील प्रति घंटे की गति से दौड़ लगा रही है! इस पर इसके चलते समय न जहाज़ों के दोहरी गतिवाले बाष्प-इंजिनों की कान फोड़नेवाली घरघराहट ही हो रही है, न यही कहा जा सकता है कि इसको चलानेवाला इंजिन भाप का इंजिन न होकर कोई और ही इंजिन हो, क्योंकि स्पष्ट है कि यह भी औरों ही की तरह कोयले का धुँवा उगल रही है!!
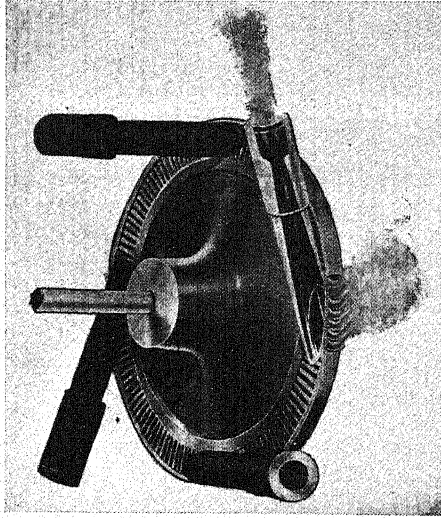
डी लैवल द्वारा आविष्कृत टरबाइन का चक्र और उस पर कार्य करती हुई भाप

पार्सन्स के टरबाइन (दे० पृष्ठ ४७३-४७४ के चित्र) की रचना इससे विभिन्न प्रकार को होती है।

इस अयाचित प्रदर्शन से सभी लोगों को मनोरंजन के साथ-साथ यह उत्कंठा होने लगी कि देखें कब यह नाव हाथ आती है और इसके रहस्य का उद्घाटन होता है! टारपैडो बोट को खूब छकाने और थका डालने के बाद अंत में जब नौका स्वयं ही अपनी मर्ज़ी से किनारे आकर लगी, तो दुनिया को भाप की शक्ति के प्रयोग में एक युगान्तरकारी परिवर्त्तन की सूचना मिली। यह था भाप के एक नई जाति के इंजिन—टरबाइन इंजिन—का आविष्कार और इसके आविष्कारकर्त्ता थे चार्ल्स पार्सन्स, जो बाद में सर चार्ल्स पार्सन्स के नाम से मशहूर हुए। यों तो पार्सन्स के साधारण टरबाइन इंजिन इससे बहुत वर्ष पहले ही से बिजली पैदा करने में काम आने लगे थे, किन्तु यह किसी को स्वप्न में भी ख़याल न था कि इसका उपयोग जहाज़ों के चलाने में भी हो सकेगा। पार्सन्स ने महज़ प्रयोग के लिए केवल पौने पैंतालीस टन वज़न की एक नौका पर अपने इस नये ढंग के इंजिनों को लगाकर २००० अश्वबल की शक्ति उत्पन्न करने में सफलता पा ली थी, और जैसा कि ऊपर की घटना से विदित होता है, नौ-विद्या के इतिहास में तहलक़ा मचा दिया था! 'टरबाइन' के ही नाम पर पार्सन्स ने प्रयोग के लिए बनाई गई अपनी इस नौका का नाम 'टरबाइनिया' रक्खा था। 'टरबाइनिया' की करतूत ने ब्रिटिश नौ-विभाग के कान खड़े कर दिये और तुरन्त ही आज्ञा दी गई कि बड़े जंगी जहाज़ों पर इसी तरह के नई जाति के इंजिन लगाये जायँ। जब ये जहाज़ तैयार हुए, तो उन्हें ३७ नॉट या लगभग ४३ मील प्रति घंटे की अभूतपूर्व प्रचण्ड गति से चलते हुए देखकर टरबाइन इंजिन की कार्यक्षमता से सभी प्रभावित हुए! तब तो जल्दी-जल्दी अनेक सुधार करके इस इंजिन को बड़ा-से-बड़ा जहाज़ चलाने के योग्य बना लिया गया।

आज दिन संसार के सबसे बड़े जहाज़ 'क्वीन मेरी' में, जिसका वज़न लगभग ८० हज़ार टन है, इतने बड़े टरबाइन इंजिन लगे हैं कि उनसे २ लाख अश्वबल की शक्ति उत्पन्न होती है!

जैसा कि पिछले अंक में इसी स्तंभ के लेख में बताया जा चुका है, टरबाइन इंजिन का मूल सिद्धान्त वैट और न्यूकामेन के पुराने ढंग के रैसीप्रोकेटिङ्ग (या दोहरी गति-

वाले) इंजिनों के पिस्टन और डडे की दोहरी गति के झंझट में पड़े बिना ही भाप की गत्योत्पादित शक्ति को वर्त्तुलाकार गति में परिणत करना है। इस काम का बीड़ा सबसे पहले इंगलैंड में पार्सन्स ने और फ्रांस में डी लैवल ने उठाया। पार्सन्स के मस्तिष्क में यह बात ठनकी कि आख़िर क्या यह संभव नहीं है कि जिस तरह बहते हुए पानी की गतिशक्ति का प्रयोग पनचक्की के चक्र को घुमाने में किया जाता है, उसी तरह भाप की गति का भी प्रयोग किसी चक्र को घुमाने में किया जाय? यदि ऐसा करना संभव हो जाय, तो फिर रेसिप्रोकेटिङ्ग या दोहरी चाल के इंजिन के पिस्टन, डंडे और अन्य बहुत-से भारी-भारी पुर्ज़ों को घुमाने में होनेवाला शक्ति का अपव्यय बच जायगा। अनेक प्रयोगों के बाद १८८४ में, ३० वर्ष की आयु ही में, पार्सन्स ने अपने सर्वप्रथम टरबाइन इंजिन की रचना की। इस इंजिन के नवीन सिद्धान्त ने यंत्र-विज्ञान के क्षेत्र में क्रान्ति उपस्थित कर दी। किन्तु व्यावहारिक रूप में वह अधिक कार्यकर सिद्ध नहीं हो सका, क्योंकि वह १८ हज़ार चक्कर प्रति मिनट की भयंकर गति से घूमता था जिसका कि साथ कोई भी डॉयनमा आदि मशीन नहीं दे सकती थी। इसी बीच में डी लैवल ने भी एक और जाति के टरबाइन का आविष्कार कर डाला। लैवल के इस टरबाइन में सिलिंडर में घूमनेवाले एक चक्र पर, जिसमें परिधि पर आड़ी-टेढ़ी कई पत्तियाँ (Blades) लगी थीं, एक साथ कई नलियों द्वारा बड़े दबाव के साथ भाप पहुँचाकर उसके दबाव से चक्र में भीषण गति उत्पन्न की जाती थी। जब एक ओर से प्रवेश करके भाप ४८ मील प्रति मिनट की गति से दौड़ती हुई दूसरी ओर निकलती तो सिलिण्डर का पहिया या चक्र ३०,००० चक्कर प्रति मिनट की भीषण गति से घूमने लगता था।

पार्सन्स ने अपने टरबाइन की रचना की तो डी लैवल के टरबाइन ही के सिद्धान्त पर, लेकिन उसने कुछ सुधार से काम लिया। पार्सन्स के टरबाइन की रचना निम्न प्रकार की होती है। एक मज़बूत धुरी पर एक घूमनेवाला सिलिंडर-नुमा रोटर लगा रहता है। इस रोटर के चारों ओर थोड़े-थोड़े अंतर पर हज़ारों कटावदार ब्लेडों या पत्तियों से युक्त क्रमशः एक से दूसरी बड़ी अनेक चूड़ियाँ लगी रहती हैं। इस रोटर पर बाहर से एक ऐसा ढोलनुमा मज़बूत फ़ौलादी आवरण या ढकना चढ़ाया जाता है, जो रोटर की गति को तो नहीं रोकता, किन्तु जिसमें से भाप बाहर नहीं निकल पाती। इस ढकने की भीतरी बाज़ू में भी अनेक पंक्तियों में वैसी ही ब्लेडें या पत्तियाँ इस ढंग से लगी रहती हैं कि ढकना चढ़ाने पर रोटर की चूड़ियों की धारें ढकने की पत्तियों के बीच की झिरियों में आ जायँ, साथ ही कुछ-कुछ पोली जगह भी बनी रहे। अब विशेष नली द्वारा अत्यंत दबाव के साथ जब उत्तप्त भाप इस ढोल की एक बाज़ू से भीतर पहुँचाई जाती है तो रोटर की पत्तियों को धक्का देती हुई वह प्रचण्ड वेग से आगे बढ़ती है। उसका धक्का ऐसे कोण से लगता है कि उससे रोटर की धुरी में चक्राकार गति उत्पन्न हो जाती है। पत्तियों की क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप एक चूड़ी से भाप क्रमशः दूसरी चूड़ी पर बढ़ती जाती है, जब तक कि सब चूड़ियों को पार कर वह दूसरी बाज़ू से बाहर नहीं निकल जाती। इस तरह ब्लेडों से टकरा-टकराकर वह रोटर में भीषण चक्राकार गति उत्पन्न कर देती है। किंतु, जैसा कहा जा चुका है, इतनी भीषण गति का साथ कोई भी मशीन नहीं दे सकती। अतएव इस तीव्र वेग का शमन कर कार्यकर स्थिति में लाने के लिए वेग को कई कटावदार चक्रों द्वारा कम किया जाता है। ऐसे चक्रों को वेगशमनकारी चक्र (Reducing Gears) कहते हैं।
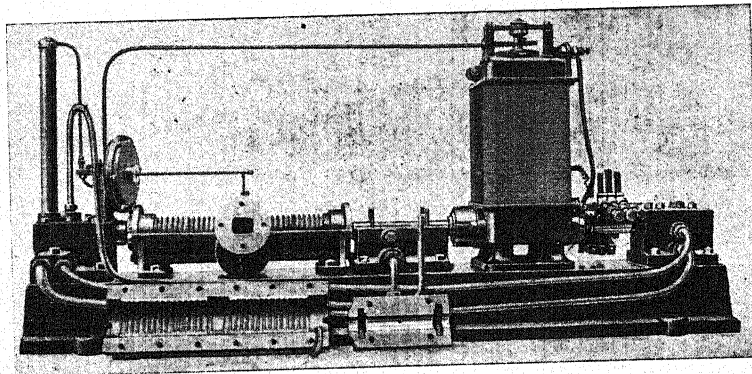
सर्वप्रथम पार्सन्स टरबाइन इंजिन

जहाज़ों और डॉयनमों के अतिरिक्त अब रेल के इंजिनों में भी टरबाइन का प्रयोग होने लगा है। सच तो यह है कि टरबाइन ने अब पुराने इंजिन को पीछे ढकेल दिया है।

अब तक हमने भाप से चलनेवाले इंजिनों की ही चर्चा की है; किंतु इंजिन ही में भाप की शक्ति का उत्पादन करनेवाली यंत्र-प्रणाली का अंत नहीं हो जाता। इंजिन तो महज़ तैयार मिलनेवाली भाप की शक्ति का उपयोग करके गति उत्पन्न करने का एक साधन है—चाहे वह वैट के सिद्धान्त के अनुसार बनाया गया सामान्य भाप का इंजिन हो, चाहे पार्सन्स द्वारा आविष्कृत टरबाइन इंजिन। यह भाप इन इंजिनों को कहाँ से तैयार मिलती है? ये स्वयं तो इसे तैयार कर सकते नहीं। फिर, इतनी अधिक मात्रा में भाप पैदा करने और उसे जमा रखने के लिए ऐसी-वैसी छोटी यंत्र-प्रणाली से भी तो काम नहीं चल सकता। आइए, देखें ये भाप उत्पन्न करनेवाले यंत्र क्या और कैसे हैं? किसी भाप से चलनेवाले बड़े कारख़ाने के इंजिनघर में चलिये। देखिए, सिर पर खड़ी आकाश से बातें करनेवाली यह ऊँची चिमनी कहाँ से आ रहे धुँए को उगल रही है? इंजिन में से तो हम इस तरह का काला धुँआ निकलने का कोई कारण नहीं देखते, क्योंकि भाप का रंग ऐसा नहीं होता। अतएव ज़रूर यह और कहीं से आ रहा है। हां, वह देखिए उस छोटी-सी खिड़की से भीषण आग की लपटें उगलते हुए भट्ठे का एक हिस्सा दिखाई दे रहा है। उसी में कोयला भी झोंका जा रहा है। अब आप शायद समझ गये होंगे कि प्रत्येक भाप के इंजिन के साथ साथ भाप के उत्पादन के लिए भी एक अलग यंत्र होता है, जिसमें से बनकर उत्तप्त भाप एक नली द्वारा इंजिनों में आती है। इस यंत्र को 'ब्वॉयलर' (Boiler) कहते हैं। रेल के इंजिन, सड़क बनानेवाले इंजिन, आदि में यह ब्वॉयलर इंजिन ही में लगा होता है, लेकिन बड़े-बड़े कारख़ानों या जहाज़ों के ब्वॉयलर अलग होते हैं। ब्वॉयलर वास्तव में भाप के इंजिन की जान है। पर्वतों, नदियों और मैदानों को लाँघते हुए दिन-रात दौड़ते रहनेवाली रेलगाड़ियों, हज़ारों यात्री और मनों सामान लादकर समुद्र की छाती को चीरते हुए एक महाद्वीप को दूसरे महाद्वीप से संबद्ध करनेवाले जहाज़ों, और तरह-तरह की वस्तुओं का उत्पादन करनेवाले कल-कारख़ानों के पीछे जो शक्ति काम करती है, उसका उत्पादन इसी ब्वॉयलर में होता है।

४०,००० किलोवॉट बिजली की शक्ति उत्पन्न करनेवाले डॉयनमा को चलानेवाले एक पार्सन्स टरबाइन इंजिन का चक्र (खुला हुआ)

इस जाति के टरबाइन में भाप चक्र के बाएँ भाग में प्रवेश करती है, जहाँ उसे अधिक जगह मिलती है और जब उसका दबाव कम होने लगता है, तब वह दाहिनी ओर की लम्बी ब्लेडों या चक्रवत् थालियों को घुमाने लगती है, जहाँ जगह कम सँकरी होने की वजह से उसका दबाव बढ़ जाता है।

आरंभ से अब तक इंजिनों की तरह ब्वॉयलर का भी रूप निरन्तर बदलता रहा है। जेम्स वैट के आरंभिक ब्वॉयलर से आज के ब्वॉयलर में सिर्फ़ आकार-प्रकार में ही परिवर्त्तन हो गया है, वरन् सिद्धान्त में भी बहुत-कुछ उलटफेर हो गया है। ब्वॉयलरों के विकास का इतिहास भी उतना ही रोचक है, जितना भाप के इंजिनों का; किन्तु इस लेख में इतना स्थान नहीं कि उसका पूरा ब्यौरा दिया जा सके। इसके आगे के लेख में हम विस्तृत रूप से ब्वॉयलरों की रचना, कार्य करने का ढंग, तथा उनके विभिन्न रूपों पर प्रकाश डालेंगे। ब्वॉयलर ही वह पात्र है, जिसमें पानी उबालकर भाप बनाई जाती है। उस भाप का जितना अधिक दबाव होगा, उतनी ही अधिक शक्ति उसमें उत्पन्न होगी। अतएव ब्वॉयलर के निर्माण में दो बातों का खास महत्व है। प्रथम यह कि इस पात्र की दीवारें इतनी मज़बूत हों कि कामचलाऊ से भी अधिक दबाव वे सहन कर सकें, ताकि कभी विस्फोट का खतरा न रहे। दूसरे, इसके लिए आवश्यक ईंधन के खर्च में भी अधिक से अधिक बचत हो सके। वर्षों के निरंतर सुधारों के बाद ब्वॉयलर का जो रूप आज दिन काम में लाया जाने लगा है, उसमें उपर्युक्त दोनों बातों में बहुत हद तक सफलता मिल चुकी है। आज का भाप का इंजिन ५० साल पूर्व के इंजिन से चौगुना अधिक कार्यकर है। इसका अधिकांश श्रेय ब्वॉयलरों के सुधार ही को है।
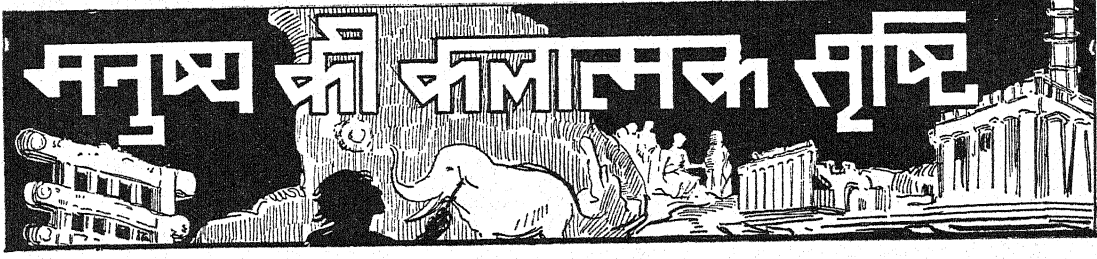
प्राचीन मिस्र की कला—(२)

पिछले भाग में प्राचीन मिस्र की कला का सामान्य रूप से हम आपको कुछ परिचय दे चुके हैं। मिस्र की कला का क्षेत्र वास्तव में इतना अधिक विस्तृत है कि एक-दो लेखों में उसकी सामान्य-सी रूपरेखा खींचना भी असंभव है। क्या स्थापत्य के क्षेत्र में, क्या मूर्ति-निर्माण या चित्रकला में, प्राचीन मिस्र की कला का विकास समान रूप से सभी दिशाओं में अपनी पराकाष्ठा तक पहुँचा हुआ है। वास्तव में, यह युक्ति कि 'वे दैत्यों की तरह भीमकाय रचनाएँ करते और जौहरियों की तरह उन्हें सजाते थे' प्राचीन मिस्रवालों से अधिक शायद ही और किसी पर इतनी अधिक सचाई के साथ लागू हो सकती है।

सूर्य की प्रखर किरणों से प्रकाशित मिस्र की भूमि चिरकाल से समस्त राष्ट्रों की जननी मानी जाती रही है। वस्तुतः लिखित या लिपिबद्ध इतिहास के उषःकाल की किरणें मिस्र के इतिहास के साथ ही प्रस्फुटित होती हैं तथा आदिम कन्दरा-निवासियों की कलात्मक कृतियों को छोड़कर मानव-जाति की चित्रकला और मूर्तिकला के प्रारम्भिक रूप प्राचीन मिस्र की कलाओं के ही चारों ओर केन्द्रित हैं।

जिस समय यूनानी सभ्यता पूर्ण विकसित होकर खिलने लगी थी, उस समय भी मिस्र की गणना अत्यन्त पुरातन काल से चले आ रहे वृद्ध देश के रूप में होती थी। प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक प्लैटो अपनी युवावस्था के दिनों में जब नील नदी की उपत्यका में स्थित मन्दिरों के दर्शनार्थ गया था, तब थीब्ज़ के पंडितों ने उपेक्षापूर्वक उससे कहा था कि हम लोगों की दृष्टि में तुम यूनानी लोग अभी कल के बच्चे हो। यूनान के एक दूसरे प्रसिद्ध पर्यटक और इतिहासवेत्ता हिरोडोटस ने भी, जिसकी इस पुरातन प्रदेश के इतिहास में बड़ी रुचि थी, इसकी महान् प्राचीनता के विषय में बड़े जोशीले शब्द लिखे हैं और यह धारणा प्रकट की है कि यूनान के देवताओं की कल्पना मिस्र के ही देवताओं के आधार पर की गई है। एक अन्य विद्वान् डीओडोरस लिखता है—"आदि मानव का उद्‌भव मिस्र में ही हुआ; क्योंकि वहाँ की जलवायु या तापमान तथा नील नदी के भौतिक गुण उनके विकास के लिए सबसे अधिक अनुकूल थे। नील नदी की उर्वरा जलराशि ने ही आदि काल के इन सर्वप्रथम अनुप्राणित मानवों को पुष्टि प्रदान की।"

रोमन साम्राज्य के गौरवशाली दिनों में भी मिस्र की ख्याति और लोकप्रियता कुछ कम नहीं थी। फ़िली के मन्दिर की दीवारें रोमन काल के यात्रियों के खुरचकर लिखे हुए नामों से भरी पड़ी हैं। प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता प्लाइनी ने पिरामिडों को मिस्र के सबसे अधिक सुपरिचित स्मारक बतलाया और फ़िलो ने भी इन प्राचीन गगनचुम्बी इमारतों का विस्तृत विवरण दिया है। अरबों के द्वारा मिस्र की विजय के बाद हज्ज अर्थात् मक्का की यात्रा करनेवालों को काहिरा से परवाना (आज्ञा-पत्र) लेना पड़ता था, अतः उनको पिरामिडों की प्राचीनता से कुछ-कुछ परिचय हो जाता था। अब्दुल लतीफ़ नामक एक अरब इतिहासवेत्ता का कथन है—"सभी वस्तुएँ काल से भयभीत रहती हैं, परन्तु पिरामिडों से स्वयं काल भी भय खाता है !"

पुनर्जीवन (Rennaissance) के काल में योरपवाले मिस्र को प्रधानतया उन सूचि-स्तम्भों (Obelisks) और मूर्तियों के द्वारा जानते थे, जिन्हें रोमन लोग मिस्र के प्राचीन स्मारकों से अलग कर रोम ले आये थे। किन्तु यथार्थतः मिस्र की जानकारी लोगों को उस समय उतनी ही थोड़ी थी, जितनी कि यूनान की।

इस रहस्यमय प्रदेश पर पड़ा हुआ पर्दा अन्तिम रूप से तब तक नहीं उठा, जब तक कि गत शताब्दी का प्रारम्भ

नहीं हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ ही में नेपोलियन की सेनाएँ, उस प्रसिद्ध विजेता के व्यक्तिगत नेतृत्व में, वैज्ञानिकों, प्रकृतितत्त्ववेत्ताओं, भूगोल-शास्त्रियों तथा इतिहासवेत्ताओं की टोली के साथ मिस्र की बालुकामयी भूमि पर एकत्रित हुईं। इस मण्डली की खोजों का ब्योरा इन सब विद्वानों के सम्मिलित प्रयास से तैयार की गई 'मिस्र का विवरण' (Description de l'Egypte) नामक ग्रंथ में सुन्दर नक़्शों तथा नक़्क़ाशी द्वारा तैयार किये गये अन्य चित्रोंसहित प्रकाशित किया गया था और यह अमूल्य ग्रंथ फ्रांस के प्रथम सम्राट् (नेपोलियन) के गौरव का स्मरण करानेवाले चिरस्थायी स्मारकों में से एक है।

शैम्पोलियों (Champollion) द्वारा महीनों के कठिन अध्ययन के बाद किस तरह मिस्र की चित्र-लिपि पढ़ी गई, इसकी कथा जगत्प्रसिद्ध है। पहले यह विश्वास किया जाता था कि ये चित्र-संकेत जादू-टोना-सम्बन्धी गूढ़ार्थ द्योतक बेल-बूटे हैं। लेकिन प्रसिद्ध रोज़ेटा शिलालेख (Rosetta Stone) (जो अब ब्रिटिश म्यूज़ियम में है) के अन्वेषण ने चित्र-लिपि के रहस्य को अन्तिम रूप से सुलझा दिया। यह पाषाण एक प्रकार की काली शिला की पतली चिपटी तख़्ती है, जिसकी सतह पर तीन भाषाओं में लेख खुदे हैं। इनमें से एक भाषा यूनानी है। शैम्पोलियों ने अपनी आश्चर्य-जनक बुद्धि-विचक्षणता, तार्किक विवेचन तथा अत्यन्त परिश्रमयुक्त अनुसन्धान द्वारा इस प्रस्तरखण्ड के मिस्री और दिमौटिक संकेतों के प्रत्येक अक्षर का अर्थ ढूँढ़ निकाला। चित्र-लिपि का गूढ़ार्थ ज्ञात हो जाने के बाद मिस्र के इतिहास और पुरातन स्मारकों के विषय में हमारी जानकारी में उल्लेखनीय उन्नति हुई। अब प्राचीन मिस्र की भिन्न-भिन्न वंशावलियाँ लगभग संपूर्ण रूप से तिथिबद्ध कर ली गई हैं, और नाना प्रकार के खुदे हुए अथवा पैपिरस (एक प्रकार के काग़ज़) पर लिखित लेखों को पढ़ने में अब ऐसी कोई अड़चन नहीं पड़ती जो दूर न हो सकती हो।

सुप्रसिद्ध रोज़ेटा शिलालेख (Rosetta Stoue)
जिसके रूप में पुरातत्त्ववेत्ताओं को प्राचीन मिस्र के रहस्यमय अतीत का बंद द्वार खोलने की जादूभरी कुंजी मिल गई है। यह पत्थर का टुकड़ा संसार की एक अनमोल निधि समझा जाता है और ब्रिटिश म्यूज़ियम में सुरक्षित है।

एक समय यह विश्वास किया जाता था कि चतुर्थ वंश के पिरामिड, जो कि ईसा से चार हज़ार वर्ष पूर्व के हैं, मिस्री स्थापत्यकला की सबसे आदिम अवस्था के नमूने हैं। परन्तु वर्तमान समय की खोजों ने इन तिथियों को बहुत अधिक पीछे ढकेल दिया है और अब साधारणतया यह मान लिया गया है कि पिरामिडों के निर्माण के युग से भी पहले मिस्र में इससे कहीं पुराना एक प्रागैतिहासिक युग था, जिसमें प्राचीन मिस्र की कलाओं की प्रथम किरणें फूटी थीं। मिस्र के ऊपरी भाग की शिला-कन्दराओं तथा न्यूबिया के आरम्भिक शिलागृहों या 'डालमेनों' में उपर्युक्त प्रागैतिहासिक काल के अवशेष पाए जाते हैं। मिट्टी की प्रागैतिहासिक मूर्तियाँ, जिन पर गुदने के चिह्न हैं, तथा मिस्र के राजवंशों के युग से पहले के दो रंगों में रँगे बर्तन, जिनके पेंदे के भाग टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं के बीच पक्षी, नौकाओं एवं वन्य पशुओं के चित्रों से सुशोभित तथा गहरे लाल रंग से रँगे हुए हैं, प्रचुर राशि में पाये गये हैं और पुरातन मिस्री कला के प्रारम्भिक प्रयत्नों का हमें बोध कराते हैं।

दक्षिण की ओर से आनेवाले कुछ विदेशी विजेताओं के आगमन के पहले संभवतः नील नदी की घाटी के प्राचीन निवासी नंगे घूमते थे और अपने शरीर पर उसी

(ऊपर) लगभग ४००० ईस्वी पूर्व (अर्थात् आज से लगभग ६००० वर्ष पूर्व) के मिस्र के मिट्टी के बर्तन, जिन पर की गई रंगीन चित्रकारी इस बात की साक्षी है कि जहाँ तक इतिहास की पहुँच है, उस युग से भी पहले मिस्र में कला कितनी उत्कृष्ट अवस्था पर पहुँच चुकी थी ! ये बर्तन 'मेट्रापालिटन म्यूज़ियम, न्यूयार्क,' में सुरक्षित हैं ।

(दाहिनी ओर) स्फिंक्स की रहस्यमय भीमकाय मूर्त्ति, जो पिछले ५ हज़ार वर्षों से ओर छोर-विहीन रेणु-प्रदेश में उदय होते हुए अंशुमाली के स्वर्णिम मण्डल को निर्निमेष नेत्रों से निहारती आयी है । काल के अनन्त प्रवाह में एक के बाद दूसरी न जाने कितनी शताब्दियाँ ढुलकती गईं, किन्तु शाश्वत का यह महाकाय प्रतीक अविचल गंभीर शांत मुद्रा में ज्यों-का-त्यों स्थिर बना हुआ है ।
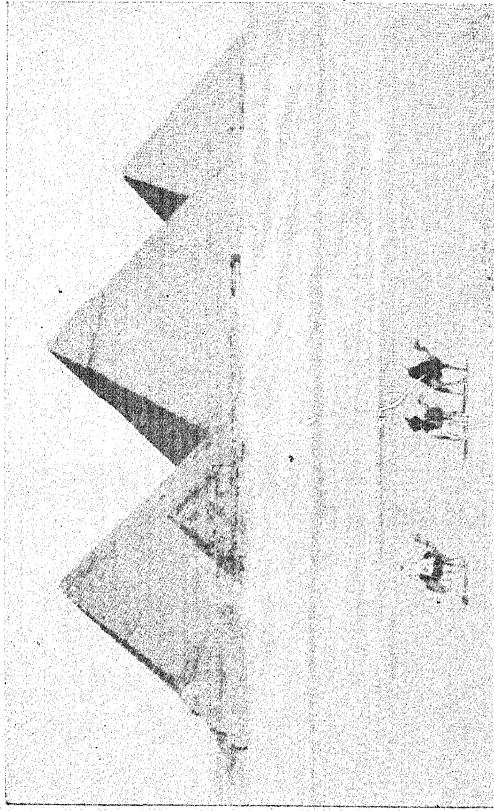
(ऊपर) गिज़े के तीन महान् पिरामिड, जिनके संबंध में अरब इतिहासज्ञ अब्दुल लतीफ़ ने निम्न उद्‌गार प्रकट किये हैं—"सभी वस्तुएँ काल से भयभीत रहती हैं, किंतु पिरामिडों से स्वयं काल भी डरता है।" ये तीनों पिरामिड चतुर्थ वंश के समय में (लगभग ५ हज़ार वर्ष पूर्व) (दाहिनी ओर से बाईं ओर को) क्रमशः ख़ूफ़ू, ख़ैफ़्रे और मैनकुरे द्वारा बनवाये गये थे।
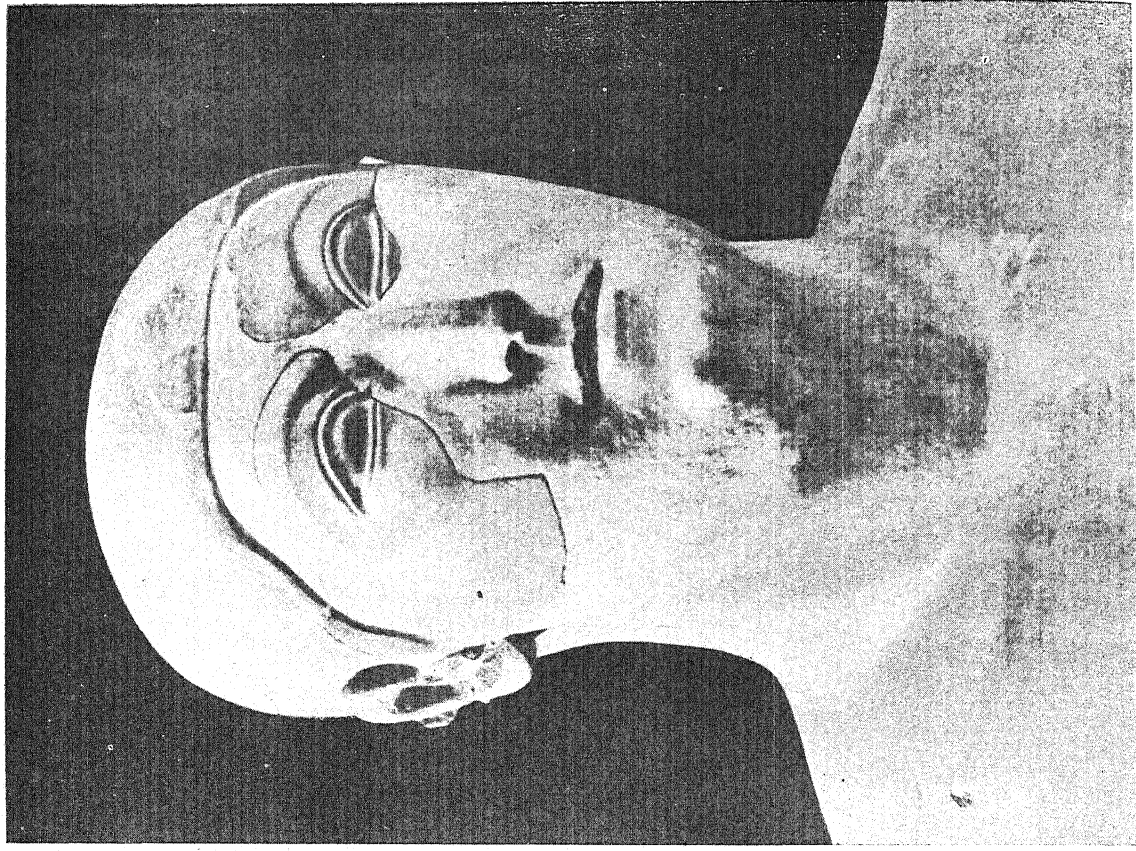
(दाहिनी ओर) चतुर्थ वंश के समय (ई० पू० २८००) की एक प्रतिमा का शीर्ष-भाग। इन मूर्तियों पर चूने के मसाले का एक तरह का मुलम्मा या प्लास्टर (Stucco) चढ़ाया जाता था, जिसका कुछ भाग इस मूर्त्ति के चेहरे पर उखड़ गया है। लगभग साढ़े चार हज़ार वर्ष पूर्व की इस मूर्त्ति में कैसी सजीवता है! इसको देखते हुए इस बात को जानने में क्या कोई कठिनाई है कि बाद में आनेवाली ग्रीस की कला को कहाँ से प्रेरणा मिली थी!

तरह गुदने गुदाते और उसे रँगते थे, जिस तरह नये प्रस्तर-युग के योरप निवासी करते थे। वे अपनी भौंहों और पलकों की रेखाओं को एक प्रकार के सुगन्धित सुरमे के प्रयोग के द्वारा अधिक गहरी बना लेते थे जैसा कि आजकल भी मिस्र तथा हमारे अपने देश में किया जाता है। उनमें से अधिकतर गौंदी हुई मिट्टी से बने झोपड़ों में रहते थे, जिनमें दरवाज़ों को छोड़कर खिड़की इत्यादि का पूरा अभाव था। केवल सम्पत्तिशाली लोग घर बना सकते थे, जिनकी छत में लगे हुए शहतीरों को सँभालने के लिए नीचे एक या दो खम्भे लगे होते थे। उनके घर के सामान में मिट्टी के भौंड़े बर्त्तन, चकमक पत्थर के चाकू या छीलने के अन्य औज़ार, अनाज पीसने के लिए पत्थर की सिलनुमा चक्कियाँ, दो या तीन सन्दूक़ तथा सरपत या इससे बुनी चटाइयाँ होती थीं। इतिहास के उषःकाल के बहुत पूर्व ही मिस्रवासियों ने अपने आक्रमण-कारियों से धातुओं का प्रयोग सीख लिया था और पुराने ढंग के पत्थर आदि के औज़ार केवल उच्च श्रेणी के कुलीन लोग तथा पुरोहित-गण ही बड़प्पन या प्रतिष्ठा के चिह्न-स्वरूप अथवा धार्मिक महत्त्व की वस्तु समझकर सुरक्षित रखते थे।

ऊपर जिनका उल्लेख किया गया है, दक्षिण से आनेवाले उन विदेशी आक्रमणकारियों ने ही मिस्र के नागरिक संगठन तथा सभ्यता की नींव डाली। इन लोगों ने पहले जनता को कई जातियों में विभक्त किया। इनसे जो छोटे-छोटे राज्य बने, उनका पता अब भी उन प्रसिद्ध 'नोमों' (Nomes) या शासन की दृष्टि से बनाये गये विभागों से चलता है, जो नील नदी के किनारे-किनारे फैले हुए थे। ये छोटी जातियाँ धीरे-धीरे परस्पर सम्मिलित होकर ऊपरी और निचले मिस्र के दो राज्यों में विभक्त हो गईं, जो कि अन्त में मीनीज़ नामक प्रथम फ़ेरो (Pharaoh) या सम्राट् के अधीन मिलकर एक हो गये। परन्तु इतिहासकार बहुत दिनों तक यह विश्वास करते रहे कि मीनीज़ और उसके वंशज राजकीय वंशावली तैयार करनेवाले चारण-भाटों के उर्वर मस्तिष्क की कल्पना ही की उपज या पौराणिक गढ़ंत-मात्र हैं। यह धारणा उस समय निर्मूल सिद्ध हुई, जब कि प्रसिद्ध मिस्रविद् डि मारगन ने नेगादा में मीनीज़ के शाही मक़बरे को खोज निकाला। इन मक़बरों में पाई जानेवाली वस्तुओं में सबसे मनोरंजक चीज़ें पत्थर की वे लम्बी तख्तियाँ हैं, जिनमें ओजमयी भाव-भंगियों में मनुष्यों और पशुओं के विभिन्न रूप चित्रित हैं, और जो बहुत-कुछ प्रारम्भिक कैल्डियन चित्रों के ढंग के हैं। पत्थर की इन लम्बी तख्तियों द्वारा, जो कि कला की दृष्टि से बड़ी महत्त्व रखती हैं, प्रारम्भिक आदि-वंशों के लोगों तथा उनके वस्त्राभूषणों के संबंध में हमें बहुत-सी बातें मालूम हुई हैं।

तीसरे वंश के काल में मृत्यु तथा अन्तिम संस्कार के सम्बन्ध में मिस्रवासियों की विभिन्न धारणाओं ने परिपुष्ट होकर रूढ़िगत आचार-विचार का वह अपरिवर्त्तनशील स्वरूप धारण कर लिया था, जो कि रोमन-काल तक प्रचलित रहा। अब जीव-तत्त्व सीधे दूसरी दुनिया में चला जाय, इस उद्देश्य से शव का जलाया जाना बन्द हो गया था, और उसके बदले शरीर के अन्दर की अँतड़ियाँ आदि कुछ वस्तुएँ निकालकर एक गुप्त विधि द्वारा मसालों का प्रयोग करके भौतिक विनाश से उसकी रक्षा करना आवश्यक समझा जाने लगा था। मसाले लगाने के बाद इस सुरक्षित शव या मोमियाई (Mummy) को इसी के लिए खास तौर से बनाये गये मृत व्यक्ति के आकार के एक ढाँचे (Mummy case) में बंद कर तथा उसे पत्थर के बने ताबूत में रखकर एक गुप्त कक्ष या कन्दरा में छिपा दिया जाता था। मृत व्यक्ति की प्रतिच्छवि अलग चित्रों या मूर्त्तियों में उतार ली जाती थी; ताकि यदि काल के प्रभाव से मृतक के शरीर का अवशेष धूल में मिल जाय, तो भी उसकी प्रतिमूर्त्ति बच रहे।

लगभग ५००० वर्ष पूर्व की मिस्री चित्रकला का एक नमूना

यह चतुर्थ राजवंश (लगभग २६०० ई० पू०) के समय की चूने के प्लास्टर पर की गई चित्रकारी का एक भाग है। इसमें मैदान में दाना चुगती हुई बतखें दिखाई गई हैं।

जिन दिनों मेम्फ़िस मिस्र की राजधानी थी, मिस्री मक़बरे दो प्रकार के होते थे—(१) कुलीन घराने की साधारण क़ब्रें, जिन्हें 'मस्तबा' कहा जाता था, (२) शाही

मक़बरे जो परामिड के आकार के होते थे। 'मस्तबा' की बनावट कोठरी की तरह की होती थी, जिसकी भीतरी दीवालें मृत व्यक्ति के जीवन की घटनाओं को चित्रित करनेवाले चित्रों से भरी रहती थीं। इस कोठरी के अतिरिक्त एक और कमरा रहता था, जिसमें मृत व्यक्ति की मूर्ति रहती थी, ताकि उसके साथ उसका 'का' (Ka) अर्थात् लिङ्गशरीर रह सके। इस कोठरी के बहुत नीचे पत्थर की चट्टान को खोदकर बनाये गये एक कमरे में मृत व्यक्ति का सुरक्षित शव या मोमियाई रक्खी जाती थी। कभी-कभी मस्तबा के ऊपर से इस गुप्त कक्ष तक, जिसमें पत्थर का ताबूत रहता था, एक छड़ लगा दी जाती थी। यह गुप्त मार्ग सिरे तक बालू और पत्थर की कंकड़ी से भरा रहता था, ताकि मृत व्यक्ति की विश्रान्ति में कोई किसी प्रकार की बाधा न डाल सके। मेम्फ़िस की जनता में सब कोई निश्चित समाधि-स्थान या क़ब्रगाह में गाड़े जाते थे—इनमें निर्धन लोग तो मरुभूमि में एक मोमियाई के ऊपर दूसरी मोमियाई लादकर गाड़ दिये जाते थे, और कुलीन लोग अपने मस्तबा में तथा सम्राट महाकाय पिरामिडों में समाधिस्थ होते थे।

पिरामिडों के सम्बन्ध में एक समय यह विश्वास किया जाता था कि वे ज्योतिष-संबंधी वेधशालाएँ हैं। कुछ लोगों की धारणा थी कि वे नील नदी की बाढ़ को रोकने के लिए बाँध का काम देते रहे होंगे। परन्तु आधुनिक अनुसन्धानों ने अकाट्य रूप से प्रमाणित कर दिया है कि वे वास्तव में राजाओं के समाधि-स्तूप हैं, यद्यपि बहुतों के भीतर से उनकी मोमियाई निकाल ली गई है। पुराने ज़माने में कुछ पिरामिडों को दस्युओं ने उनके भीतर गड़े ख़ज़ानों के लालच में आकर लूट लिया था ; बाद में इसी लालच से अरबों ने दूसरे पिरामिडों की भी दुर्दशा कर डाली। सबसे प्रसिद्ध पिरामिड मेम्फ़िस (आजकल के गीज़े) में हैं; जो चिओप्स या खूफ़ू, खेफ़रें और मेनकुरे नामक प्राचीन सम्राटों द्वारा बनवाये गये थे। इनमें से अन्तिम सम्राट् द्वारा बनवाया हुआ पिरामिड आधुनिक अन्वेषकों को अक्षुण्ण रूप में मिला था, उसमें लकड़ी के ताबूत और पत्थर की सन्दूक़ के भीतर मोमियाई ज्यों-की-त्यों रखी हुई मिली है। मूल रूप में पिरामिडों पर बाहर की ओर एक तरह के रंग-बिरंगे चिकने कड़े पाषाण का एक सुन्दर आवरण चढ़ा हुआ था और उनकी चोटी पर के पत्थर पर उसी तरह का मुलम्मा चढ़ाया गया था जैसा कि उन चूड़ाओं (Pyramidions) पर लगा हुआ हम पाते हैं जो कि आगे चलकर सूचि-स्तम्भों (Obelisks) के सिरों पर बनाये जाने लगे थे। जिस कमरे में शव को दफ़नाया जाता था, उसमें प्रवेश करने का मार्ग बड़ी होशियारी के साथ एक के साथ दूसरे जोड़े गए विशाल पाषाण-खण्डों द्वारा बनाया जाता था और कभी-कभी ये मार्ग मेहराबदार भी बनाये जाते थे। बहुत-से बड़े-बड़े पत्थर इस तरह आड़ी शक्ल में रख दिये जाते थे कि वे छत के पर्वतमय भारी बोझ को सँभाले रहते थे।

मस्तबा और परामिड दोनों ही आरम्भिक राजवंशों के काल के विशिष्ट (characteristic) समाधि भवन हैं और उनकी बनावट में एक विशेष रचना-प्रणाली का अनुसरण किया गया है। पहले पत्थर की सन्दूक़ के भीतर शव को रखकर उस पर समाधि बना दी जाती थी। इस क़ब्र के बाद एक बाहरी समाधि-कक्ष या 'का' (लिङ्गशरीर) का वासस्थान बनाया जाता था, जिसमें मृत व्यक्ति के आकार की मूर्ति गढ़कर रख दी जाती थी, जैसा कि मस्तबाओं में होता था। तदनन्तर देवताओं की श्रेणी में प्रतिष्ठित स्वर्गीय सम्राट् की पूजा के लिए मन्दिर का निर्माण होता था। यह राजमन्दिर पिरामिड से कुछ दूरी पर बनाया जाता था और परामिड से मन्दिर तक आने-जाने के लिए एक छोटा-सा मार्ग बना दिया जाता था।

स्फिंक्स की मूर्ति और पिरामिडों के प्राचीन मिस्र के शक्तिशाली सम्राटों के साम्राज्य के सबसे प्रमुख स्मारक होने का श्रेय प्राप्त है। आदि काल से ही स्फिंक्स की यह रहस्यमय मूर्ति ओर-छोर-विहीन रेणुप्रदेश में उदय होते हुए अंशुमाली के स्वर्णिम मण्डल को निर्निमेष नेत्रों से निहारती आई है और साथ ही वह देखती आई है काल की गति के साथ-साथ पृथ्वी के महाशक्तिशाली राष्ट्रों का क्रमिक उत्थान-पतन तथा अगणित मानव-पीढ़ियों के झिलमिलाते हुए क्षण-भंगुर सुख-दुःख की अनवरत लीला! काल के अनन्त प्रवाह में एक के बाद दूसरी न-जाने कितनी शताब्दियाँ विलुप्त हो गईं, किन्तु शाश्वतता का यह महाकाय प्रतीक 'स्फिंक्स' अपने स्थान पर अविचल भाव से गम्भीर शान्त मुद्रा में स्थित धैर्यपूर्वक किसके आगमन की प्रतीक्षा कर रहा है, कौन जानता है !!

आरम्भिक मिस्रविदों का विश्वास था कि स्फिंक्स की प्रतिमा उदीयमान सूर्य को उत्सर्ग की गयी है। किन्तु आजकल की खोजों के आधार पर यह अधिक सम्भव जान पड़ता है कि वह मिस्र के किसी आरम्भिक सम्राट् की मूर्ति है, सम्भवतः उस नृसिंह-रूपी सम्राट् की, जिसके दर्शन हमें उस युग की स्लेट की तख्तियों पर होते हैं। इस मूर्ति का कुछ भाग आस-पास के मैदान से निकली हुई चूने की एक बड़ी

(ऊपर) सम्राट् ख़ैफ़रे की भव्य मूर्त्ति का ऊर्ध्व भाग। यह चतुर्थ वंश (अर्थात् लगभग २८०० वर्ष ई० पू०) के समय की कला का स्मारक है। ख़ैफ़रे अत्यंत प्रतापी सम्राट् था। गिज़े के तीन महान् पिरामिडों में से एक ख़ैफ़रे ही ने बनवाया था। उपर्युक्त मूर्त्ति 'कैरो म्यूज़ियम' में सुरक्षित है।

(दाहिनी ओर) थीबीज़ से प्राप्त ग्यारहवें वंश (लगभग २००० ई० पू०) की एक परिचारिका की सुंदर प्रतिमा। यह काठ की बनी है और ऊपर से रँगी हुई है। यह न्यूयॉर्क के मेट्रोपालिटन म्यूज़ियम में सुरक्षित है।

(दाहिनी ओर) पाँचवें वंश (२६५० ई० पू०) के समय के एक लेखक या मुंशी की प्रसिद्ध प्रतिमा। यह चूने के पत्थर की बनाई गई है, और ऊपर रंग चढ़ाया गया है। इस मूर्त्ति में प्रदर्शित व्यक्ति की भाव-भंगी, उत्सुक मुद्रा आदि से मिस्री कलाकारों की प्रतिभा फूट-फूटकर प्रकाशित हो रही है। यह मूर्त्ति पेरिस के अजायबघर में सुरक्षित है।
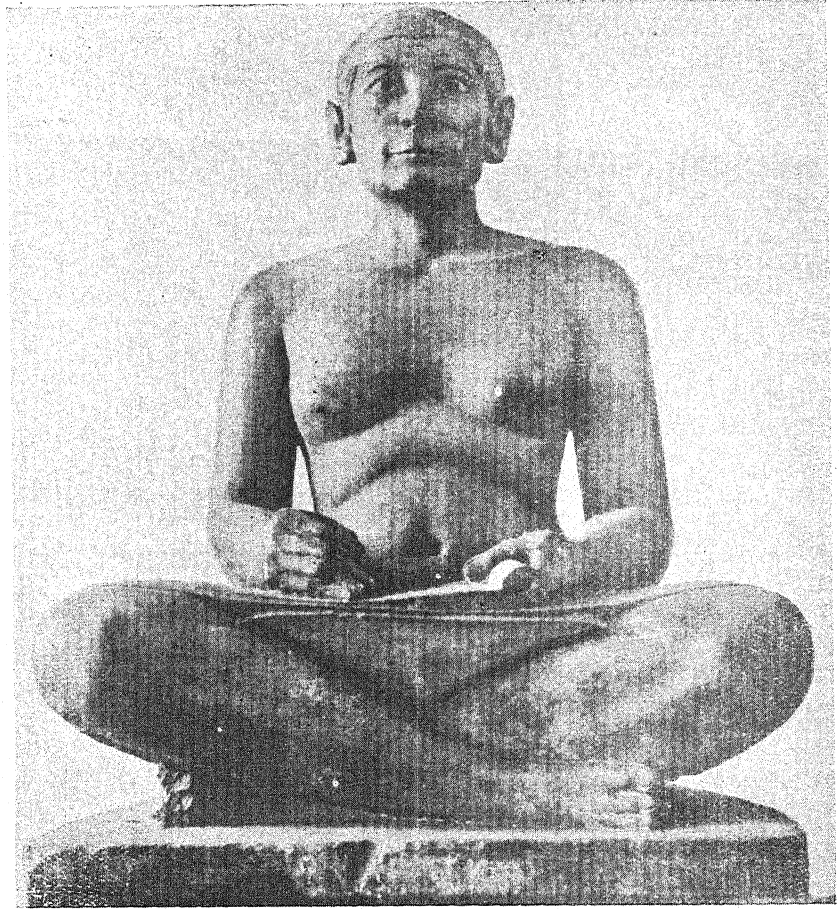
(नीचे) पाँचवें वंश (लगभग २६५० ई० पू०) का एक उभरा हुआ भीति-चित्र। यह चूने के पत्थर में बना हुआ है। इस चित्र से तत्कालीन मिस्री जीवन की एक अच्छी झलक मिलती है। एक आदमी गधे का एक कान और एक पाँव पकड़े हुए है और दूसरा उसे पीछे से पीट रहा है। फिर भी, जैसा कि अनादिकाल से गधे की प्रकृति है, वह अपनी ढिठाई से बाज़ नहीं आ रहा है! देखिए, बिना टस से मस हुए ढीठ गधा किस तरह अपनी जगह पर अड़ा हुआ है !!
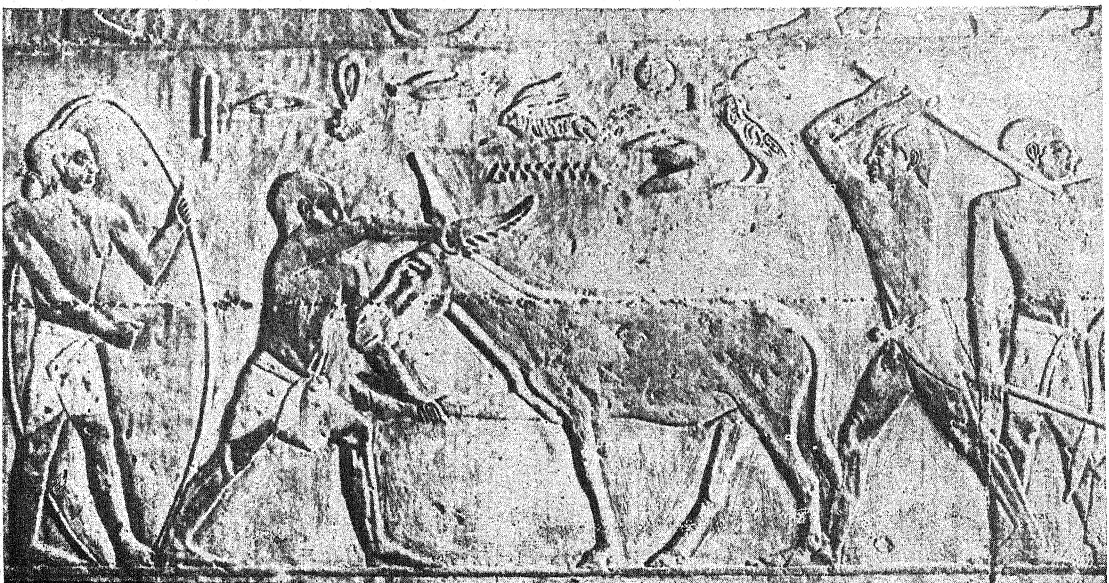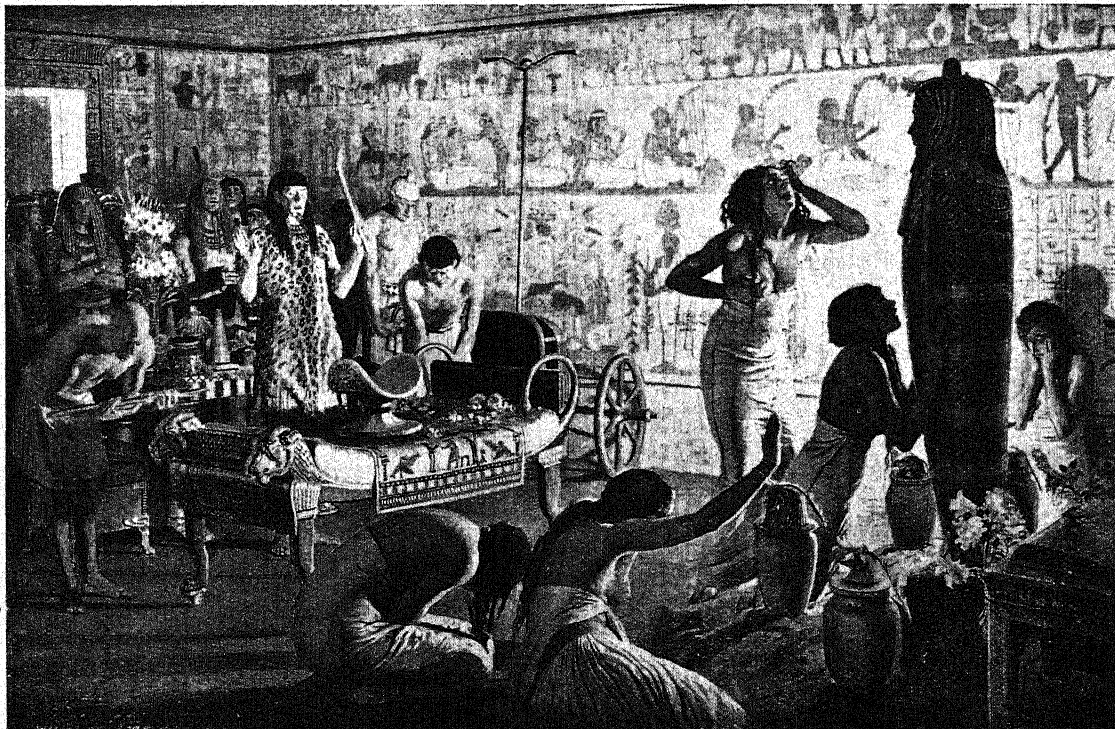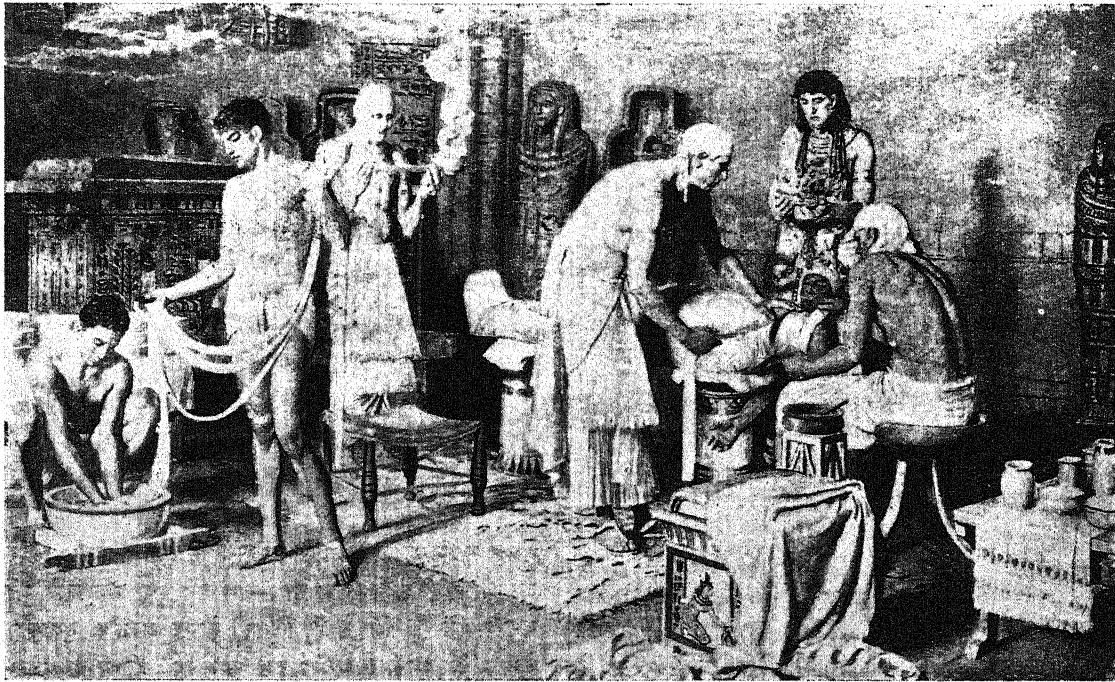
(ऊपर के चित्र में) प्राचीन मिस्र में शल्य-क्रिया द्वारा मृत सम्राट् के शव की मोमियाई (Mummy) बनाने का दृश्य।
(नीचे के चित्र में) मिस्री सम्राट् की मृत्यु पर शोक मनाने का दृश्य। दाहिनी ओर मृतक की मोमियाई खड़ी है।
[सुप्रसिद्ध चित्रकार 'मतानिया' के दो चित्र]

चट्टान से बनाया गया है और पत्थर की बड़ी-बड़ी शिलाओं द्वारा उसे पूरा किया गया है। एक समय मस्तक को छोड़कर मूर्ति का शेष भाग रेगिस्तान में उड़नेवाली बालू से ढक गया था, लेकिन हाल की खुदाइयों से समूची मूर्ति फिर सतह पर निकल आई है, जिससे मूर्ति के वक्षःस्थल पर एक रोमन मन्दिर की गढ़न भी साफ दिखलाई पड़ती है। पिरामिडों के पास ही पाये गये एक शिलालेख से पता चलता है कि सम्राट् चिओप्स महान् ने इस मूर्ति का जीर्णोद्वार कराया था। इससे मालूम होता है कि लोग उस पुराने युग में भी स्फिंक्स की मूर्ति को उच्च सम्मान की दृष्टि से देखते थे।

स्फिंक्स के अलावा पिरामिडों के आस-पास और भी अनेक देवालय पाये जाते हैं, जिनके सम्बन्ध में आजकल लोगों की यह धारणा है कि वे उत्तरकाल के राजवंशों द्वारा थीबी में बनवाये गये मन्दिरों के प्राक्रूप (Prototype) हैं। हम लोगों की तरह ही मिस्रवाले भी इस लोक के जीवन की अपेक्षा परलोक का अधिक विचार रखते थे और इस कारण उनके मन्दिर अधिकतर महान् मृतात्माओं (प्राचीन सम्राटों) की गाथाओं के चित्रों से ही भरे होते थे। मिस्र के बड़े देवालयों में साधारणतया एक बाहरी आँगन होता है, उसके बाद देवालय के अधिष्ठाता पुरोहित के लिए चौड़ा उपासनागृह होता है तथा सबसे भीतर एक गर्भ-मंदिर होता है, जो परमपावन समझा जाता है और स्वयं देवता के लिए सुरक्षित रहता है। इस गर्भमंदिर या अन्तः-कक्ष में केवल राजा के वास्तविक उत्तराधिकारियों को ही प्रवेश करने का अधिकार होता है।

आरंभिक राजवंशों द्वारा निर्मित्त सभी मन्दिरों में हमें विशेष प्रकार के कमलनाल के आकार के स्तम्भ मिलते हैं, जिनके मुँडेरे कलियों के आकार के बनाये जाते थे। दूसरे प्रकार के स्तम्भ पैपिरस के पौधे या ताड़ के आकार के मिलते हैं और इन स्तम्भों का आधार (वह भाग जिस पर खंभा टिका होता है) सदैव बहुत छोटा होता था।

मस्तबाओं की दीवालों पर विविध रंगों की चित्रकारी या नक्काशी आदि द्वारा बनाये गये बहुतायत से पाये जाने-वाले उभड़े हुए चित्रों से मिस्र के तत्कालीन जीवन और स्थापत्य शैली पर बहुत-कुछ प्रकाश पड़ता है। वस्तुतः समाधि-स्थानों की दीवालें ऐसी चित्रशाला या गैलरियों का काम देती हैं, जिनमें हमें तत्कालीन मिस्रवासियों के सम्पूर्ण जीवन की विविध अवस्थाओं के दर्शन होते हैं। इस प्रकार इन भित्तिचित्रों से हमें पता चलता है कि किस तरह उस युग-विशेष में बड़ी-बड़ी मूर्त्तियाँ खड़ी की जातीं या एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाई जाती थीं; किस प्रकार समाज में ऊँची श्रेणी के लोग विविध प्रकार के मनोरंजनों में जीवन व्यतीत करते हुए नित्य सुरापानोत्सवों में रत रहते थे तथा साधारण वर्ग के किसान खेतों में परिश्रम करते और मछुए नील नदी में मछलियों का शिकार करते थे; क्योंकर अनाज पीसा जाता और भोजन पकाया जाता था; किस प्रकार लोग सम्बन्धियों की मृत्यु पर विलाप करते तथा मृतक-संस्कार का किस प्रकार का ढंग प्रचलित था; किस तरह वे अपने देवताओं की पूजा करते थे और मातृभूमि की रक्षा के लिए लड़ाई में क्योंकर शामिल होते थे। इसके अतिरिक्त समाधि-कक्षों में सर्वत्र महान् मृतात्माओं के चित्र, जिनमें कभी कभी स्थिर भावभंगीयुक्त अवस्था में साथ-साथ बने हुए पति-पत्नी भी बनाये गये हैं, मिलते हैं, जिनकी शान्त गम्भीर मुखमुद्रा देखते ही बनती है। यहाँ हमें सामान्य जीवन के सुख-दुःख और विकार के भाव से रहित ऐसे सुडौल शरीरवाले राजपुरुषों के दर्शन होते हैं, जिनकी प्रशान्त मुद्रा देखकर हम उस दैवी शासन के भाव की कुछ कल्पना कर सकते हैं, जिसका भार वे अपने ऊपर दैव द्वारा सौंपा गया समझते थे।

आरंभिक वंशों के शासनकाल के मूर्त्तिकार जिस पूर्णता को पहुँचे हुए थे, उसे देखकर कोई आश्चर्यचकित हुए बिना नहीं रह सकता। उनकी अनेक मूर्त्तियाँ देखने में सुडौल और चित्रादर्श के व्यक्तित्व की परिचायक हैं और उनको देखकर कोई भी तुरंत यह कह सकता है कि उनमें और आदर्श में कितनी अधिक समा-नता है।

आरंभिक राजवंशों के काल की मूर्त्तियों के निर्माण में जिस सामग्री का उपयोग किया गया था, वह उत्तरकाल में व्यवहार में लाई जानेवाली सामग्री की तुलना में अपेक्षा-कृत कोमल थी। इनमें से कुछ मूर्त्तियाँ लकड़ी को गढ़कर बनाई गई थीं और कुछ चूने के पत्थर को तराश कर, जो कि अधिकांश में ऊपर से रँग दी गई थीं, यद्यपि अधिकतर मूर्त्तियों पर से यह रंग बहुत दिन पहले उड़ चुका है। पिरामिडों और मस्तबों में जो उभड़े हुए चित्र मिले हैं, वे भी कई रंगों में चित्रित हैं और हमें मिस्रवासियों के तात्कालिक जीवन की रंगीनी और तड़कभड़क का भव्य परिचय देते हैं।

मानव ने लिखना कैसे सीखा ?

वर्णाक्षरों का विकास—(२)

पिछले भाग में आप मिस्री चित्र-लिपि के रूप में वर्णाक्षरों की सर्वप्रथम रूपरेखा का दिग्दर्शन कर चुके हैं। इस और आगे के लेख में चित्र-लिपि से आगे चलकर किस प्रकार आज के वर्णाक्षरों का विकास हुआ, यह जानने का हम प्रयत्न करेंगे।

वर्णाक्षरों को अंग्रेज़ी में 'अल्फ़ाबेट' (Alphabet) कहते हैं। जैसा कि नाम से प्रकट है, यह यूनानी भाषा के प्रथम दो वर्णाक्षरों 'अल्फ़ा' और 'बीटा' के सम्मिलन से बना है। 'अल्फ़ा' और 'बीटा' और 'अलिफ़' और 'बेथ' में जो साम्य है, वह प्रकट ही है। 'अल्फ़ा' और 'बीटा' के तो कोई भी अर्थ नहीं हैं, परन्तु सैमिटिक भाषा के 'अलिफ़' और 'बेथ' सार्थक हैं। अलिफ़ 'बैल' का द्योतक है और बेथ 'गृह' का।

अंग्रेज़ी वर्णाक्षरों का सम्बन्ध रोमन वर्णाक्षरों से है, और रोमन का यूनानी से। यूनानी का सैमिटिक से है, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। यूनानी और सैमिटिक वर्णाक्षरों में केवल नाम का ही साम्य नहीं है, किन्तु जिस क्रम से यूनानी वर्णाक्षर प्राप्य हैं, उससे प्रत्यक्ष है कि सैमिटिक जाति ने ही यूनानियों को पूर्ण वर्णमाला दी। यद्यपि नामों में साम्य है, परन्तु रूप में नहीं है। रूप पूर्णतया विभिन्न हैं और इस बात के साक्षी हैं कि रूप-विभिन्नता अपनी-अपनी अवस्थाओं और आवश्यकताओं पर निर्भर होती है। यद्यपि अर्वाचीन हीब्रू और यूनानी वर्णाक्षरों में कोई साम्य दृष्टिगोचर नहीं होता, परन्तु हम आदिम सैमिटिक और आदिम यूनानी वर्णाक्षरों में पर्याप्त ही नहीं लगभग पूर्ण साम्य के दर्शन करते हैं (देखिए पृ० ४८६ का चित्र)। इन वर्णाक्षरों के अध्ययन से हमको यूनानी वर्णाक्षरों की उत्पत्ति का ही पता नहीं मिलता, वरन् अंग्रेज़ी के बड़े वर्णाक्षरों (Capitals) और सैमिटिक वर्णाक्षरों के प्राचीनतम रूपों की रूपरेखा का भी पता लग जाता है। और यह देखकर आश्चर्य होता है कि ढाई हज़ार वर्षों से अधिक समय बीत जाने पर भी इनमें कितना कम परिवर्त्तन हुआ है!

बिना किसी कठिनाई के हम मोआबाइट प्रस्तरवाले लेख में अंग्रेज़ी के वर्णाक्षरों का तो पता लगा ही सकते हैं, परन्तु यदि विशेष परिश्रम किया जाय, तो सीरिएक, रूसी, हीब्रू, आर्मीनियन, पाली, पैह्लवी आदि का भी पता लगाने में कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होती। जो भी कठिनाइयाँ होंगी, वे केवल क्रम की। कहीं-कहीं पर क्रम न मिलेगा। इतना होने पर भी यह निश्चयपूर्वक कहने में कोई संकोच नहीं हो सकता कि सम्पूर्ण वर्णाक्षरों की (जिनकी संख्या लगभग तीन हज़ार है) उत्पत्ति सैमिटिक भाषा से ही हुई और मोआबाइट प्रस्तर के लेख में सभी वर्णाक्षरों के बीज सूक्ष्मतः प्राप्य हैं।

परम्परा का कथन है कि फ़िनीशियन लोगों ने मिस्र से लेखनकला को ले जाकर यूनान में प्रतिष्ठित किया। इस कथन पर सचाई की मोहर लगाने के लिए प्लैटो, प्लूटार्क, और टैसिटस आदि के नामों का उल्लेख किया जाता है, परन्तु जिस प्रकार हमने ऊपर यूनानी और सैमिटिक वर्णाक्षरों में साम्य स्थापित किया है, उसी प्रकार किसी भाँति भी सैमिटिक वर्णाक्षरों की उत्पत्ति मिस्री चित्र-वर्णमाला से स्थापित करने में हम असमर्थ हैं। न क्रम, न नाम, न रूप, किसी में भी साम्य नहीं दिखलाई पड़ता। इससे निष्कर्ष निकलता है कि परम्परा का यह कथन कि सैमिटिक अक्षर मिस्र से प्राप्त हुए हैं असत्य है।

विद्वान् जिसैनियस (Gesenius) का कथन है कि सैमिटिक चित्र वर्णमाला ही बाद की संशोधित वर्णमाला का आधार है। उदाहरणार्थ 'अलिफ़' का पूर्व रूप बैल के सिर का चित्र है, 'बेथ' का मूलरूप 'खेमा' है, आदि। प्रोफ़ेसर ह्विटनी और अर्नेस्ट रेनॉन जैसे प्रकाण्ड पण्डितों का कथन है कि फ़िनीशियन जाति ने मिस्र जाति से लेखन-कला को सीखा और संसार भर में फैलाया। कई शताब्दियों तक वर्णमाला की उत्पत्ति के बारे में कोई भी निश्चयात्मक बात स्थिर नहीं की जा सकी थी। परन्तु खोज करने से अब पता लग गया है कि सैमिटिक वर्णाक्षर किस प्रकार प्रादुर्भूत हुए। इसका श्रेय एक फ़्रान्सीसी विद्वान् इमानुअल रूज़े महोदय को है। इनकी खोज का सिद्धान्त था कि सैमिटिक वर्णमाला का पूर्व रूप मिस्री चित्र-वर्णमाला में न ढूँढ़कर चित्र-वर्णमाला की अनवरुद्ध लिपियों (Cursive Letters) में ढूँढ़ना चाहिए, जिनको जनता प्रतिदिन व्यवहार में लाती थी। चित्र-वर्णमाला तो केवल जातीय महान् कार्यों और धार्मिक व्यवस्थाओं के लिए ही व्यवहृत होती थी।

रूज़े महोदय की खोज का नतीजा यह है कि चित्र-वर्णमाला का अनवरुद्ध लिपि-रूप प्राचीन हाएरेटिक लिपि थी, जिसका उत्पत्तिकाल हाइकसौज़ (Hyksos) के आक्रमण के पश्चात् आता है, जब सैमिटिक सेना ने दक्षिण मिस्र पर आधिपत्य जमाया था। लगभग छः शताब्दियों के अन्दर-अन्दर सैमिटिक वर्णमाला बढ़ी और पनपी।

रूज़े महोदय ने प्रचलित प्राचीनतम सैमिटिक वर्णाक्षरों से अपने अनुसंधान का कार्य प्रारम्भ किया। इनसे समानता स्थापित करने के लिए इस सूक्ष्मदर्शी विद्वान् ने हाइकसौज़ के मिस्र से बहिष्कृत होने के पूर्वकाल के हाएरेटिक अक्षरों को खोज निकाला। फिर प्रत्येक चिह्न (Symbol) की शुद्ध ध्वनियों को खोज निकाला। इसके लिए इन्होंने सीरिया प्रदेश के नगरों के नामों का व्यवहार किया, जिनका उल्लेख 'पैपिरस अनास्तासी' में किया गया है। यह पैपिरस सीरिया में यात्रा-सम्बन्धी विवरण की एक पुस्तक है। इस विधि से रूज़े महोदय ने प्रत्येक सैमिटिक वर्णाक्षर के हाएरेटिक पूर्वरूप का पता लगाया। रूज़े के इस प्रयास का महान् फल तो यह हुआ कि इनकी खोज का पदानुसरण कर शुद्ध वैज्ञानिक रूप से भाषा-सम्बन्धी अनेक खोजें सम्भव हो गईं।

हाएरेटिक लिपि में लिखी हुई संसार की प्राचीनतम पुस्तक जो उपलब्ध हो सकी है, वह है पैपिरस प्रीस (Papyris Prisse)। यह थीबी (Thebes) में प्रीस नामक विद्वान् को बहुत खोज के अनन्तर मिली थी। सर्वप्रथम यह सन् १८४७ में प्रकाशित की गई। इसमें कुल मिलाकर अठारह पृष्ठ हैं। पहले दो पृष्ठ कुछ अस्पष्ट हैं और अन्तिम सोलह पृष्ठों में उपदेश लिखे हुए हैं। लिपि के वर्ण पूर्ण, सुगठित और सुन्दर हैं। जब सैमिटिक जाति की विजय-पताका मिस्र में फहराई, उस काल में यह हाएरेटिक लिपि साहित्यिक और व्यापारिक कार्यों के लिए व्यवहृत होती थी। उसी का सर्वोत्तम उदाहरण यह पैपिरस प्रीस है। इससे पहले के दो उदाहरण और उपलब्ध हैं। तीनों पैपिरस देखने से स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक वर्ण के लेखन की विधि प्रायः एक-सी ही है।

पैपिरस प्रीस की दो सतरें

'हिन्दी विश्व-भारती' के पिछले (तृतीय) भाग में इसी स्तम्भ के पृष्ठ ३५१ पर दिये गये चित्र में तीसरे खाने में फ़िनीशियन (सैमिटिक) अक्षर दिये गये हैं, जैसे कि वे मोआबाइट प्रस्तर पर खुदे हुए हैं। उसी चित्र के दूसरे खाने में हाएरेटिक अक्षर दिये गये हैं। पहले खाने में मिस्री हाएरोग्लाइफ़िक्स दिये हुए हैं। समस्त हाएरेटिक अक्षर एक या दो के अतिरिक्त पैपिरस प्रीस से लेकर दिये गये हैं। फ़िनीशियन (सैमिटिक) और हाएरेटिक रूपों का अध्ययन करते समय यह स्मरण रखना आवश्यक है कि पैपिरस प्रीस और मोआबाइट प्रस्तर के बीच का काल लगभग १३०० वर्ष का है। इसमें वर्णमाला के अक्षरों के रूपों में परिवर्तन होना अनिवार्य था। आश्चर्य तो इस बात का है कि रूपान्तर इतना थोड़ा रहा, और अधिक न हो सका। विशेष अन्तर तो हाएरेटिक और हाएरोग्लाइफ़िक में दृष्टिगोचर होता है।

रूज़े महोदय ने बड़ी छानबीन के पश्चात् अपनी खोज के नतीजों को लिखा है। पूर्ण विवरण तो उनकी पुस्तक के अवलोकन से ही मिल सकता है, परन्तु यहाँ एक-दो उदाहरण देकर ही हम सन्तोष कर लेंगे।

फ़िनीशियन भाषा में अन्य भाषाओं की तरह 'र'

और 'ल' में विशेष अन्तर नहीं है। 'र' ध्वनि का प्रतीक चित्रवर्णमाला में मुख है (दे० भाग ३ पृष्ठ ३५१ का चित्र) और 'ल' का है सिंहनी (दे० वही चित्र)। इसके हाएरेटिक और सैमिटिक रूप भी (उसी चित्र में) इन संकेत-चिह्नों के आगे दिये गये हैं। पैपिरस प्रीस की गोलाई मोआबाइट प्रस्तर के कोण में परिवर्तित हो गई है। यह अन्तर लेखन-सामग्री के कारण है।

हाएरोग्लाइफ़िक वर्णमाला में 'ब' का प्रतीक 'बर्र' है (दे० तीसरे भाग का पृष्ठ ३५१ का चित्र)। इसके मोआबाइट प्रस्तर के रूप और हाएरैटिक रूप में कोई विशेष अन्तर ही नहीं, प्रत्युत पूर्ण समानता दिखलाई पड़ती है।

'श' ध्वनि के लिए हाएरोग्लाइफ़िक संकेत है 'जल-पूर्ण उद्यान' का चित्र (दे० उक्त चित्र)। इसके फ़िनीशियन रूप और हाएरेटिक रूप में कितनी समानता है, स्पष्ट ही है। फ़िनीशियन वर्ण केवल अनावश्यक पुछल्ला हटाकर बना लिया गया है। पुछल्ला लेखक की अपनी कलात्मक भावना का प्रदर्शन भी हो सकता है।

इसी प्रकार अन्य वर्णों का अध्ययन कर हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि कम-से-कम १६ वर्णों की समानता तो पूर्ण सन्तोषप्रद है। अन्य वर्णों के लिए सन्देह की काफ़ी गुञ्जाइश है। यदि खोजकर और कुछ सामग्री मिल सकी, तो बहुत अंशों में ये संदेह भी मिट जायँगे।

एक बात यहाँ और स्पष्ट करना आवश्यक है। जिस अनुमान के सहारे रूज़े महोदय ने मिस्री और सैमिटिक वर्णों में समानता दिखलाने की चेष्टा की है, यद्यपि वह मैक्समूलर, लेनोर्मा, माहाफ़ी आदि जैसे भाषाविज्ञों को मान्य है फिर भी बहुतों ने उस अनुमान को मिथ्या सिद्ध किया है।

मिथ्या सिद्ध करनेवालों में प्रो० लागार्दे प्रमुख हैं। इन महोदय का कहना है कि कितनी ही सैमिटिक ध्वनियाँ सैमिटिक भाषा की विशेषताएँ हैं, और वे मिस्री वर्णमाला में कभी भी स्थान नहीं पा सकतीं। अतः सैमिटिक वर्णों की उत्पत्ति सैमाइट जाति के ही मस्तिष्क की उपज हो सकती है। परन्तु इसमें लागार्दे महोदय यह भूल करते हैं कि जब एक जाति दूसरी जाति की वर्णमाला को अपनाती है, तो यह आवश्यक नहीं कि ध्वनियों में पूर्ण साम्य हो। समानता लगभग मिलती-जुलती ही हो सकती है। उसी ध्वनि को हम अन्य जातियों की वर्णमाला द्वारा प्रकट कर सकते हैं। इसी प्रकार के अन्य आक्षेप हैं, जिनका निराकरण थोड़ी-सी समझ के प्रयोग से हो सकता है।

सैमिटिक अक्षर सैमिटिक चित्र-लिपि से बने, यह सिद्ध करने के लिए हमारे पास कोई प्रमाण नहीं। न तो प्राचीन भाव-चित्र मिलते हैं, न प्राचीन स्मारक ही, जिन पर प्राचीन चित्र अभिलिखित हों। कुछ विद्वानों का कथन है कि सैमिटिक अक्षर हिट्टाइट चित्र-लिपि के परिवर्तित रूप हैं। परन्तु इस कथन की पुष्टि के लिए अभी तक कोई प्रमाण पेश नहीं किये गये हैं।

अतएव हमारे लिए रूज़े महोदय के सिद्धान्त को अपनाने के अतिरिक्त कोई दूसरा चारा नहीं है। लॉर्ड बीकन्सफ़ील्ड के कथनानुसार सैमाइट जाति निश्चय ही एक महान् जाति है और निस्सन्देह वर्णमाला के आविष्कार का श्रेय उसी को प्राप्त है।

ध्वनि-चिह्नों अथवा प्रतीकों का सरलीकरण करने के महत्व के अतिरिक्त हम उस साहस की भूरि-भूरि प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते, जिससे प्रेरित होकर मिस्री चित्र-लिपि के अनेक अनावश्यक उपादान दूर कर वर्णमाला का सहज रूप देखने को मिला। परन्तु अभी वर्णमाला पूर्णरूपेण विकसित नहीं हुई थी। पूर्णता तो अनेक शताब्दियाँ बीतने पर मिली। परन्तु इस पूर्णता का श्रेय आर्यों को मिला। आर्यों ने ही संसार को स्वर दिये।

सैमिटिक वर्णमाला का बड़ा कुटुम्ब है। उसमें फ़िनीशियन, हीब्रू, सीरिएक, अरामियन, मोआबाइट और अरबी मुख्य हैं। इनके अक्षरों के रूप विभिन्न हैं, परन्तु इन सब की उत्पत्ति एक ही आदिम वर्णमाला से है। मोआबाइट प्रस्तर के अभिलेख पर सैमिटिक लिपि की समस्त विशेषताएँ—अक्षरों का क्रम, संख्या, नाम, शुद्ध स्वरों का पूर्ण अभाव, दाईं से बाईं ओर को लिखना, आदि—देखने को मिलती हैं और यह पैपिरस प्रीस के काल से लेकर अब तक ज्यों की त्यों बनी हैं। शुद्ध स्वरों का पूर्ण अभाव सर्वप्रधान विशेषता है। सैमिटिक वर्णमाला में जितनी भी ध्वनियाँ हैं, उनमें भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। कंठ्य ध्वनि के लिए कोई प्रतीक नहीं। अक्षरों की संख्या उतनी ही है; न घटी है, न बढ़ी।

अक्षरों के रूप बहुत बदल गये हैं। उनका अधिकाधिक अनवरुद्ध लिपि की ओर ही झुकाव रहा है और वे आधुनिक अरबी में अन्तिम सीमा को पहुँच गये हैं। मोआबाइट प्रस्तर पर अभिलिखित अक्षरों में से बारह के रूपों में

पूर्ण परिवर्त्तन देखने को मिलता है। ये आदिम चिह्न उनके परिवर्तित रूपों के साथ नीचे दिये जाते हैं:—

इन रूपों को पहचानने में कितनी कठिनाई है, यह स्पष्ट है। पढ़ने की कठिनाई को दूर करने के लिए नुक़ते लगाये गये, जिससे कि ये ठीक-ठीक पढ़े जा सकें। अब ये इस प्रकार लिखे जाते हैं:—

लिखनेवाले को कितनी दिक़्क़त उठानी पड़ गई, यह लिखनेवाला ही जानता है। वास्तव में नुक़्तों के लगाने से अक्षर अथवा वर्ण ग़ायब हो गया और शब्दमात्र रह गया। अक्षर का कोई व्यक्तिगत अस्तित्व ही न रह गया।

'बे' 'नून' 'ये' 'ते' का नुक़्तों के अभाव में एक ही रूप है। प्राण-ध्वनि (Aspirate) 'ह' स्थिति के अनुसार चार प्रकार से लिखी जाती है और इसके चार रूप और भी हैं जिनको हम यहाँ महाप्राण कह सकते हैं।

अरबी की लिपि को पढ़ने से पहले उसको भाषा के रूप में जानना नितान्त आवश्यक है। इसके विरुद्ध आर्य भाषाओं में अक्षर की महत्ता उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई है। प्रत्येक अक्षर स्पष्ट है और आदिम रूपरेखा उसकी ज्यों-की त्यों बनी रही है। अँग्रेज़ी के अक्षरों O, Y, H, Q के आदिम रूप मोआबाइट अक्षरों के उन रूपों से मिलते-जुलते हैं, जो तीसरे अंक के लेख के ३५१ पृष्ठ के चित्रों में इन रोमन अक्षरों के सामने दिये हैं। अन्य अक्षरों में भी विभिन्नता विशेष नहीं है। जो भी परिवर्तन हुए हैं, वे आदिम रूप को और अधिक स्पष्ट करने के हेतु से हीं। उदाहरणार्थ D के लिए हाएरेटिक संकेत का आधुनिक रूप कितना पुष्ट होकर निखरा है! उसी प्रकार P का हाए-रेटिक आदिम रूप भी है। परिवर्त्तन कम-से-कम हैं और हैं अक्षर को एकदम भिन्न, सरल, सुस्पष्ट रूप देने के लिए। आर्य-वर्णमाला के अक्षर पढ़ने में सीधे हैं, सैमिटिक वर्ण-माला के अक्षरों को लिखने के लिए कम समय की अपेक्षा है। टेलर महोदय के कथनानुसार "यदि सैमिटिक लिपि मनुष्य की खोपड़ी की हड्डी का ढाँचामात्र है, तो आर्य-लिपि एक जीवित मनुष्य का पूर्ण स्वस्थ मुख है, जिसमें हृदयगत भावनाओं, क्रोध की भभकती ज्वाला और मीठी मृदु मुसकान को व्यक्त करने की पूर्ण क्षमता है।" अस्तु।

सैमिटिक वर्णमाला की तीन प्रधान शाखाएँ थीं—फ़िनीशियन, जिससे ग्रीक (यूनानी) वर्णाक्षरों की उत्पत्ति हुई; अरामियन, जिससे ईरानी वर्णाक्षरों की उत्पत्ति हुई और दक्षिणी सैमिटिक, जिससे कि देवनागरी अक्षरों की उत्पत्ति हुई।

सैमिटिक वर्णाक्षरों का प्रामाणिक इतिहास ईस्वी पूर्व नवीं शताब्दी से थोड़ा बहुत मिलता है। उस समय से लेकर अब तक उसके वर्णमाला के रूपों के विकास का इतिहास कुछ तथ्यता के साथ तो पेश किया ही जा सकता है। इससे कुछ काल पूर्व यूनानी वर्णमाला का प्रादुर्भाव हो चुका था। इन्हीं यूनानी अक्षरों से सैमिटिक अक्षरों के पुराने रूपों का अनुमान कर लिया गया है। इसी प्रकार आदिम अरबी अक्षरों का भी काल निर्णय किया गया है।

अरामियन वर्ग के वर्णाक्षरों का साहित्य-निर्माण में बड़ा ज़बर्दस्त हाथ रहा है। हीब्रू, सीरिएक और अरबी इसी वर्ग में हैं। इस वर्ग की वर्णमाला की उत्पत्ति सीरिया प्रदेश में बतलाई जाती है। जब इससे लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व फ़िनीशियन जाति की शक्ति का ह्रास हो चुका, तो अरामियन वर्ग की वर्णमालाओं ने फ़िनीशियन वर्णमाला का स्थान ग्रहण किया और शनैः-शनैः वह पूर्ण विकास को प्राप्त हुई। फ़िनीशियन वर्णमाला का तो आज अस्तित्व ही नहीं रहा है। हाँ, उसकी एक उत्तराधिकारिणी—आधुनिक सैमेरिटन—अवश्य बच रही है, जिसके बोलने-लिखनेवाले इने-गिने परिवार ही हैं। फ़िनीशियन वर्णमाला द्वारा कोई साहित्य का निर्माण नहीं हुआ। इसके द्वारा केवल थोड़े-से पत्थर अमर हो गये हैं। इन पत्थरों पर अभिलिखित लेखों से ही आज हम इसकी वर्णमाला का पता लगा सके हैं (देखो पृष्ठ ३५१)। सबसे प्राचीन पत्थर 'मोआबाइट प्रस्तर' के नाम से प्रसिद्ध है। इस पर मोआब के राजा मेशा द्वारा खुदवाये निम्न टूटे फूटे वाक्य हैं—"मैं मोआब के राजा कामोशगाद का पुत्र मेशा हूँ। मैं दिबोनाइत हूँ। मेरे पिता ने मोआब में ३० वर्ष तक राज्य किया, और मैंने अपने पिता के पश्चात् राज्य किया। और मैंने मैदान में...... कामोश की स्मृत्यर्थ यह स्मारक निर्माण कराया। मुक्ति... क्योंकि उसने मेरी सब भयों से रक्षा की थी, और उसने मेरे शत्रुओं पर मेरी मनोकामना प्रकट

हीब्रू वर्णमाला			अरबी वर्णमाला		ग्रीक वर्णमाला	
ध्वनि-चिह्न	रूप	नाम		अर्थ	रूप	नाम
अ	א	अलिफ़	ا	बैल	α	अलफ़ा
ब	ב	बे (बेथ)	ب	गृह	β	बीटा
(ग) ज	ג	जीम	ج	ऊँट	γ	गामा
द	ד	दाल	د	द्वार	δ	डेल्टा
ह	ה	हे	ح	खिड़की	ε	ऐपसाइलौं
व	ו	वाव	و	हुक	ϛ	वाउ
ज़	ז	ज़े	ز	अस्त्र	ζ	ज़ीटा
ख़	ח	ख़े	خ	रोक	η	ईटा
त	ט	तोय	ط	सर्प	θ	थीटा
य	י	ये	ي	हाथ	ι	आइओटा
क	כ	काफ़	ك	हथेली	κ	काप्पा
ल	ל	लाम	ل	अंकुश	λ	लामडा
म	מ	मीम	م	जल	μ	यू
न	נ	नून	ن	मत्स्य	ν	नू
स	ס	सीन	س	मेख़	ξ	क्सी
अ	ע	ऐन	ع	चक्षु	ο	ओमाइक्रौं
प	פ	पे	پ	मुख	π	पाई
स	צ	स्वाद	ص	भाला	ϡ	सान
क़	ק	क़ाफ़	ق	गाँठ	ϟ	कोप्पा
र	ר	रे	ر	शिर	ρ	र्हो
श	ש	शीन	ش	दाँत	σ	सिग्मा
त	ת	ते	ت	चिन्ह	τ	ताउ

करने का मुझे अवसर दिया था...इज़राइल के राजा ओमरी ने बहुत काल तक मोआब को सताया, क्योंकि कामोश उसके देश से क्रुद्ध था और उसके पश्चात् उसका पुत्र राजा हुआ और उसने भी कहा मैं मोआब को चैन न लेने दूँगा।"

इस प्रस्तर में छः सतरें हैं। जिस प्रस्तर पर यह खुदा है, वह बड़ा ही सख्त है। अक्षर सब स्पष्ट हैं। इससे निश्चित् तिथि का पता लगता है। इस प्रस्तर की ऐतिहासिक महत्ता स्पष्ट है। यह प्रस्तर आजकल लूव्रें (पेरिस) में सुरक्षित है। लूव्रें में आने से पहले यह प्रस्तर ४१ इंच ऊँचा और २१ इंच चौड़ा था और इस पर ३४ सीधी सतरें थीं। फिर फ्रांस और जर्मनी दोनों ने इसको अपने क़ब्ज़े में करने की कोशिशें कीं। बहुत झगड़े हुए। अरब-निवासियों ने इस पर उसको तोड़ डाला और टुकड़े अपने-अपने घरों पर उठाकर ले गए। लगभग ४० टुकड़ों का पता लग सका है। जो टुकड़ा लूव्रें में सुरक्षित है, वह भाषाविज्ञों के बड़े ही काम का है। उसी का अनुवाद ऊपर दिया गया है।

जब सब वर्णमालाओं की जननी फ़िनीशियन लिपि फ़िनीशियन साम्राज्य और व्यापार के नष्ट होने पर प्रभाहीन हो गई, तो उसकी उत्तराधिकारिणी एशिया महाद्वीप में अरामियन लिपि हुई और योरप में ग्रीक। अरब के पठारों में जन्म लेने के कारण यह अरामियन कहलाई। अरामियन वर्णमाला के विस्तार का कारण मुख्यतः राजनीतिक था, और किसी हद तक व्यापारिक भी। टाइर (Tyre) की विजय के पश्चात् इस लिपि ने राज्याश्रय पाया। फ़ौज, कचहरी, दफ़्तर सभी जगह यही लिखी जाने लगी। यरूशलीम में मन्दिर बनवाने के लिए जो आज्ञापत्र एज़रा को दिया गया था वह अरामियन भाषा में ही लिखा गया था। असीरियन और बैबिलोनियन इन दो साम्राज्यों के आश्रय में क्यूनीफ़ार्म लिपि के पश्चात् यही लिपि खूब फली-फूली। सिकंदर की विजयों के पश्चात् जब दुनिया का नक़शा बदला, तब जहाँ-जहाँ ग्रीक वर्णमाला न पहुँच सकी, वहाँ-वहाँ अरामियन भाषा ही प्रचलित हुई। इसके प्रमाणस्वरूप अनेक सिक्के, भारत, मिस्र, फ़ारस और अरब आदि देशों में मिले हैं।

लगभग ८०० वर्ष तक शक्ति संचय करने के पश्चात् यह लिपि पदच्युत हुई और इसका स्थान अनेक (विशेषकर धार्मिक) कारणों से अन्य लिपियों ने ले लिया। अब सीरिएक, अरबी, हीब्रू, पारसी, मंगोलिअन आदि उपलिपियों ने अपना-अपना विस्तार आरम्भ किया। इस्लाम धर्म, यहूदी धर्म, ईसाई धर्म, पारसी धर्म आदि सब अपनी विशेष लिपियों को साथ लेकर बढ़े। चीन में मंगोलिअन वर्णमाला का प्रचार है; पारसी लिपि का बम्बई में; सीरिएक लैबनन, कास्पियन सागर के तटवर्ती प्रदेशों तथा भारत के मालाबार प्रदेश में प्रचलित है; और अरबी उत्तरी अफ्रीका में मोरोक्को से लेकर सुमात्रा द्वीप पर्य्यन्त जारी है और इसी के विभिन्न अपभ्रंशों का प्रयोग एशिया के अनेक देशों में हो रहा है।

अरामियन लिपि का महत्त्व केवल ऐतिहासिक है। इसने तीन साहित्यिक लिपियों को जन्म दिया—अरबी, हीब्रू और सीरिएक। यद्यपि उसका निजी अस्तित्व अब नहीं है, तदपि वर्णमाला के इतिहास में उसकी अमर छाप है।

आदिम सैमिटिक वर्णमाला की तीसरी शाखा दक्षिणी सैमिटिक के नाम से प्रचलित है। फ़िनीशियन शाखा से योरप की विभिन्न वर्णमालाओं का जन्म हुआ; दूसरी शाखा अरामियन से मध्य और पश्चिमी एशिया की वर्णमालाओं का जन्म हुआ और तीसरी से अबीसीनिया और भारत की वर्णमालाओं का विकास हुआ। तीसरी शाखा को 'ईथिओपिक' और 'जौकतानाइत' (Joktanite) भी कहते हैं।

अनेक वर्षों तक दक्षिणी सैमिटिक की केवल एक ही वर्णमाला का पता था—ईथिओपिक। इसमें अबीसीनिया-निवासी ईसाइयों की धार्मिक पुस्तकें लिखी हुई हैं। इसकी लिपि का इतिहास, इसमें क्या-क्या परिवर्तन क्यों और कैसे हुए, आदि सब अंधकार के गर्त में हैं, कोई कुछ नहीं कह सकता। यह सैमिटिक वर्ग की ही भाषा है यह सत्य है, क्योंकि इसकी वर्णमाला के कुल नाम सैमिटिक हैं। हाल ही में अदन के निकट कुछ सिक्के मिले हैं, जो कि साबियन लिपि में हैं। साबियन लिपि ईथिओपिक का पूर्व रूप है। उत्तरी सैमिटिक लिपि और साबियन लिपि में कोई साम्य नहीं है। लगभग १०० वर्ष पूर्व दमिश्क के निकट साफ़ा में कुछ लेख मिले हैं। इनके अध्ययन से उत्तरी और दक्षिणी सैमिटिक लिपियों में साम्य स्थापित करने-वाली एक लिपि का पता चला है। इसको थामूदाइत (Thamudite) कहते हैं। इनसे पता लग जाता है कि किस प्रकार फ़िनीशियन वर्णमाला से ईथिओपिक वर्णमाला विकसित हुई। अगले लेख में यूरोपीय, ईरानी और भारतीय वर्णमालाओं पर प्रकाश डाला जायगा।

न्यू गिनी के पापुआन

सभ्यता की दृष्टि से वर्तमान मनुष्य को विभिन्न जातियों में सबसे निचली श्रेणी के लोगों—पिगमियों—से हम आपका परिचय पिछले प्रकरण में करा चुके हैं; आइए, अब अफ्रीका से एकदम सुदूर पूर्व की ओर बढ़कर प्रशान्त महासागर में स्थित न्यू गिनी द्वीप-समूह की सभ्यता से परे की दुनिया का अवलोकन करें। पहले मुख्य द्वीप—न्यू गिनी—के निवासी पापुआन को ही लें।

विकास की बिलकुल निम्न श्रेणी के मनुष्य पिगमियों को क़ाबू में लाने या उन पर आधिपत्य जमानेवाले लोगों में न्यू गिनी के पापुआनों की गिनती है। आज भी विकास के सिलसिले में इनका स्थान ठीक पिगमियों के बाद की श्रेणी में है। जिस काल में न्यू गिनी एशिया महादेश से स्थल भाग द्वारा जुड़ा था, उसी समय न्यू गिनी में पापुआनों का पहले-पहल आगमन हुआ। ये आज भी समुद्र-यात्रा से अपरिचित हैं। पिगमियों के साथ इनके ख़ून का मिश्रण भी कुछ हद तक हुआ है।

पापुआनों की भी कई जातियाँ हैं और वे कई तरह की भाषाएँ बोलते हैं। उनकी कई ज़बानें अब भी ऐसी हैं, जिन्हें सभ्य संसार का एक व्यक्ति भी नहीं समझ पाता। इनकी एक विशेषता यह भी है कि किसी भी अजनबी को देखते ही ये उसे मार डालने की कोशिश करते हैं; इसलिए इनके इलाक़े में शायद ही कभी कोई अन्वेषक प्रवेश करने का साहस करता है।

मोटे रूप से हम पापुआनों को दो हिस्सों में बाँट सकते हैं—एक घने जंगलों के, दूसरे समुद्र-किनारे के आसपास रहनेवाले। इन दोनों में बहुत-सी बातों की समानता है, पर साथ ही विभेद प्रदर्शित करनेवाली विशेषताएँ भी कम नहीं हैं।

पहले हम घने जंगलों के बीच रहनेवालों को लें। न्यू गिनी के उत्तर-पूर्व पुरानी नदी के किनारे इनकी अच्छी खासी आबादी है। इनके गाँव पहाड़ियों की चोटियों पर हुआ करते हैं। वहाँ से दूर और दूर-दूर के प्रदेश दिखाई देते हैं। प्रत्येक गाँव बड़े पुराने ढंग पर क़िलाबन्दी किये रहता है। इस काम के लिए सिर्फ़ काठ के खंभों को एक-एक बालिश्त की दूरी पर गाड़ देना ही पर्याप्त समझा जाता है। पर इस प्रदेश में, जहाँ आजकल भी पत्थरों के बने हथियार काम में लाये जाते हैं, ये दुर्ग बहुत हद तक अजेय साबित होते हैं।

घरों के आकार गोल होते हैं। वे बड़े नीचे और घासों के छप्परवाले होते हैं। पहाड़ की चोटियों पर निवास करने के कारण आग की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए प्रायः हर घर में आग घर के बीच में जलाई जाती है। पापुआन योद्धा इसी आग के सामने पाँव पसारकर उसके चारों तरफ़ अपनी चटाइयों पर सो जाया करते हैं। घर के एक कोने में सूअरों के निचले जबड़े टँगे होते हैं; यही जानवरों की बलि देने का स्थान रहता है।

पापुआन अपना भोजन काठ के बने कठौते-जैसे पात्र में और पानी बाँस के फोंफों में रखते हैं। कभी-कभी वे ही फोंफे गिलास का भी काम देते हैं। इनके व्यवहार में आनेवाले कुल्हाड़े पत्थरों के होते हैं, और चाकू हड्डियों के बनाये जाते हैं।

हम लोगों के पैमाने से इन पापुआनों की शक्ल बदसूरत ही दीखेगी। इनका क़द नाटा, चमड़ा गहरे कत्थई रंग का और डीलडौल बड़ा ही बेतुका होता है। ये कमर में पीटकर चिपटी बनाई खाल डाले रहते हैं—वही इनके वस्त्र का काम देती है। हड्डियों की बनी गोलाकार शक्ल की चीज़ें ही इनका आभूषण होती हैं। हड्डी की बनी बदशक्ल सुइयों से ये अपनी चटाइयाँ बुन लिया करते हैं और प्रकृति जो कुछ भी उपयोग की चीज़ें सामने लाती है, उसे हड्डियों

के चाकुओं से काटकर व्यवहार में लाते हैं। इनके सभी हथियार पत्थर के बने रहते हैं, जिन्हें ये साधारण पत्थर पर घिसकर तैयार कर लिया करते हैं। आग जलाने का काम दो लकड़ी के टुकड़ों को रगड़कर उनसे निकली चिनगारी द्वारा होता है। इन्हीं बातों से हम पापुआनों की भौतिक सभ्यता का अन्दाजा बहुत हद तक लगा सकते हैं।

शायद शुरू शुरू में हमारे पूर्वज भी इसी भाँति रहते रहे हों; पर फिर भी इन पापुआनों की कुछ खास विशेषताएँ हैं, जो शायद हमारे पूर्वजों में नहीं रही होंगी। इनके समाज में विधवाओं के शोक मनाने की प्रथा अजीब और अपने ढंग की निराली है। विधवा औरतें बाल कटा लेती हैं, अपने सारे शरीर में कीचड़ चबोता करती हैं और एक जाली के भीतर अपने मृत पति की खोपड़ी लटकाये उसे हमेशा साथ-साथ लिये फिरती हैं।

इनकी दूसरी बड़ी विशेषता यह है कि इनके युवा सदस्यों को एक विशेष तरीके से अपनी बहादुरी साबित करना पड़ता है। ये अपने गले में लचकदार बेंत के टुकड़े बाँधे चलते हैं। उन टुकड़ों को भिगोकर नरम बनाये उसे मुँह की ओर से अपने पेट तक पहुँचाते हैं। उन्हें इससे अवश्य ही वमन करने की प्रवृत्ति होती है, पर वे ज़बर्दस्ती अपने को इससे रोक रखते हैं, जिसकी वजह से उनकी आँखें लाल हो उठती हैं। इस प्रकार आत्मयंत्रणा द्वारा ही वे यह साबित करते हैं कि वे कठिनाइयों को झेलने में समर्थ हैं और इसी शर्त को पूरा करने पर वे अपने समाज में लिये जाते हैं।

पापुआनों की श्रेणी की संसार की और जातियाँ अपने रोगों का आप ही किसी-न-किसी प्रकार इलाज कर लेती हैं, लेकिन ये इतने पिछड़े हुए हैं कि पुराने ढंग की औषधियों का भी व्यवहार नहीं करते। इनके इलाके में प्रायः सब लोगों के दाँत खराब रहते हैं; मुसकुरे की बीमारी प्रत्येक को रहती है, आँखों के रोग, पेट के घाव आदि भी सामान्य होते हैं; पर ये किसी प्रकार का भी उनका उपचार नहीं जानते।

बाहरी संसार से इन्हें कोई वास्ता नहीं। ये खुद अपने इलाके में खेती करते हैं। ये अधिकतर ऊख और पपीते उपजाते और उन्हीं पर अपना निर्वाह करते हैं। इनका प्रत्येक गाँव ही अपने आप अपनी आवश्यकताएँ पूरी कर लिया करता है। इसलिए न तो किसी तरह का व्यापार इनके यहाँ चलता है और न नयी प्रकार की आवश्यकताओं की कमी ही ये महसूस करते हैं।

सौदा करने के रिवाज से ये अब तक अपरिचित हैं। इसका अन्दाज़ इसी से लगाया जा सकता है कि ये अपनी कोई वस्तु एक बार विनिमय कर भी लेते हैं, तो फिर उस विनिमय को पलटने के लिए दस बार लौटकर आते हैं। इनके यहाँ यह आम बात है।

अपने जानवरों से इन्हें इतनी मुहब्बत रहती है कि ये उनकी भी मृत्यु पर शोक मनाते हैं। किसी पालतू सुअर के मरने पर संसार के किसी और भाग की स्त्रियाँ शायद ही कीचड़ चबोतकर शोक प्रकाश करती होंगी, पर पापुआनों के बीच यह आम रिवाज है! वे घरेलू जानवरों के मरने पर उनके लिए अपने सम्बन्धियों जैसा ही शोक मनाती हैं।

पर इसका अर्थ यह कदापि नहीं लगाना चाहिए कि खूँखारी में पापुआन किसी क़दर कम हैं। लड़ना-झगड़ना, या मनुष्यों का खून करना इनके समाज में रोटी खाने-जैसी रोज़मर्रे की साधारण सी बात है। इसीलिए ये लड़ते समय अपने साथ के दो-तीन बच्चों को भी अपनी पीठ पर बाँधकर ले जाते हैं, जिससे जन्म से ही वे सख्ती बर्दाश्त कर सकें और आगे चलकर लड़ाई की कला में पूर्णतया प्रवीण साबित हों।

लड़ते समय ये इतने खूँखार बन जाते हैं कि अपने शत्रु के शरीर में बड़ी निर्दयतापूर्वक पत्थर के हथियार, कुल्हाड़े या तीर से गहरा घाव बना डालने में उन्हें किसी प्रकार की भी हिचक नहीं होती। कभी कभी तो ये पूरे गाँव-के-गाँव को पूर्ण तरह से जलाकर खाक बना देते हैं। एक गाँव के व्यक्ति का दूसरे गाँव के व्यक्ति से झगड़ा अक्सर ही दोनों पूरे गाँव के झगड़े का रूप ले लेता है। शत्रु को पराजित कर चुकने के बाद विजयी दल पहरा देता है, और उनकी औरतें विजितों की सम्पत्ति अपने साथ ले जाने के लिए बटोरती हैं। इनकी लड़ाइयों का ढंग लुक-छिपकर हमला करने और अंधेरे में छापा मारने के तरीक़े का है।

समुद्र किनारे के प्रदेशों के पास रहनेवाले पापुआनों की रगों में निग्रमी खून मिश्रित है। उनका क़द नाटा, पर चमड़े का रंग हल्का होता है। इनमें खास बात यह होती है कि इनका पेट बहुत अधिक निकला रहता है। भीतरी प्रदेशों के पापुआनों के समान ही इनके भी लड़ाई आदि के ढंग हैं, पर इनकी विशेषता यह है कि भाले का भी व्यवहार करते हैं। इसका व्यवहार समुद्रतट पर रहनेवाले मेलानेशियनों से इन्होंने सीखा है। इनके मकान भी भिन्न तरीक़े के होते हैं, क्योंकि इन्हें लकड़ी थोड़ी दूर से ढोकर लाना

(बाईं ओर) न्यू गिनी के उत्तर-पूर्वी प्रदेश में पुरारी नदी के पूर्व की ओर फैले हुए पर्वतों की श्रृङ्खलाएँ। इस चित्र से आप इस प्रदेश के बीहड़पन का कुछ अनुमान कर सकते हैं।

(नीचे) न्यू गिनी के नाटे क़द के कुछ पापुआन। ये लोग सिर पर एक विशेष प्रकार का शिरस्त्राण धारण किये रहते हैं।
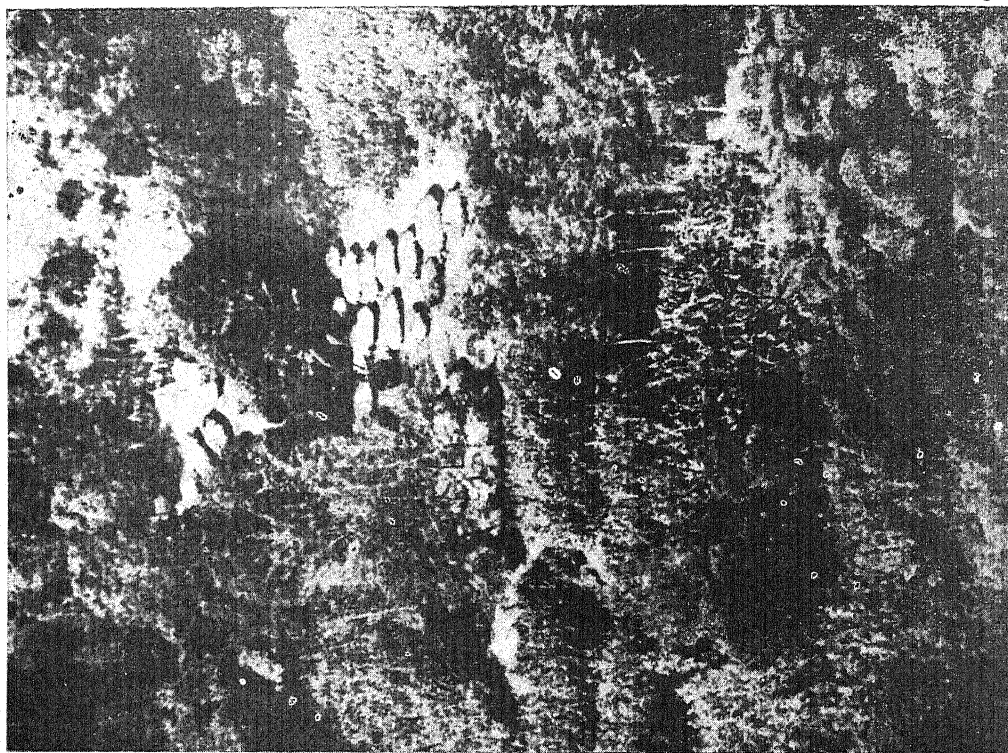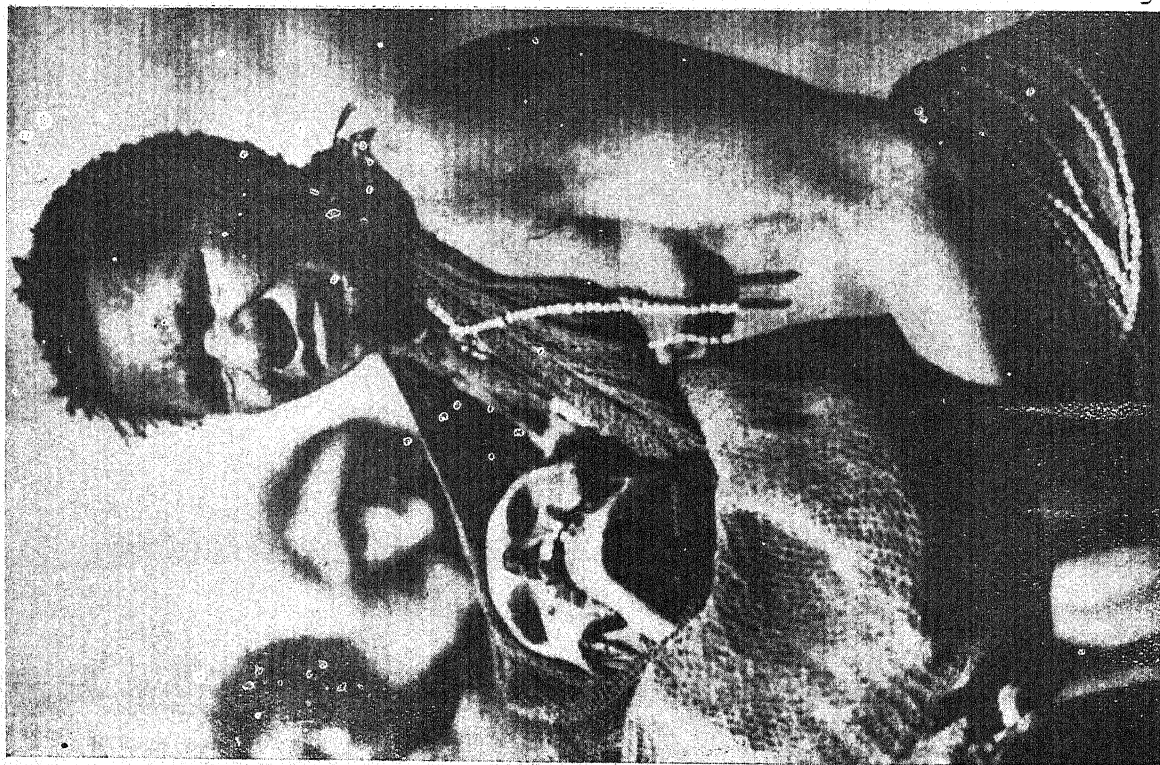
(ऊपर) पुरारी नदी के ऊपरी प्रदेश में पापुआन लोगों की उन्नत कृषि के परिचायक ईख, बाँस, आदि के खेतों और बगीचों का दृश्य ।

(बाईं ओर) पापुआनों में विधवा स्त्रियाँ इसी तरह अपने मृत पति की खोपड़ी जीवन-पर्यन्त गले में लटकती हुई एक जालीदार थैली में लिये फिरती हैं ।

पड़ता है। इनके बाल रखने का तरीक़ा भी भिन्न है। ये उसमें कोयला, धूल और शहद मलते हैं और फिर उसे पगड़ी की तरह बाँध रखते हैं, जिसकी एक दुम कंधे पर झूला करती है। यह शहद जंगली मधु-मक्खियों का होता है, इसलिए इनके सिर से बड़ी बदबू निकलती है।

इनके यहाँ भी घने जंगलों के पापुआनों-जैसे अपने मुर्दों को अपने बग़ीचों में गाड़ रखने की प्रथा है। उस क़ब्र की निगरानी के लिए ये उसके चारों तरफ़ चटाई का एक घेरा डाल देते हैं। इस इलाक़े की विधवाओं में अपने मृत पति की खोपड़ी ही नहीं, बल्कि उसके बाल और गहनों को भी ढोते चलने की प्रथा है। पर घने जंगलवालों की ही भाँति ये भी अपने शरीर में कीचड़ चबोतती हैं और बाल कटाती हैं।

समुद्री प्रदेश के पास होने पर भी इनका इलाक़ा घने जंगलवालों की अपेक्षा सभ्य संसार से कम दूर नहीं है। इनके यहाँ किसी भाँति की भी सवारी की व्यवस्था नहीं होती। अनजबी लोगों को ये भी देखते ही मार डालते हैं। इस कारण इनके आस-पास की अन्य जातियाँ भी इनके इलाक़ों में प्रवेश करने का साहस नहीं करतीं। इनके गाँव बहुत छोटे-छोटे होते हैं। अधिक से अधिक एक गाँव में दो से लेकर छः तक घर होते हैं, जिस कारण शादी-विवाह आदि के मामलों में बड़ी दिक़्क़तें आ उपस्थित होती हैं। इनके यहाँ भी बिल्कुल निकट के रिश्तेवालों से शादी न करने की प्रथा है। जिस गाँव में सिर्फ़ दो या तीन ही घर होते हैं, वहाँ यह क़ानून दूर तक लागू नहीं किया जाता। ऐसी हालत में उनके अधोगति की ओर जाने के भी चिह्न मिलने लगते हैं। बौने, लूले, पंगु और मृगी के रोगी व्यक्तियों की इनमें भरमार होने का यही कारण है।

पापुआन कभी कभी उत्सव भी मनाते हैं। ऐसे मौक़ों पर कई गाँव के लोग इकट्ठे होते हैं। औरतें खाने-पीने का सामान अपने बच्चों के साथ ही पीठ पर लटकाकर लाती हैं। मर्द नगाड़े और हथियार लेकर आते हैं। इन मौक़ों पर अपने को सजाने के लिए ये अपने इलाक़े में पाये जानेवाले विशेष प्रकार के पक्षियों के पंख व्यवहार में लाते हैं। कभी-कभी कारीगरी की गई लकड़ी और सितुहा भी व्यवहार में आता है। औरतें अपने सारे शरीर में गोदना गुदाये रहती हैं।

उत्सव के मौक़ों पर सबसे खास बात इनका नाच है। इसमें वे पक्षी और जानवरों की नक़ल करते हैं। जिन पक्षियों को ये रोज़ देखते हैं, उनकी नक़ल उतारने और ठीक उनके ही समान व्यवहार दिखाने में ये बड़े निपुण होते हैं। ये कंगारू तक की नक़ल कर लेते हैं। जानवर ही इनके पड़ोसी या यों कहिये कि इनके सहवासी होते हैं। इसलिए इनकी पूरी नक़ल उतारने में इन्हें विशेष कठिनाई नहीं होती।

अपने नृत्य में ये लड़ाई का भी दृश्य दिखाते हैं। बर्छा उठाकर एक-दूसरे पर घुड़कने का भी बहुत ही अच्छी तरह से खाका उतारते हैं। इनके बाजे भी इसी प्रकार का भाव प्रकाशित करते हैं। इनके जीवन में लड़ाई एक पेशा-सा रहता है, इसलिए उनके लिए इसका हूबहू खाका उतार लेना कठिन नहीं होता। पर इतना होने पर भी मनुष्य की सभी प्रकार की भाव-भंगी को वे नृत्य का रूप नहीं दे सकते।

पापुआनों में अंधविश्वास भी कम नहीं होता। उनकी किसी वस्तु को, अथवा जिसके पाने के लिए वे लालायित हों उसे, यदि कोई आदमी इन्हें दिखाकर आग में जला दे, तो वे उस आदमी की जान के ग्राहक हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि इनके विश्वास के अनुसार आग में जादू रहता है। उस वस्तु के जलाने का इनके लिए अर्थ होता है कि वह आदमी इनकी मृत्यु चाहता है। पर इस अपराध का रोक भी है। यदि वह व्यक्ति उसके बदले इन्हें कुछ भेंट दे दे, और कुछ नहीं तो हर्जाने के रूप में अपने शरीर का बाल ही नोच लेने दे, तो फिर ये संतुष्ट हो जाते हैं।

इनके स्वभाव का विकास इस हद तक हुआ है कि सीमित अर्थ में ये सामाजिक जीव होने का दावा कर सकते हैं। इनमें व्यक्ति की हैसियत समाज से बहुत कम रहती है। इसीलिए 'व्यक्तिगत' जीवन भी इनके इलाक़े में बहुत कम ही संभव होता है। ये एक-दूसरे के मामलों के जानने के इतने उत्सुक होते हैं कि नित्यक्रिया तक में भी एकान्त या अलग जाकर उसे पूरा करने की इनके यहाँ प्रथा नहीं है।

यदि हम इस प्रश्न पर विचार करें कि पापुआनों का जीवन आज भी हमारी तरह न होकर इस विशेष भाँति का क्यों है, तो सबसे पहले हमें उनके प्रदेश पर ध्यान देना होगा। यहाँ जहाँ तक दृष्टि दौड़ाई जा सकती है, सिर्फ़ घने जंगल-ही-जंगल दिखाई देते हैं। उनका रंग घना रहने के कारण काला दीखता है। पहली दृष्टि में तो ये वन विकराल दैत्य की तरह दिखाई देते हैं और शायद ही यह बात कल्पना में आती है कि ऐसे भयावह प्रदेशों में भी निवास

करने का कोई आदमी साहस करता होगा। इस भयानक जंगल का जीवन बहुत ही कठोर जीवन होता है। मानसून के समय यहाँ महीनों तक खूब वर्षा होती रहती है। ऐसे भी मौक़े होते हैं, जब हफ़्तों झड़ी लगी रहती है। उस समय नदी-नाले विकराल रूप धारण कर लेते हैं। पेड़ों की जड़ें खुल जाती हैं और वे गिरने लगते हैं। इस मौक़े पर जंगल का स्वरूप और भी भयानक बन जाता है; साथ ही जीवन-निर्वाह की समस्या भी और विकट बन जाती है। लोगों का स्वभाव भी इसके अनुपात में ही कड़ुआ, रूखा, खूँख़ार बन जाता है। जंगल में उतनी उपज होती नहीं कि लोग कुछ बचाकर आगे के लिए जमा कर रख सकें; इस कारण जीवन की समस्या सदा ही विकट बनी रहती है। वर्षा-ऋतु में जिन वृक्षों की जड़ें मज़बूत होती हैं, वहाँ जंगल के अन्य बहुतेरे जीव अपने बचाव के लिए आ इकट्ठा होते हैं और उन्हीं जीवों में से एक ये मनुष्य-देहधारी पापुआन भी होते हैं!

जिस प्रकार की भौगोलिक परिस्थिति में मनुष्य रहता है, वह उसे अपने ही जैसा बनने के लिए बाध्य करती है—यह सिद्धान्त पापुआनों के उदाहरण में अधिक सही उतरता है। हम इनमें प्रचलित मनुष्य-हत्या का ही उदाहरण लें। ये धर्म के नाम पर मनुष्य का सिर नहीं काटते; न मृत मनुष्य के जीव को अपने वश में करने के इरादे से, अथवा यह समझकर ही कि मारे गये आदमी की ताक़त उसका सिर काटनेवाले के भीतर चली आती है, ये नरहत्या करते हैं। ये अजनबी को देखते ही इसलिए मार डालते हैं, क्योंकि इन्हें खौफ़ रहता है कि वह उनका भोजन छीनने आया है। और नहीं तो अजनबी द्वारा उनके भोजन में बाँट-बटखरा होने का ही उन्हें खौफ़ रहता है। इसीलिए उसके प्रति किसी प्रकार का द्वेष या झगड़ा न होने पर भी वे उसकी जान ले लेते हैं। यह हत्या उनके लिए लड़ाई का एक मामूली दस्तूर है। उनके लिए यह आम बात है। इसका कारण यह है कि वह लड़ाई ही उनकी आजीविका, उनकी रोटी है। वह उनके जीवित रहने के संग्राम से संबंध रखती है।

बिना किसी परिवर्त्तन के हज़ारों वर्षों से ये पापुआन इसी भाँति न्यू गिनी में रहते चले आ रहे थे और आज भी रह रहे हैं। किन्तु इस शताब्दी के आरम्भ से उनके इलाक़े में कुछ हेर-फेर होना आरंभ हुआ है। इस परिवर्त्तन का उन पर भी थोड़ा-बहुत असर पड़ा है। इस शताब्दी के आरंभ में सभ्य संसार ने देखा कि न्यू गिनी में सोने का भंडार है, अतएव सभ्य देशों के बहुतेरे जहाज़ उस टापू के किनारे लगने आरंभ हुए और साथ ही बहुत-सी बीमारियों का वहाँ प्रवेश हुआ। हैज़ा, प्लेग, महामारी आदि की तो बुनियाद पड़ी ही, साथ ही और भी कई तरह की नई समस्याएँ यहाँ आ उपस्थित हुईं। सोने के लोभ में संसार के 'सभ्य' गिने जानेवाले लोग कालों को जीवित रहने देने के पक्षपाती नहीं थे। पर सोने के भंडार को जमा कर बोरे में कसने के लिए आदमियों की आवश्यकता थी। आबहवा अनुकूल न होने के कारण न्यू गिनी में गोरे चमड़ेवाले शारीरिक परिश्रम करने के क़ाबिल साबित नहीं हुए, इसलिए आवश्यकता इस बात की हुई कि उस प्रदेश के काले लोगों से ही यह काम लिया जाय, और इसीलिए उन्हें जीवित छोड़ दिया जाय।

अतएव टापुओं के निवासियों का ख़याल कर वहाँ कई प्रकार के परिवर्तन किये गये। स्थानों को स्वास्थ्यकर बनाने की चेष्टा की गई, पर इसका नतीजा कुछ दूसरा ही निकला। बजाय इसके कि उसका लाभ उठाकर वहाँ के बाशिन्दों की आयु बढ़े, वे जल्दी-जल्दी खत्म होने लगे! स्वास्थ्य से संबंध रखनेवाले जितने परिवर्तन हुए, उतनी ही अधिक तादाद में वहाँ के असली बाशिन्दे मरने लगे। जब वैज्ञानिकों ने इसका कारण ढूँढ़ निकाला तो उन्होंने देखा कि प्रकृति के उतने निकट और उतने प्राचीन तरीक़े से रहते-रहते इन लोगों का वहाँ एक विशेष प्रकार का स्वभाव बन गया है, इससे उनके शरीर के लिए वह वातावरण एक खास तरह की सिफ़त बन गई है, जिसके आधार पर ही ये लोग ज़िन्दा रह सकते हैं। अति प्राचीन ढंग से रहते-रहते इनमें अपने को परिवर्तित परिस्थिति में जीवित रख पाने का बूता जाता रहा है। इससे इनकी प्रगति में सबसे बड़ी रुकावट आ गई है, पर इसका कोई चारा नहीं।

पापुआनों को जीवित रहने देने के लिए जिस परिस्थिति, वायुमंडल और जिस भौगोलिक परिस्थिति में वे रहते चले आये हैं, जिसके वे आदी बन चुके हैं, उसी को बनाये रखने की आवश्यकता थी। इस सिद्धान्त के आधार पर जब से न्यू गिनी में चेष्टाएँ आरंभ हुई हैं, तब से वहाँ के पापुआनों की जन-संख्या में कमी होना रुक गया है।

इन पापुआनों के उदाहरण में भी हम यह बात बहुत ही स्पष्ट रूप में देख रहे हैं कि जिस परिस्थिति विशेष में मनुष्य रहता चला आया है, उसके आधार पर ही उसका जीवन अवलम्बित रहता है और वही उसके जीवन की दिशा तथा उसके विकास का ढर्रा निर्धारित किया करती है।

(बाईं ओर) न्यू गिनी प्रदेश का एक नर-शीश-संहारी भद्र पुरुष ! इसके सिर के अद्भुत मुकुट में जो चार नुकीले सींग दिखाई दे रहे हैं, वे इस बात के सूचक हैं कि यह सूरमा अब तक अपने चार शत्रुओं का हनन कर चुका है ! ये नुकीले शोभा के चिन्ह हार्नबिल पक्षी की चोंच से बनाये गये हैं ।

(दाहिनी ओर) भिगोकर नरम बनायी हुई बेंत की एक लंबी छड़ी को मुँह की ओर से पेट तक पहुँचाने की क्रिया, जो पापुआनों में किसी भी युवक के लिए वीरता का प्रमाण मानी जाती है । इस कठिन क्रिया को करते समय वमन करने की-सी प्रवृत्ति होती है । आँखें लाल हो जाती हैं । फिर भी घोर आत्मयंत्रणा स्वीकार करते हुए ये लोग नीचे तक पूरी बेंत को उतारते हैं और फिर उसे खींचकर बाहर निकालते हैं । इस तरह भविष्य में आनेवाली कठिनाइयों को झेलने की अपनी योग्यता का प्रमाण देने पर ही पापुआन युवक समाज में सम्मिलित किए जाते हैं ।
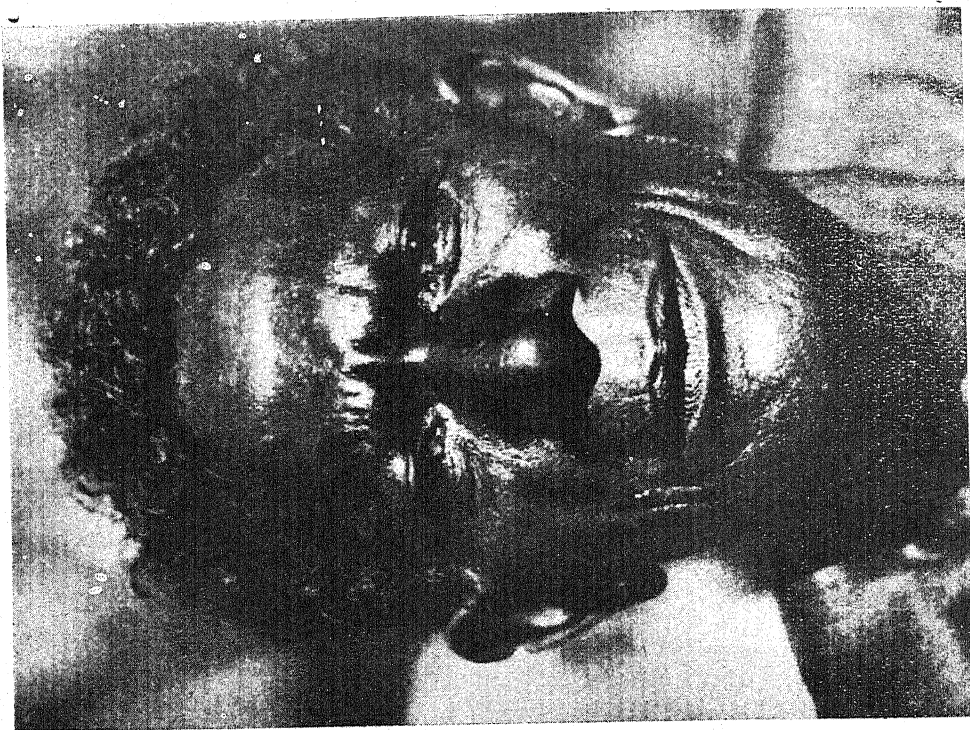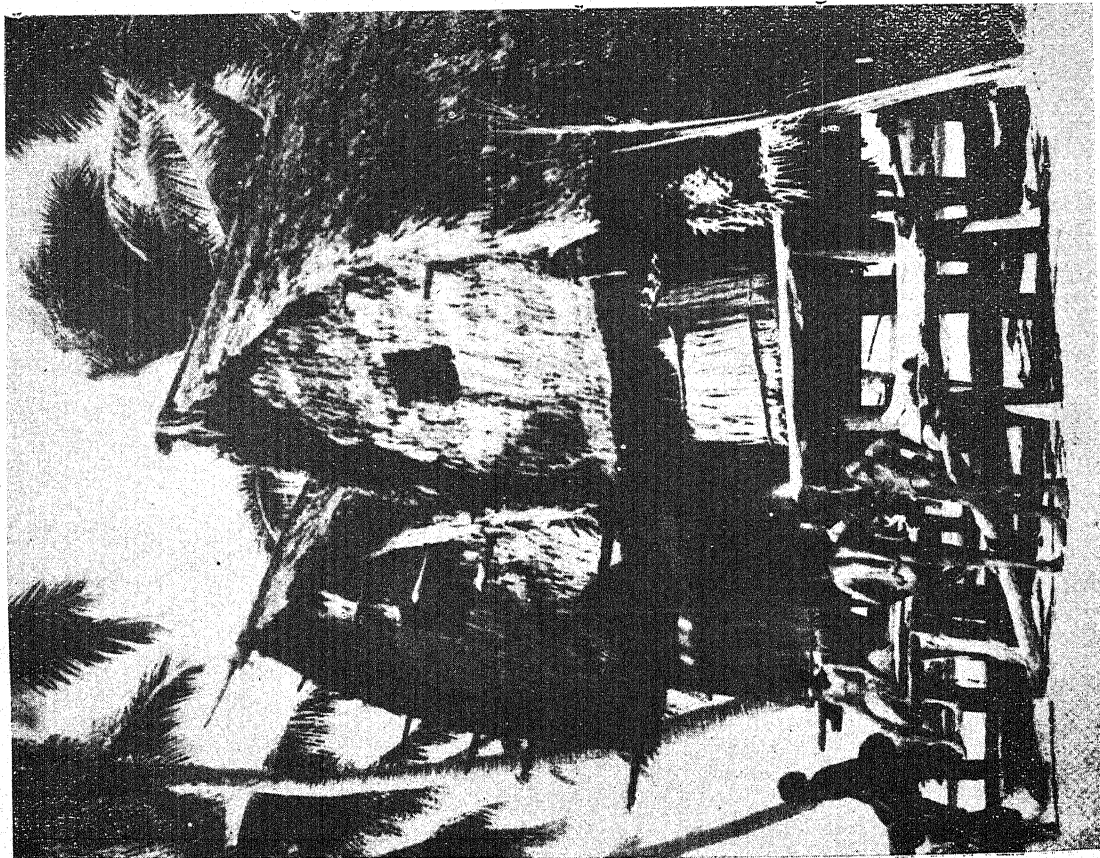
(बाईं ओर) न्यू गिनी के समीप मैलू-द्वीप के सामने की एक बस्ती के जंगली मचानदार घर ।

(ऊपर) मैलू-द्वीपवासी जंगली जाति का एक मल्लाह ।
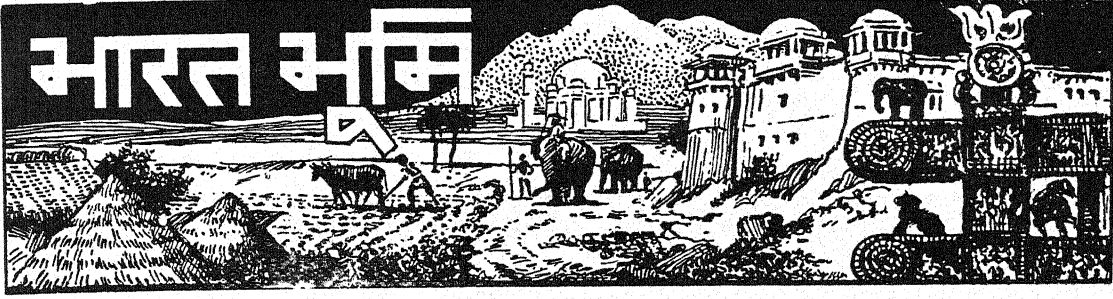
नर-मुण्ड के शिकारी—आसाम के नागा

युग-युगान्तरों को पार करती चली आ रही मनुष्य के सांस्कृतिक विकास की धारा इस ऊबड़खाबड़ पृथ्वी पर सहस्रों छोटी-बड़ी उपधाराओं में बँटकर फैल गई है। इन उपधाराओं में से कुछ तो फैलाव के लिए अनुकूल वातावरण न पाने तथा मूल स्रोत से कट जाने के कारण इतिहास की प्रथम किरणों के फूटने के पहले ही पृथ्वी से लुप्त हो गई; कुछ बरसाती नालों की तरह अल्प समय तक छटा दिखाकर अतीत के चित्रपट पर अपनी क्षणिक समृद्धि के चिह्न अंकित कर गईं। किसी ने आगे बढ़ने का और कोई रास्ता न पाने के कारण पोखरों और झीलों का रूप ले लिया, तो कोई-कोई निरन्तर अनुकूल वातावरण और शक्ति पाकर राह के दुर्जय पर्वतों को काटती-फोड़ती हुई क्रमशः विशाल नद और नदियों में परिणत हो गईं। इन्हीं में जहाँ कितनी ही छोटी-छोटी पुरानी धाराएँ मिलकर विलीन होती गईं, वहाँ सैकड़ों नवीन उपधाराएँ भी इनसे फूटकर विभिन्न दिशाओं में फैलती गईं। इस क्रमिक विभाजन के कारण ही आज हम पृथ्वी को अनेक संस्कृतियों, वर्णों तथा शारीरिक और बौद्धिक विभेदों से युक्त मनुष्य-जातियों के एक अद्भुत अजायबघर के रूप में देखते हैं। प्रायः एक ही देश और युग में विभिन्न सांस्कृतिक विकास की श्रेणियाँ हमें देखने को मिल सकती हैं। कोई-कोई जाति पिगमियों की तरह मानव विकास की निम्नतम अवस्था का प्रतिनिधित्व करती दिखाई देती हैं, तो अन्य कई जातियाँ कला विज्ञान और साहित्य की उच्च सांस्कृतिक भूमिका पर अवस्थित दिखाई देती हैं। फिर भारत तो एक देश ही नहीं वरन् महाद्वीप है, और सभ्यता के सर्वप्रथम उद्गम-स्थलों में से एक है। अतएव यदि यहाँ हमें मानव विकास की निम्नतम से उच्चतम तक सभी अवस्थाओं के चित्र देखने को मिलें, तो अचरज ही क्या है! हम जीते-जागते ३५ करोड़ भारतवासियों के सजीव राष्ट्र का चित्र खींचने बैठे हैं। किन्तु एक ही चित्रपट में एक ही साथ एक ही रंग द्वारा इसकी संपूर्ण रूपरेखा खींचना किसके बस की बात है? इसलिए हमें बार-बार दृष्टि-बिंदु घुमा-घुमाकर अनेक दृष्टिकोणों से अनेक चित्रों में इसको उतारना पड़ रहा है। इस समय हम इस देश में मानव विकास की निम्नतम अवस्थाओं का ही दिग्दर्शन करने में प्रवृत्त हैं और इस सिलसिले में मध्यप्रान्त के गोंड़ों का परिचय आपको पिछले लेख में मिल चुका है। आइए, अब एकदम पूर्वी सीमाप्रदेश पर पहुँचकर इसी श्रेणी की किन्तु इससे कहीं अधिक ख़ूँख़ार एक अन्य जाति—नागा जाति—के जीवन की एक झलक देखें। यह जाति आज दिन भी बर्मा और आसाम की सीमा पर फैली हुई दुर्गम वन्य पर्वतमालाओं में अपने प्राचीन सामाजिक संस्कारों, रूढ़िगत प्रथाओं, तथा लड़ाई-झगड़ों को ज्यों-के-त्यों क़ायम किये हुए एक निराली दुनिया में बस रही है, जिसमें आस-पास की सभ्यता की बू तक घुसने देना वह गवारा नहीं कर सकती!

सिर पर बाघ या तेंदुए की चितकबरी खाल से मढ़ा बेंत का बना, अजीब शक्ल का फुट भर से ऊँचा एक कँगूरानुमा टोप है—जिस पर शोभा के लिए पीतल की एक चमकीली पट्टी पर सेंदुरिया रंग के बालों से बँधे भैंसों के सींग के छोटे-छोटे कई चाँद टँके हैं। इस टोप पर सामने की ओर जंगली बैल के सींगों-जैसा लाल-पीले रंग का एक विचित्र आभूषण बँधा है—जो फुट भर ऊँचे टोप से भी और हाथ-भर ऊँचे उठा हुआ है! इस विचित्र शिरस्त्राण के अगल-बगल कई छोटी लकड़ी की गिल्लियाँ-जैसी लटक रही हैं, जिन पर कहीं लाल-लाल घुँघचियाँ

टँकी है तो कहीं पतिंगों के हरे पर। इनके बीच-बीच में कहीं-कहीं मनुष्य के बालों के गुच्छे भी आप देख सकते हैं, जो टोप की पिछली कोर से शेर के आयल की तरह कंधों पर लटक रहे हैं *। इसके अलावा गले में रंग बिरंगे बालों की रस्सियों में गुँथी कौड़ियों की माला; पिण्डलियों और भुजाओं में कसी हुई बेंत की गोल-गोल चूड़ियाँ; इस कंधे से उस कंधे तक पड़ा हुआ लाल-पीले चँवरनुमा बालों और कौड़ियों की मालाओं से सज्जित भालू की खाल जैसा वस्त्र; और इन सबसे कहीं अधिक आश्चर्यजनक, पीछे की ओर ऊँचा-सा उठा हुआ लोमड़ी की बालदार दुम-जैसा एक कृत्रिम पुछल्ला भी है जो शायद बाल आदि को ऐंठकर बनाया गया है!! इस विचित्र वेश को धारण किये, एक हाथ में भाला और दूसरे में एक कुकड़ी-नुमा खाँड़ा लेकर, जिसके साथ तुम्बी को काटकर बनाया गया एक कृत्रिम नर-मुण्ड भी लटक रहा है, कापालिक-जैसा कोई व्यक्ति एका-एक यदि आपके सामने आ खड़ा हो, तो शायद ही आप उसे इस दुनिया का जीव मानने को तैयार होंगे! किन्तु यही आसाम की सीमा पर बसनेवाली नागा जाति के वीरों का सबसे प्रिय वेश है, जिसे वे केवल खास खास उत्सव या लड़ाई के वक्त ही पहनते हैं।

आसाम प्रान्त की मनीपुर रियासत और उसके आस-पास की घाटियों में कई जातियों के रूप में फैले हुए ये नागा लोग संसार के सबसे विचित्र प्राणियों में से हैं। तादाद में ये कुल मिलाकर कुछ हज़ार ही होंगे (और दिनोंदिन इनकी संख्या कम ही होती जा रही है जैसा कि इसी स्तंभ के दूसरे लेख में बताया जा चुका है)। किन्तु फिर भी सारे सभ्य संसार को ये मानो चुनौती दे रहे हैं! जिस किसी को भी अपना सिर प्यारा होगा सभ्य दुनिया का वह व्यक्ति इन नागाओं के देश में जाने का साहस नहीं कर सकता! यों तो ब्रिटिश अधिकार होने के बाद से अब इन लोगों पर बहुत-कुछ बंदिशें लगा दी गई हैं, फिर भी नागाओं के देश में किसी अजनबी का सिर खतरे से खाली नहीं। मौक़ा मिलते ही किसी भी मनुष्य का सिर काट लेने में इन लोगों को किसी तरह की भी हिचकिचाहट नहीं होती। वरन् कटे नर-मुण्ड को पाकर उल्टे एक विशेष प्रकार के उल्लास से फूल उठते हैं! इन लोगों की निगाह में यही सबसे बड़ी वीरता, तथा इस लोक और परलोक के सुख का परम साधन है। संसार में नागाओं की तरह और भी कई जंगली जातियाँ हैं, जो मनुष्य का सिर काट लेने को धार्मिक कृत्यों में शुमार करती हैं; किन्तु संभवतः नागा इस काम में सबसे आगे बढ़े हुए हैं—इन्होंने इसको मानो अपनी एक विशेष कला ही बना लिया है! इनमें जो व्यक्ति जितने अधिक नर-मुण्ड काटकर लाता है, उतनी ही अधिक उसकी प्रतिष्ठा होती है। कुछ नागा जातियों में तो अभी कुछ दिन पहले तक नर मुण्ड

अंगामी जाति का एक नागा वीर

* ये प्रायः लड़ाई में मारे गये शत्रु के सिर से उखाड़े गये होते हैं।

के शिकार का महत्व इतना अधिक बढ़ा-चढ़ा था कि जब तक कोई युवक एक-दो मुण्ड नहीं काट लाता, तब तक कोई भी स्त्री उससे विवाह करने को राज़ी नहीं होती थी !

आखिर यह नर-रक्त की पिपासा इन लोगों में इतनी प्रबल क्यों है, इसका उत्तर हमें नागा लोगों के परंपरागत धार्मिक अंधविचारों व सामाजिक रीति-रिवाजों में मिलता है। इन रूढ़ियों की जंज़ीरों में ये नागा बुरी तरह जकड़े हुए हैं। अतीत के धुँधले अंचल में छिपे किसी युग में पहलेपहल प्रकट होकर कुछ विचारों ने धीरे-धीरे अंधविश्वास का रूप ले लिया और इस मज़बूती से इन लोगों को अपने शिकंजे में कस लिया कि अब ये स्वयं ही उनसे छुटकारा नहीं चाहते। नर-हत्या की इनकी प्रवृत्ति के मूल में वास्तव में कई प्रेरणाएँ काम कर रही हैं, जिनमें मुख्य हज़ारों पीढ़ियों से चला आ रहा विभिन्न जातियों या कबीलों का पारस्परिक वैमनस्य है। संसार की सभी जंगली जातियों की तरह नागा लोगों में भी कई क़बीले सदियों से आपस में बैर रखते आये हैं। ऐसे कलह का कभी अंत नहीं हो पाता; क्योंकि दो शत्रु जातियों में से प्रत्येक जाति दूसरी द्वारा मारे गये अपने दल के व्यक्तियों का बदला शत्रु-दल के उतनी ही संख्या में या उससे भी ज़्यादा व्यक्ति मारकर चुकाने की कोशिश करती रहती है। इस तरह शत्रु-जाति के अधिक-से-अधिक व्यक्तियों के सिर काटने का प्रयत्न इन जातियों में एक तरह के सामाजिक कर्त्तव्य का रूप ले लेता है।

अंगामी नागा जाति की एक स्त्री

किन्तु केवल यही एक प्रेरणा इस प्रवृत्ति की जड़ में नहीं है। अन्य कई जंगली जातियों की तरह नागाओं का भी विश्वास है कि किसी भी जानवर या मनुष्य को मारने से बलिदान करनेवाले का बलि किये गये जीव के प्रेत पर प्रभाव हो जाता है। इस तरह एक ज़बर्दस्त शक्ति हाथ लग जाती है, जिससे आखेट या कृषि में सफलता निश्चित हो जाती है। इसी तरह इनमें एक यह भी विश्वास प्रचलित रहा है कि जिन लोगों का सिर वे काट लेंगे, वे परलोक में उनके सेवक या ग़ुलाम हो जायँगे। इस अंधविश्वास के कारण ही नागाओं में किसी भी बड़े आदमी, अर्थात् जाति के मुखिया, के मरने पर एक या अधिक व्यक्तियों की बलि चढ़ाना अंत्येष्टि-क्रिया का एक अंग माना गया है।

नागा प्रदेश के उत्तरी इलाक़े में बसनेवाली जातियों में नर-मुण्डों के शिकार के बजाय नर-बलि देने की प्रथा प्रचलित है। इसके लिए या तो कहीं से कोई आदमी चुपके से पकड़ लाया जाता है, या मनुष्य का शिकार करनेवाले दक्षिणी नागाओं से वह खरीद मँगाया जाता है। प्रायः ५००) रु० तक मूल्य देने पर बलि के लिए आदमी मिल जाता है ! बलिदान के दिन से दो हफ़्ते पहले ही से खूब शराब पिला-पिलाकर उस व्यक्ति को बेछक बना दिया जाता है और फिर निश्चित दिन आने पर बलि देनेवाले के घर की सीढ़ियों में से सबसे ऊपर की सीढ़ी पर ले जाकर उसका सिर खाँड़े से उड़ा दिया जाता है ! जब सीढ़ियों से नीचे उसका खून बह चलता है तो इस बात से संतोष प्रकट किया जाता है कि घर में अब कोई भूत-प्रेत न घुसने पाएगा। तब शव की बोटी-बोटी काटकर प्रत्येक घर में, गाँव के मुहानों और चौरस्तों पर, तथा खेतों में टाँग दी जाती हैं। यह सब इस उद्देश्य से किया जाता है कि फ़सल अच्छी हो और बीमारी से बचाव रहे !!
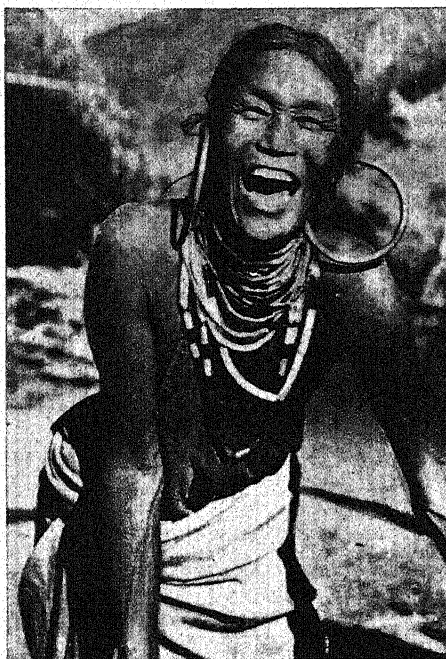
जब किसी खास रस्म को अदा करने के लिए नर-मुण्डों की आवश्यकता होती है, तो नागा लोग दल बाँधकर पास-पड़ौस पर धावा बोलते हैं। इस समय ये लोग एक खास तरह की पोशाक पहनते हैं। यह धावा एक तरह का धार्मिक कृत्य समझा जाता है और इसमें भाग लेनेवाले इस कृत्य के आरम्भ से समाप्ति तक एक विशेष प्रकार के संयम से रहते हैं। इन लोगों में प्रायः चुपके से छापा मारने का ही रिवाज है। इनके शिकार प्रायः भूले-भटके अजनबी या पास-पड़ौस की दूसरी जाति के लोग ही होते हैं। नागाओं के हथियारों में भाला, कुकड़ीनुमा खाँड़ा या डाओ (Dao) और तीर-कमान मुख्य होते हैं। ये लोग

काटकर लाये जानेवाले नरमुण्डों को प्रायः गाँव के पास के पेड़ों के खोखले तनों में छिपाकर रखते हैं। किसी-किसी कबीले में इन्हें उन विशाल रहस्यमय गड़ी हुई शिलाओं या पत्थरों के ढेरों पर चढ़ाकर पाँच-चार दिन तक रखने का भी रिवाज रहा है, जो नागाओं के गाँव के आस-पास पाये जाते हैं, और जिन्हें ये लोग धार्मिक भाव के साथ पूजते हैं। अगर कोई सूरमा किसी शत्रु जाति की स्त्री या बालक का सिर काटकर लाता है तो यह उसकी बड़ी वीरता समझी जाती है, क्योंकि शत्रु के गाँव में घुसकर ऐसा करना आसान काम नहीं होता! किन्तु गुदना गुदी हुई उत्तरी इलाक़े की स्त्रियों की हत्या करते हुए लोग डरते हैं क्योंकि उस इलाक़े के लोग इसका भीषण बदला चुकाते हैं।

समय के प्रभाव और शासन के भय से मनुष्य का यह शिकार अब बहुत कम और सो भी लुक-छिपकर ही होता है। फिर भी इस प्रथा का अंत नहीं हुआ है। वास्तव में, यह किसी पुरातन काल की प्रथा के जघन्य स्मारक के रूप में ही इन लोगों में अब तक बची रह गई है, वरना विकास की दृष्टि से नागा लोग अन्य कई जंगली जातियों से बहुत आगे बढ़े हुए हैं। कई नागा जातियाँ विकसित ढंग की खेती करती हैं, धातुओं से औज़ार वग़ैरह बना लेती हैं और सुंदर कपड़ा भी बुनकर तैयार करती हैं। अंगामी और ताँगखेल जाति के नागा पहाड़ों के ढाल पर सीढ़ी-उतार खेत बनाकर आबपाशी द्वारा चावल की खेती करते हैं। कपास, बाजरा, मक्का, साबूदाना भी उपजाये जाते हैं। नागा लोग गाय-बैल, कुत्ते आदि पशु भी पालते हैं। कुत्तों को ये शिकार के लिए भी पालते हैं और आहार के लिए भी। ये लोग मछली का शिकार उन्हें नशीली चीज़ों द्वारा बेहोश करके या मारकर बड़े अजीब ढंग से करते हैं। साधारण करघों पर ये लोग बड़ा उम्दा कपड़ा बुन लेते हैं। इस काम में ताँगखेल जाति के नागा सबसे प्रवीण हैं। नागाओं की भाषा में 'ताँगखेल' के मानी ही 'कपड़ा बुननेवाला' या 'जुलाहा' होता है। रँगाई भी ये कर लेते हैं। इसके अलावा लोहारी, बढ़ईगीरी और बरतन बनाने का भी काम ये जानते हैं। भौतिक सभ्यता में बहुत-सी बातों में ये मेलानेशियन जातियों से मिलते-जुलते हैं। इनमें प्रत्येक उपजाति की अलग-अलग भाषा और उच्चारण है। इनकी ये बोलियाँ तिब्बती और बर्मी भाषाओं के कुटुंब से संबंधित हैं।

एक कोनयॉक नागा युवक अपने विचित्र ढंग के धनुष को साध रहा है।

नागाओं की सामाजिक व्यवस्था भी विचित्र है। नागा जाति अंगामी, कोनयॉक, ताँगखेल, माओ, एओ, चाँग आदि कई उपजातियों में बँटी हुई है। ये सभी जातियाँ यद्यपि विभिन्न आदिम जातियों के मिश्रण से पैदा हुई हैं और रूप-रंग, आकार-प्रकार, संस्कृति आदि में एक-दूसरे से बहुत असमानता रखती हैं, फिर भी इनमें बहुत-सी बातें सामान्य हैं, जिनसे अन्य पड़ौसी जातियों (जैसी कूकी, काचिन या कचारी), जो नागाओं में नहीं गिनी जातीं, और इनमें स्पष्ट विभेद देखा जा सकता है।

नागाओं में क़बीले से बाहर शादी करने का ही रिवाज है। समा, चाँग आदि कुछ जातियों में बहुपतित्व (Polyandry) की भी प्रथा है। अन्य कई जंगली जातियों की तरह इनमें भी कहीं-कहीं गाँव के अविवाहित युवकों के सोने के लिए अलग शयन-कक्ष या सांप्रदायिक गृह होते हैं। तलाक़ भी प्रचलित है। इनमें स्त्रियाँ क़रीब-क़रीब नग्न रहती हैं। पर कुछ जातियों में गुप्ताङ्गों को ढकने के लिए कमर पर एक उपवस्त्र पहन लेती हैं। इनमें गोदना गुदाने का भी रिवाज है। भ्रूणहत्या का भी इनमें रिवाज रहा है। नाचने-गाने के ये बड़े शौक़ीन हैं। वास्तव में इनकी सभ्यता में नर-संहार की वीभत्स पशुतुल्य प्रवृत्ति के साथ-साथ मानवोचित अन्य गुणों का सम्मिश्रण देखकर मानव विकास के अद्भुत ढंग पर आश्चर्य होता है!

ईसा

विश्व-प्रेम का संदेश सुनानेवाले एक अमर पुरुष के बलिदान की कहानी

जिसको संसार 'व्यक्तित्व' के नाम से पुकारता है, वह जीवन के अतिरिक्त और कुछ नहीं। जहाँ संसार के अधिकांश जन रूढ़िवाद के पुजारी होते हैं, व्यक्तित्व के वातावरण में विचरण करनेवाला केवल जीवन का उपासक होता है। मस्तिष्क और हृदय के सामञ्जस्य द्वारा निर्धारित मार्ग पर ही वह वीर की तरह चलता है। समाज द्वारा स्थापित पाप-पुण्य, सत-असत से वह ऊपर उठ जाता है। क्योंकि उसका मस्तिष्क और हृदय उसको ठीक मार्ग पर ले जाते हैं—उस मार्ग पर, जिसको उसने **स्वयं** पा लिया है। साधारण मनुष्य अपने धर्म, धर्मग्रंथों, धर्मगुरुओं के बताये हुए मार्ग पर ही चलकर मनस्तुष्टि कर लेते हैं, वे लकीर के फ़क़ीर होने में ही जीवन मान बैठते हैं। जिस प्रकार गाय या बकरी केवल उतनी ही घूम-फिर सकती हैं, जितनी लम्बी रस्सी से वे बँधी हुई हों, उसी प्रकार अधिकांश मनुष्य दूसरे के बताये हुए मार्ग पर चलने में ही जीवन सफल समझते हैं। निर्धारित मार्ग से हटकर चलने में वे अनिष्ट की आशंका करते हैं। वे 'बन्धन' में ही सुख की कल्पना करते हैं। पर जिनको संसार 'बड़ा' कहता है, 'अवतार' समझता है, तन, मन, धन एवं सर्वस्व समर्पण कर जिनका पदानुसरण करता है, वे मस्तिष्क और हृदय के सामञ्जस्य द्वारा स्थापित मार्ग पर चलनेवाले व्यक्तियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं होते। ईसा भी एक ऐसा ही व्यक्ति थे।

कुमारी मरियम की कोख से ईसा का जन्म हुआ। ईसा के जीवन के प्रथम ३० वर्ष कैसे बीते, इसका कोई लेखा नहीं। यूसुफ़, जिसने पीछे मरियम से विवाह कर लिया था, एक बढ़ई था। इसी की दुकान में ईसा भी रन्दा-बसूला चलाता था। नाज़रथ की जनता साधारण दर्जे की थी—दीन और दरिद्र। अधिकांश लोग मछुए थे। दीन-दरिद्र लोगों में ही ईसा रहा। समय पाने पर वही दीनता विनयशीलता में परिणत हो गई और वास्तविक दरिद्रता के प्रति ईसा की श्रद्धा दिन-दिन बढ़ती गई। ईसा के चारों ओर पाखण्ड का बोलबाला था। धर्म के बाह्यानुष्ठानों के प्रति लोगों में प्रगाढ़ भावना थी। व्रतों और उत्सवों के प्रति अत्यन्त श्रद्धा थी। नरपति हिरोद के अत्याचारों से जनता दुःखी थी। रोमन साम्राज्य से छुटकारा पाने की उत्कट अभिलाषा उठ रही थी। हृदय-मन्थन ज़ोरों पर था। अनेक ऋषि प्रकट हो रहे थे और स्वप्न देख रहे थे उन स्वर्ण दिनों का जब यरूशलीम यहूदी साम्राज्य की राजधानी बनेगी और उनके राजा की तूती बोलेगी। ईसा से पहले ही यहुन्ना ने जौडर्न नदी के किनारे कहना आरम्भ कर दिया था कि "स्वर्ग का राज्य निकट है।"

ईसा ने विचारदृष्टि से देखा अपने चारों ओर के जीवन के खोखलेपन को, उसकी कालिमा को। उसने अपने को एकाकी अनुभव किया। उसे इच्छा हुई अपने सूने जीवन को प्रचलित धर्म का सहारा देने की, कुछ सान्त्वना पाने की। पर उसकी जीवनी-शक्ति उससे बोली, 'मूर्ख, सहारा मत टटोल। जीवन टटोल। जीवन से विमुख मत हो, अपने पैरों खड़ा होना सीख, किसी के सहारे नहीं। सहारा टटोलेगा, तो जीवन-पर्यन्त भयाक्रान्त रहेगा और तेरा सारा जीवन उस भय से युद्ध करते ही बीतेगा। इस प्रकार तुझे सुख कैसे मिलेगा?' ईसा ने सहारों और सांत्वनाओं को ठुकरा दिया और दृढ़ निश्चय किया मानव-गौरव की रक्षा करने का। उसने इसी कारण अपने को 'मानव का पुत्र' कहा। दीनता को उसने गले लगाया। क्योंकि उसने व्यक्तिगत रूप से दीनता के वास्तविक अर्थ समझ लिये थे। साथ ही वह जान गया था कि समाज व्यक्तियों का समूह है। जैसे व्यक्ति होंगे वैसा ही समाज होगा, और समाज के वातावरण से व्यक्तियों के विचार आक्रान्त होंगे।

ईसा ने वैयक्तिक जीवन को समझा। उसने समाज

की नब्ज़ टटोली और रोग का निदान किया। उसने मानव को मानवता सिखाने का प्रण किया। उसने अपने जीवन के प्रथम ३० वर्षों में जिस मान का अभाव पाया, उस अभाव की सचाई का अनुभव किया। वह उसकी वास्तविकता की तह को पहुँच गया। उसने जीवन को समझा और उसकी रक्षा में अपने को बलिदान करने की सोच ली। तीन साल तक उसने अपने जीवन के उदाहरण द्वारा गैलिली, समरिया और यरूशलीम तथा इनके निकटवर्ती प्रदेशों की जनता को 'स्वर्ग का राज्य निकट है' यह सुखद समाचार सुनाया। जब स्वर्ग का नाम लिया जाता है, तो लोग आसमान की तरफ़ देखने लगते हैं! नरक की कल्पना पैरों के तले की ज़मीन पर ही होती है! ईसा का अर्थ ऐसे स्वर्ग और नरक से हर्गिज़ नहीं था। वह तो प्रत्येक मानव को सुखी देखने का इच्छुक था। तभी तो वह प्रायः दीन-हीन जनता के मध्य में घूमता था। जिनको उच्च कुलीन लोग छोटा, अछूत, नीच समझते थे, उनसे ही वह अधिक मिलता था और उन्हीं के यहाँ के निमन्त्रण स्वीकार करता था।

ईसा के जीवन की प्रधान घटना यहुन्ना से भेंट थी। यहुन्ना उन इने-गिने यहूदियों में से था, जो रोमन साम्राज्य के नष्ट होने और ईश्वरीय साम्राज्य की स्थापना के स्वप्न देखा करता था। यह महापुरुष जौर्डन नदी के तट पर रहता था, और जो भी उसके दर्शनार्थ आते, उनकी ज्ञान-पिपासा बुझाता तथा उनको अपने विचारानुकूल बनाने के लिए जौर्डन नदी के जल से बपतिस्मा (दीक्षा) देता था। बपतिस्मा केवल एक बाह्यानुष्ठान था।

बपतिस्मा पानेवालों से यहुन्ना कहता था—"प्रायश्चित्त करो, क्योंकि स्वर्ग का राज्य निकट है।" "ईश्वर अपना क्रोध प्रकट करनेवाले हैं"—जिसका अर्थ था, बड़ी कठिन परीक्षा होनेवाली है। ईसा की तरह यहुन्ना भी धनी पुजारियों और उच्च कुलीन यहूदियों के विरुद्ध था और जिस प्रकार निम्न कोटि के मनुष्य ईसा की बातों को आदर से सुनते थे, उसी प्रकार यहुन्ना की भी बातें सुनी जाती थीं। यद्यपि यहुन्ना का कार्य-क्षेत्र जूडिया था तदपि उसकी यशोगाथा ईसा के कानों में पड़ी। इस समय तक ईसा के भी अनेक भक्त हो गये थे। उनको साथ ले यहुन्ना की शिक्षा से लाभ उठाने के विचार से ईसा चल दिया। दोनों ही पूर्ण युवक थे। उनके अनेक विचार एक-से थे। दोनों में एक-दूसरे के प्रति श्रद्धा थी। कुछ दिनों तक ईसा ने यहुन्ना का पदानुसरण किया और बहुत दिनों तक समाज में प्रचलित बातों को माना भी, क्योंकि ईसा के विचार पूर्ण परिपक्व नहीं हो पाये थे। परन्तु उसने अपने मूल विचार पर कभी आघात नहीं होने दिया। बपतिस्मा का बहुत रिवाज हो चला था और इसीलिए ईसा ने भी उसे अपनाया। जौर्डन नदी के दोनों तटों पर बपतिस्मों की धूम मच गई। जनता बड़े चाव से ईसा के उपदेशों को सुनती थी।

यहुन्ना अधिकारी वर्ग की बुराई बहुत करता था। अधिकारी उससे चिढ़े हुए थे। और जब हिरोदिया ने अपने पति को छोड़कर, जिसके साथ उसकी मर्ज़ी के खिलाफ़ शादी कर दी गई थी, अन्तीपस (*Antipas*) के साथ नाजायज़ सम्बन्ध कर लिया, तो यहुन्ना ने उसके खिलाफ़ आवाज़ उठाई। अन्तीपस बहुत क्रुद्ध हुआ और उसने यहुन्ना को मचेरो (Machero) के क़िले में क़ैद करा दिया। अन्तीपस की इच्छा नहीं थी कि यहुन्ना का क़त्ल किया जाय; क्योंकि जनता के भड़कने का उसे भय था।

यहुन्ना के क़ैद होने के बहुत पीछे तक ईसा मृत्युसागर और जौर्डन नदी के निकटवर्ती प्रदेशों में उपदेश देता रहा। चालीस दिनों तक वह जूडिया के रेगिस्तान में रहा और उसने कठोर अनशन किया। यह जनश्रुति थी कि उस रेगिस्तान में भूतों और राक्षसों का डेरा था। जब ईसा वहाँ रहा तो जनता ने नाना प्रकार की बातें कहनी आरम्भ कीं। शैतान के साथ ईसा का घोर संग्राम रहा। अनेक प्रलोभनों पर ईसा ने विजय प्राप्त की और अपने को मानवता के उद्धार के योग्य बनाया। यहाँ से ईसा गैलिली को लौट आया। यहुन्ना से भेंट होने और रेगिस्तान में ४० दिन की कठोर तपस्या के पश्चात् ईसा ने अपने को पहचाना। उसका व्यक्तित्व निखर आया। इतिहासज्ञों का कथन है कि यहुन्ना से भेंट होने के पहले ईसा के विचार कहीं अधिक अच्छे थे और यहुन्ना की भेंट के पश्चात् उनमें जो परिवर्त्तन हुए, वे उसको और नीचे घसीट लाये तथा उसकी उन्नति में बाधक हुए। यह भी कहा जाता है कि यदि यहुन्ना बन्दी न बनाया जाता, तो बाह्यानुष्ठानों के चक्कर में पड़कर ईसा ने अपने को खो दिया होता और वह विचार-रत्न जो ईसा ने संसार को दिये, इस रूप में कदापि न होते। यहुन्ना के बन्दी हो जाने पर ईसा का सहारा हट गया और उसने अब अपने ऊपर निर्भर होना सीखा। हाँ, यहुन्ना से भेंट होने का एक लाभ उसे अवश्य हुआ था। वह उपदेश करना सीख गया था और अधिकारपूर्वक प्रत्येक बात कहने लगा था।

यहुन्ना की तरह ईसा ने भी 'स्वर्ग का राज्य निकट है' कहना आरम्भ किया। वह पूरा क्रांतिकारी बन गया। संसार का जड़ से सुधार करने का उसने बीड़ा उठाया और जिस आदर्श राज्य की वह कल्पना किया करता था, उसको स्थापित करने का उसने निश्चय किया। यहूदियों के लिए स्वर्ग के राज्य की कल्पना पूर्व परिचित थी ही, परन्तु ईसा ने उसको सामाजिक रूप प्रदान किया। ईसा ने कहा—"संसार में पाप का राज्य हो रहा है। शैतान यहाँ का राजा है और सब उसी की आज्ञा-पालन में रहते हैं। राजा ऋषियों को मरवा डालते हैं। विद्वान् और पुरोहित जैसा कहते हैं वैसा आचरण नहीं करते। भले लोगों के लिए रोने-धोने के अतिरिक्त इस संसार में कुछ नहीं है। इसलिए यह समाज, यह संसार भगवान् और उसके भक्तों का शत्रु है। पाप का घट भर गया है और वह फूटने ही वाला है। इसके बाद ही 'ईश्वर के राज्य' की बारी है।

"यह राज्य एक आकस्मिक घटना की तरह प्रादुर्भूत होगा। दुनिया उलट जायगी। मानवता को पुनर्जीवन मिलेगा। अभी तो भले-बुरे मिले हुए हैं। कहा नहीं जा सकता कौन भला है, कौन बुरा है। दशा वैसी ही है जैसे कि किसी खेत में अच्छे अनाज के साथ घास-फूस उग आने पर होती है। ईश्वरीय राज्य स्थापित होने पर भगवान् एक बड़ा जाल बिछाएँगे, जिसमें अच्छी और बुरी मछलियाँ फँस जायँगी। अच्छी ले ली जायँगी और बुरी फेंक दी जायँगी। प्रारम्भ में यह परिवर्तन बहुत धीमा होगा, बहुत सूक्ष्म रूप में होगा। इतना छोटा होगा, जैसा राई का दाना होता है। परन्तु जब वह दाना पृथ्वी में बो दिया जाता है, तो वृक्ष बन जाता है और उसकी पत्तियों की छाया में आकर चिड़ियाँ आराम करती हैं। यह परिवर्त्तन आटे में 'खमीर' की तरह होगा।" ईसा ने यों छोटे-छोटे कथानकों द्वारा जनता में अपने विचारों को फैलाना प्रारम्भ कर दिया।

यह स्वर्ग का राज्य स्थापित कौन करेगा, इस प्रश्न का उत्तर स्वयं ईसा था। समाज की दशा से ईसा को पूर्ण परिचय था। समाज क्या है, इस प्रश्न का उत्तर ईसा को मालूम था। इसी कारण ईसा ने उसके सुधार के उपादान भी समझ लिये थे। उसने अपने को 'मानव का पुत्र' प्रसिद्ध किया और अपने व्यक्तिगत उदाहरण, छोटे-छोटे परन्तु प्रभावशाली कथानकों और तर्क द्वारा समाज में अपने विचारों को फैलाया।

ईसा ने राजनीति का अपने कार्यक्षेत्र से बहिष्कार किया। उसने रोमन साम्राज्य के विरोध में खड़े होने की बात को सोचा तक नहीं। उसने सीज़र (क़ैसर) को 'कर' दिया, जिससे कि उसके कार्य में बाधा न डाली जाय।

ईसा ने सोचा, जब स्वाधीनता और अधिकार इस लोक के नहीं, तो व्यर्थ है उनके लिए झगड़ा करना। वह क्यों इनके लिए मरे-पचे? वह बहुत समय तक अपने मनो-राज्य में रहा और लौकिक सुखों को घृणा की दृष्टि से देखा किया। परन्तु जनता से उसने यह नहीं कहा कि इस लोक में स्वर्ग का राज्य स्थापित नहीं करूँगा। बहुत-सी बातें ईसा की समझ में ठीक-ठीक नहीं आ रही थीं। जूडिया के रेगिस्तान में उसने बहुत-कुछ सोचा था। लौकिक प्रलोभनों से लड़ाई ठानी थी। उसने यह भी सोचा था कि स्वर्ग का राज्य हिंसात्मक उपायों से स्थापित किया जाय अथवा अहिंसात्मक उपायों से? क्रान्ति द्वारा या धैर्य द्वारा? पर वह कुछ निश्चय नहीं कर पाया। एक दिन गैलिली के भक्त लोगों ने उसे राजा बनाने का निश्चय किया, परन्तु यह सुन ईसा जङ्गल में भाग गया। उसकी विचारशीलता ने उसकी बहुत रक्षा की, अन्यथा वह भी एक साधारण क्रान्तिकारी ही रह जाता।

ईसा की इच्छा सदैव विचारों में क्रान्ति करने की रही। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर वह छोटे-छोटे कथानकों का, जिनको अपढ़ लोग बहुत आसानी से समझ सकते थे, प्रयोग करता था। उसने हज़रत मोहम्मद की तरह कभी फ़रिश्तों की मदद की ज़रूरत महसूस नहीं की। उसने सदैव व्यक्ति से अपील की। उसके विचार डावाँडोल थे—अभी स्थिर नहीं हो पाये थे। भलाई करने का विचार सदैव रहता था, पर उस भलाई का बीजारोपण अधिक-से-अधिक लोगों में किस प्रकार हो, यह वह तय नहीं कर पाता था। उसके विचारों में अपरिपक्वता थी। परन्तु एक बात पर वह दृढ़ था—स्वावलम्बन अथवा आत्मनिर्भरता अथवा आत्मा की स्वाधीनता। ईसा से पूर्व स्टोइक लोगों ने आततायियों के अधीन रहकर भी स्वाधीन बनकर रहना सीखा था। परन्तु जनता स्वाधीनता का अर्थ सदैव राज्याधीन होकर रहना ही मानती थी। ब्रूटस और कैसियस को स्वाधीनता के रूप में पहचानना वह सीख गई थी। लेकिन ईसा ने ही अनुभव किया कि मानव की सच्ची स्वाधीनता आत्मनिर्भरता ही है। जब ईसा ने कहा, 'सीज़र की वस्तुएँ सीज़र को दो, और ईश्वर की वस्तुएँ ईश्वर को' तो उसने स्पष्ट कर दिया कि आततायी के राज्य में भी स्वाधीनतापूर्वक रहा जा सकता है। परन्तु ऐसे सिद्धान्त में भय भी था। आत-

तायी के राज्य के लिए स्वीकृति थी और जनता की आवाज़ पर दफ़ा १४४ लगाना था। इसलिए आज के दिन तक नागरिकता के पूर्ण भाव से ईसाई नागरिक वञ्चित रहे हैं।

परन्तु एक बड़ा लाभ ईसा ने अवश्य पहुँचाया। राजनीति को तुच्छ समझकर, उससे विमुख होकर जब उसने 'स्वर्ग के राज्य' के लिए 'ख़मीर' फैलाना प्रारम्भ किया, तो उसने संसार को यह दिखा दिया कि मानवता नागरिकता के ऊपर है, उससे ऊँची है। बहुत-से लोगों ने स्वर्ग के राज्य को निकट लाने के लिए बड़े-बड़े भूचालों की कल्पना की है। नये सिरे से सृष्टि के कार्य-संचालन की बात सोची है। ईसा ने भी ऐसा ही सोचा था। परन्तु यह उसकी भूल थी। विचारशील विद्यार्थी को इसे ईसा के विचारों की अपरिपक्वता ही समझनी चाहिये।

संसारी जीव परिवर्तन चाहते हैं और उसके साथ-साथ अमरत्व भी। ईसा ने यही मानवी इच्छा पूर्ण की। 'स्वर्ग का राज्य निकट है', इस सुख-सम्वाद में उसने उपरोक्त दोनों अभिलाषाओं का सुन्दर समन्वय दिखाया।

ईसा का अपने शिष्य पीटर के पैर पखारना (चित्रकार—ब्राउन)

राज्य की बात तो ईसा ने इसलिए लोगों से कही कि वे 'राज्य' का अर्थ समझते थे, उससे परिचित थे। वास्तव में ईसा राज्य को हानिकर समझता था। प्रत्येक न्यायाधीश को वह आततायी समझता था। उसने उनसे लड़ने के लिए लोगों को उभारा, और यह भी कहा कि विरोध के फलस्वरूप तुम्हें कष्ट भी मिलेंगे। परन्तु सामूहिक रूप से हिंसात्मक प्रयोग करने की बात उसने कभी नहीं कही। "मन की पवित्रता द्वारा तुम विजय प्राप्त करो", यही ईसा का सदैव कथन रहा। "ईश्वर का राज्य केवल निष्पाप जनों द्वारा स्थापित किया जायगा", इस सम्बन्ध में ईसा ने कभी दो मत प्रकट नहीं किए। न विद्वान्, न पुरोहित, न धनी; किन्तु स्त्रियाँ, साधारण जन, विनयशील प्राणी, शिशु, यही स्वर्ग का राज्य स्थापन करने के पूर्ण अधिकारी हैं। ईसा के जीवन का यह स्वप्न था कि समाज में उथल-पुथल मचा दी जाय, ऊँच-नीच की भावना मिटा दी जाय, अधिकारी वर्ग का सिर नीचा किया जाय। वह यह जानता था कि संसार उसकी नहीं सुनेगा और उसकी जान का ग्राहक हो जायगा। परन्तु इससे क्या? उसकी बात साधारण दीनजन तो सुनेंगे, और वे अपनी विनम्रता से विजयी होंगे, इसका उसे निश्चय था।

ईसा की संसार के लिए सबसे बड़ी देन थी, 'अपनी आत्मा की रक्षा करो।' आत्मा का अर्थ यहाँ व्यक्तित्व से लेना चाहिये। व्यक्ति वही, जो सत्य को समझता हो। सत्य का त्याग व्यक्तित्व का हनन है। इसके लिए कोई भी किस प्रकार तैयार हो सकता है? "ऐसे जीवन से क्या लाभ यदि सत्य के हनन से संपूर्ण विश्व भी मिलता हो?" और आत्मरक्षा का केवल एक ही उपाय है, वही जिसको एक किसान बीज बोते समय काम में लाता है। वह अच्छे बीज बोता है और ख़राब थोथे बीज फेंक देता है। संसार के प्रलोभनों के लिए जो अपने जीवन की रक्षा करेगा, वह उसको खो देगा', इस कथन में विकसित व्यक्तित्व के चरम विजय के बीज छिपे हैं।

उपरोक्त कथन से ही हम 'पाप क्या है?' समझ सकते हैं। जिससे सुख में बाधा न पड़े वही पाप है। सुख का अर्थ है सत्य, आत्मसौन्दर्य, चरम ऐश्वर्य अथवा ईश्वरत्व।

ईसा ने ईश्वर को पिता कहकर सम्बोधित किया है। ईश्वर ही, सत्य ही, वास्तव में जीवन का सुख है। जीवन में भलाई उसी के द्वारा सम्भव है। जो 'पिता' का केवल लौकिक अर्थ लगाते हैं, वे केवल खिल्ली उड़ाने के हेतु से। वास्तव में वे समझते नहीं। न समझना ही पाप है। जब ईसा ने अपने को 'ईश्वर का पुत्र' कहा, तो उसने

अतिशयोक्ति से काम नहीं लिया। उसने केवल एक सत्य का प्रकाशन किया। सत्य की ही छत्रछाया में तो सब सुखी रह सकते हैं। यदि जीवन में सत्य नहीं, तो कुछ भी नहीं। सत्य का ही प्रेम वास्तविक प्रेम है। जब ईसा ने कहा, "लिखी बात ही घातक होती है" तो उसने मानवता के हित के लिए एक बात कही। जितने धार्मिक ग्रन्थ वर्त्तमान हैं, वे सब मानव के लिए अहितकर सिद्ध हो रहे हैं। वेद, क़ुरान शरीफ़, इञ्जील आदि-आदि में लिखित बातें मानव के लिए दुःख का कारण बन रही हैं। इन पुस्तकों ने मानव से स्वतंत्र विचार करने के अधिकार को छीन लिया है। मानो वे मानव से कहती हैं, "जो कुछ विचार करना था वह हम में भरा है। तुम अपना विचार करना छोड़कर हमारे अनुभव को मानो। इसी में तुम्हारा कल्याण है!"

ईसा ने केवल एक बात का प्रचार किया, "तुझे केवल प्रेम करने का अधिकार है।" "अपने पड़ोसी को अपने समान ही चाहो," अर्थात् स्वार्थ-भावना का त्याग करो। किसी वस्तु को अपने लिए मत चाहो, बल्कि त्याग करना सीखो। ईसा की यह शिक्षा उपनिषद् के मन्त्र 'तेन त्यक्तेन् भुञ्जीथाः मागृधः कस्यस्विद्धनम्' के समकक्ष है। इस शिक्षा द्वारा ईसा ने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श सामने रक्खा। यही आदर्श समझदार व्यक्तियों को आज दिन मान्य हो रहा है।

त्याग की साधना को ध्यान में रखकर ईसा ने अपने अनुयायियों से कहा, "त्याग द्वारा ही तुमको मिला है, त्याग द्वारा ही उसका भोग करो।" "मेरे साथ चलो, या अकेले जहाँ जाओ, कुछ भी लेकर न जाओ—न पैसा, न खाना, न थैला, और न कपड़ा। पूर्ण त्याग (Poverty) की साधना करो। आतिथ्य पर जीवन-निर्वाह करो।" "जब तुमको क़ैद किया जाय और तुम्हारा मुक़दमा हो, तो कोई प्रमाण मत दो। अपनी रक्षा का कोई प्रबन्ध मत करो।" "जब तक तुम मानव के पुत्र न हो जाओ, तब तक इज़राइल के नगरों में पर्यटन करते रहो।" उसने कहा, "मैं जानता हूँ तुम मैमने हो और मैं तुम्हें भेड़ियों के बीच में भेज रहा हूँ।" "तुम पर मन्दिरों में कोड़े पड़ेंगे और तुम जेलों में सड़ोगे। भाई भाई की मृत्यु का कारण बनेगा और पिता पुत्र की मृत्यु का।" "जब तुम्हें एक देश में दुःख मिले, तुम दूसरे देश के लिए प्रयाण कर दो।" "भय मत करो यदि तुम्हारे शरीर को कष्ट मिले, क्योंकि तुम्हारी आत्मा अमर है।" "जो बात सची हो, उसको सबके सामने स्पष्ट कहो।" "सत्य के लिए माता, पिता, स्त्री, बच्चे, भाई और बहिन सबको छोड़ दो।" "जो मेरे लिए (सत्य के लिए) सर्वस्व का त्याग नहीं कर सकता, वह मेरा शिष्य नहीं हो सकता। वह मुझको (सत्य को) नहीं पा सकता।" "जो मेरा शिष्य बनना स्वीकार करे, वह मुझमें विलीन हो जावे। जो मुझसे (सत्य से) अधिक अपने संसारी माता-पिता से प्रेम करता है, वह मेरे योग्य नहीं, और जो अपने पुत्र अथवा पुत्री को मुझसे अधिक प्यार करता है, वह भी मेरे योग्य नहीं। जो अपने जीवन की रक्षा करेगा, वह उस जीवन से हाथ धो बैठेगा, और जो मेरे लिए और सुख-संवाद के लिए जीवन उत्सर्ग करेगा, उसे जीवनदान मिलेगा। आत्मा को खोकर यदि जीवन मिला भी, तो किस काम का?"

कभी-कभी ईसा आवेश में आकर बहुत ही निष्ठुर प्रतीत होता था। एक समय ईसा ने एक व्यक्ति से कहा—"मेरे पीछे-पीछे आओ।" उसने उत्तर दिया—"प्रभु, मुझे आज्ञा दो कि अपने पिता को समाधिस्थ कर आऊँ।" ईसा ने कहा—"मुझे मृतकों से क्या वास्ता? जा ईश्वर के राज्य की घोषणा कर।" यह कथानक इस बात का प्रमाण है कि ईसा में अपने कार्य (Mission) का कितना जोश भरा था! उसको कितना आत्मविश्वास था! बहुधा वह कहता था—"आओ, मेरे पास आओ तुम, जो श्रम करते हो, और भारी बोझों से दबे जाते हो। मैं तुम्हें आराम पहुँचाऊँगा। तुम मुझमें विश्वास करो, और मुझसे सीखो, क्योंकि मैं विनम्र हूँ। तुम्हारी आत्मा को शान्ति मिलेगी। मुझमें विश्वास करना अत्यंत सरल है।"

प्रारम्भ में तो ईसा की शिक्षाओं के प्रति कोई विरोध नहीं हुआ, यद्यपि ईसा ने अधिकारियों को अप्रसन्न करने के लिए कोई कसर उठा नहीं रक्खी थी। अन्तीपस (Antipas) के विरोध में कई बार उसने कह-सुन डाला था। अन्तीपस को भी ईसा की खबर लग चुकी थी। उसके अद्भुत कार्यों (miracles) के बारे में वह सुन चुका था। उसने उससे मिलने की इच्छा भी प्रकट की, पर ईसा उससे दूर ही रहा।

एक बार किसी ने यह समाचार फैला दिया कि ईसा यहुन्ना के अतिरिक्त और कोई नहीं है। यहुन्ना पुनर्जीवित हो गया है। अन्तीपस घबराया और बहुत बेचैन हो गया। वह ईसा को अपने राज्य से दूर रखने के उपाय सोचने लगा। कुछ कुलीन यहूदियों (Pharisees) ने ईसा से कह दिया कि अन्तीपस तुम्हें मार डालने की फ़िक्र में है। पर ईसा ने कोई परवाह न की। नाज़रथ में ही, जो ईसा की जन्मभूमि थी, उसका कोई आदर नहीं था। न तो

उसके भाइयों ने उसकी बात को सुना और न गैलिली झील के तटवर्ती नगरों के निवासियों ने ही। ईसा को बड़ा क्रोध आने लगा। वह जीवन से बेज़ार-सा हो गया। उसने कहा, "लोमड़ियों के लिए ज़मीन के अन्दर सूराख हैं, चिड़ियों के लिए घोसले हैं, पर मानव-पुत्र के लिए सिर रखने को भी कहीं स्थान नहीं है!"

विरोध सहन करने के लिए जिस धैर्य और शान्ति की अपेक्षा है, उसका ईसा में सर्वथा अभाव था। यहूदियों में एक विशेष दोष है कि वे तर्क में बड़ी ही कटुता पैदा कर देते हैं। उनके आपस के झगड़े बहुत ही कटुता लिये हुए होते हैं। फ़ैरिसी वर्ग ने ईसा का घोर विरोध किया। फ़ैरिसी को बाह्याडम्बर बहुत प्रिय था; उनकी श्रद्धा में गर्व की मात्रा आवश्यकता से अधिक थी। उनका आचरण उपहासजनक होता था और जो उनका आदर भी करते थे उन्हें भी हँसी आए बिना न रहती थी। जनता ने फ़ैरिसी वर्ग के लोगों के लिए अनेक उपनाम रख छोड़े थे। 'निक्फ़ी' वे फ़ैरिसी थे, जो गलियों में चलते समय पैरों को 'घसीटते' हुए और पत्थरों से ठोकर मारते हुए चलते थे; 'क़िज़ाई' वे फ़ैरिसी थे, जो आँखें बन्द करके चलते थे, जिससे किसी स्त्री पर दृष्टि न पड़ जावे और दीवारों से इतना सिर टकराते थे कि उनका मस्तक सदैव रुधिर से लथ-पथ रहता था; 'मदिन्किया' वे फ़ैरिसी थे, जिनकी कमर मुँगरी के बेंटे की तरह दोहरी हो गई थी; 'शिकमी' वे फ़ैरिसी थे, जो पीठ झुकाकर चलते थे, मानो हज़रत मूसा के नियमों का सारा बोझ उन्हीं के कन्धों पर रखा है; और 'रँगे सियार' वे फ़ैरिसी थे, जो महा पाखण्डी थे और बाह्याडम्बरों के पालन में तनिक भी त्रुटि नहीं करते थे।

ईसा को फ़ैरिसी वर्ग से बड़ी चिढ़ थी, उसे दिखावा ज़रा भी पसन्द न था और फ़ैरिसी वर्ग दिखावे को धर्म की पराकाष्ठा समझ बैठा था। ईसा सदैव छोटी जाति के विनयशील लोगों में ही उपदेश देता था और फ़ैरिसी जाति इसमें अपना अपमान समझती थी। फ़ैरिसी वर्ग अपने को बड़ा धर्मपरायण, निर्दोष और महान् पाण्डित्यपूर्ण समझता था। इसके विरुद्ध ईसा कहता था कि भयपूर्वक और काँपते हुए दिल से ईश्वर के राज्य की प्रतीक्षा करो। यहूदियों के मंदिरों में पाखण्ड सीमा को पार कर गया था। फल यह हुआ कि ईसा की फ़ैरिसी वर्ग से सदैव उलझन रही। एक बार मन्दिर से ईसा ने लेन-देन करनेवाले व्यापारियों को निकाल बाहर किया और पुरोहितों को खूब खरी-खोटी सुनाई।

न ईसा न उसके अनुयायी फ़ैरिसी जाति की रूढ़िगत बातों की ज़रा भी परवाह करते थे। फ़ैरिसी ईसा को इस पर रोकते थे और उलाहना देते थे। ईसा को फ़ैरिसी वर्ग के दम्भ और प्रचण्ड गर्व से बैर था। एक बार ईसा ने कहा, "मैंने दो मनुष्यों को मन्दिर में पूजा के हेतु जाते देखा; उनमें से एक फ़ैरिसी था, दूसरा अछूत। फ़ैरिसी ने इस प्रकार प्रार्थना करनी प्रारम्भ की, 'हे ईश्वर, मैं तुझे धन्यवाद देता हूँ कि मैं औरों की तरह रुपया ऐंठनेवाला, अन्यायी या व्यभिचारी नहीं हूँ और न मैं इस अछूत-सा ही हूँ। मैं सप्ताह में दो बार उपवास करता हूँ और अपने धन का दसवाँ हिस्सा दान कर देता हूँ।' और अछूत ने दूर खड़े होकर बिना आसमान की ओर आँख उठाये हुए, छाती पीटते हुए कहा,—'हे ईश्वर, मुझ पापी पर दया कर।' मैं कहता हूँ कि अछूत फ़ैरिसी की अपेक्षा अधिक अच्छा था।"

ऐसी बातों का फल यह हुआ कि फ़ैरिसी ईसा के खून के प्यासे हो गए। ईसा आचार-विचार से ज़रा भी यहूदी न था। इसीसे ईसा की बातें फ़ैरिसी लोगों के दिलों पर बड़ी करारी चोट करती थीं। वे तिलमिला जाते थे। जो श्लेष, जो व्यंग, ईसा के शब्दों में होता था, उसे ईसा ही कह गया है। सुक़रात या मोलिअर या बर्नार्डशा ने यदि चमड़ी को खरौंच दी है, तो ईसा ने प्राणों ही पर धावा बोला है। ईसा के वचनों में जो क्रोधाग्नि थी, उसने दिल को कबाब करके ही छोड़ा।

और यह भी स्वाभाविक था कि फ़ैरिसी भी ईसा के प्राणों से क्या कम का सौदा करते! यदि ईसा गैलिली में ही रहता, तो उसको ज़रा भी आँच न आती। परन्तु उसने सोचा, यदि मेरा कार्यक्षेत्र गैलिली तक ही सीमित रहा, तो मैंने कुछ न किया। इसलिए उसने गैलिली से बाहर जूडिया में जाकर काम करने का निश्चय किया। उसकी यह इच्छा ही उसकी मौत का कारण हुई। ईसा के सम्बन्धियों ने भी उसे यरूशलीम जाने की सलाह दी। उन्होंने उससे कहा—"अपने शिष्यों को दिखा दे कि तू क्या कर सकता है। जो खेल खेलना है, खुलकर खेल!" ईसा ने उन पर सन्देह की दृष्टि फेंकी और जाने से इन्कार किया। किन्तु जब सब यात्री टैबर्नेकिल के उत्सव के लिए चल दिये, तो ईसा भी अकेला, बिना सूचना के, चल पड़ा। यह गैलिली से उसकी अन्तिम बार के लिए बिदा थी। जब वह जूडिया में आया, तो उसके शिष्य उससे मिले। परन्तु कितना परिवर्तन हो गया था! ईसा ने अपने

को अपरिचित-सा अनुभव किया। उसने अपने को विरोध की दीवार से सिर टकराते हुए पाया। कुलीन यहूदियों (Pharisees) ने उसका यहाँ भी पीछा किया। यहाँ उसने देखा कि उसकी बातों का जनता पर लेशमात्र भी प्रभाव नहीं पड़ रहा है। उसके शिष्यों के प्रति तिरस्कार की भावना बहुत प्रबल थी। गैलिली के निवासी होने के कारण वे दुरदुराये जाते थे। ईसा ने इस बात का अनुभव किया कि कोलाहलपूर्ण नगर सच्चे धार्मिक विचारों के लिए उपयुक्त स्थान नहीं। एक दिन उसके शिष्यों ने मन्दिर की सुन्दर इमारतों की ओर, सुन्दर-सुन्दर वस्तुओं की ओर, जो दीवारों पर टँगी हुई थीं, ईसा का ध्यान आकर्षित किया। ईसा ने कहा—"तुम इन इमारतों की ओर देखते हो? इनकी एक-एक ईंट का भी पता नहीं रहेगा!" ईसा ने किसी भी वस्तु की ओर देखने से इन्कार कर दिया। उसने कहा, "देखना ही चाहते हो, तो इस ग़रीब विधवा की ओर देखो! इसने दान के सन्दूक़चे में जो पाई डाली है, वही उसका सर्वस्व था। धनिकों के दान से इसके दान का अधिक महत्व है।" ऐसी बात मन्दिर के पुरोहितों को बहुत बुरी लगी। ईसा ने यहाँ अपने जीवन में बहुत कटुता का अनुभव किया। दिल को शान्ति देने के लिए वह बैथनी में, जो यरूशलीम से डेढ़ घण्टे की यात्रा का मार्ग था, चला जाता था। यहाँ एक बहुत ही सुखी, सुन्दर परिवार था, जिसमें दो बहिनें—मार्था और मैरी—और उनका एक भाई लैज़ेरस रहते थे। यहाँ आकर ईसा अपने दुःखों को भूल जाता था।
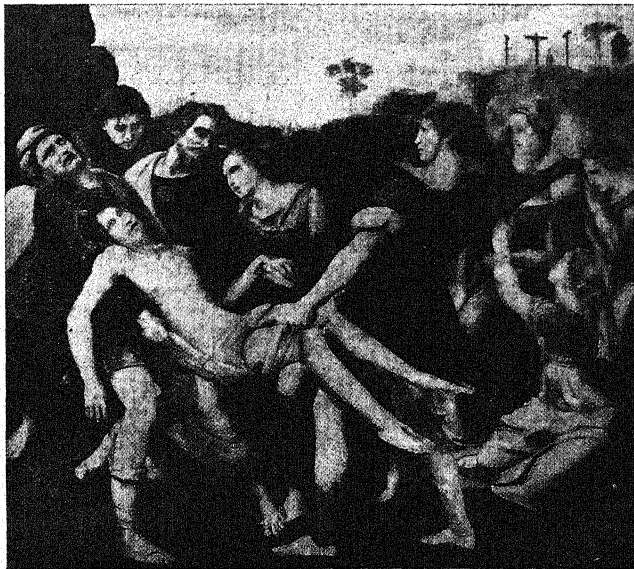
ईसा का क्रूस से अवतरण
(चित्रकार—रैफ़ेल)

यह बात नहीं थी कि यरूशलीम की जनता में ऐसे व्यक्तियों का अभाव हो, जो ईसा की बातें पसन्द न करते हों। परन्तु लोग बहुत डरपोक थे। सामाजिक बहिष्कार का भय बहुत प्रबल था। यही नहीं, जो व्यक्ति यहूदी के आचार-विचार न रखता था, उसका सर्वस्व उससे छीन लिया जाता था।

ईसा के उपदेश के बीज यहाँ पथरीली ज़मीन पर पड़े। कुलीन यहूदी (Pharisees) इस प्रयत्न में भी संलग्न रहते थे कि अधिकारीवर्ग को ईसा के विरोध में भड़का दें। पर ईसा को उनकी चालें मालूम थीं और वह अपनी बुद्धिमत्ता से उनको परास्त कर देता था।

एक दिन आवेश में आकर ईसा ने कह ही डाला—"हाथों से बनाए हुए इस मन्दिर को मैं नष्ट कर दूँगा, और बिना हाथों के तीन दिन के अन्दर दूसरा मन्दिर बना दूँगा।" इसका अर्थ लोगों ने बहुत लगाया, पर समझ न सके। ईसा का यह कथन उस अपराध-पत्र पर उद्धृत किया गया था, जिसको सुनाकर उसे क्रूस पर लटकाया गया। पुरोहितों ने ईसा के इस कथन को बहुत बुरा माना। उत्तर में कुलीन यहूदियों या फ़ैरीसियों ने ईसा पर पत्थर बरसाये। यह कार्य उनका मूसा के नियम के आदेशानुसार था—"यदि कोई तुम्हें सनातन धर्म से विचलित करे, तो उसकी बग़ैर सुने उसे पत्थर मारो।" उन्होंने ईसा को पागल क़रार दिया और वे उसके प्राण लेने को उतारू हो गए।

ईसा ने हेमन्त और शिशिर यरूशलीम में ही बिताए। दीवाली का उत्सव भी उसने वहाँ मनाया। फिर इसके पश्चात् वह जौर्डन के तट पर पर्यटनार्थ गया और जैरीको में उसने ज़ाकियस के यहाँ आतिथ्य स्वीकार किया। ज़ाकियस पापी था। ईसा जानता था कि उसका पापी के घर जाना कुलीन यहूदियों को खटकेगा। ज़ाकियस ईसा के उपदेश सुनकर अनुयायी बन गया और उसने अपना आधा धन दीनों-अपाहिजों को दान कर दिया। जिस-जिस से उसने अन्याय द्वारा धन लिया

था, उसको चौगुना धन वापिस कर दिया। ईसा को यहाँ बहुत प्रसन्नता प्राप्त हुई। इसके बाद ही उसने कुलीन यहूदियों पर प्रभाव डालने की इच्छा से एक मृतक को जीवन-दान दिया। समझदार व्यक्ति ईसा के इस कार्य को अत्यन्त गर्हित ही मानेंगे। ईसा के अनुयायियों का ईसा पर अटल विश्वास था। अपने धर्म को जनता की दृष्टि में ऊँचा दिखाने की नीयत से उन्होंने लाज़ेरस को मृतक से पुनर्जीवित होने की घोषणा कराई। यह एक कमज़ोरी थी, जिसके प्रलोभन में कभी-कभी पड़ जाना पड़ता है। ईसा के अनुयायी भी इसके अपवाद नहीं थे। ऐसा करने का एक कारण और भी था। कुलीन यहूदियों को एक मुँहतोड़ उत्तर देना था, उनको सदा के लिए निरुत्तर कर देना था। कुलीन यहूदियों ने सभा की और उसमें उन्होंने यह संप्रश्न रक्खा, "क्या ईसा और यहूदी धर्म एक साथ रह सकते हैं ?" और इसका उत्तर था, धर्म के रक्षार्थ एक मनुष्य का बलिदान आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।

काइआफ़ा (Kaiapha) ने, जो यरूशलीम का प्रधान पुरोहित था, भयभीत होकर अपना आदेश सुना दिया। कुलीन यहूदियों को भय था कि कहीं उनके मन्दिर की आमदनी कम न हो जाय। ईसा को बन्दी करने का आज्ञापत्र निकाल दिया गया। परन्तु ईसा एफ़्रन (Ephron) चला गया था। पासोवर (Passover) का उत्सव निकट था। विचार था कि ईसा इस उत्सव पर अवश्य यरूशलीम आयगा और तभी वह बन्दी कर लिया जायगा। उत्सव से छः दिन पहले ईसा ने बैथनी में प्रवेश किया और लाज़ेरस के यहाँ एक दावत का आयोजन किया गया। छिपे-छिपे यह भी आकांक्षा थी कि वे ईसा की ऐसी ख़ातिरदारी करें, जिसका प्रभाव जनता पर भी पड़े। मैरी ने इस अवसर पर एक इत्रदान फोड़ दिया और इत्र को ईसा के चरणों पर उँडेल दिया और चरणों को अपने लम्बे-लम्बे बालों से पोंछा। घर भर में सुगन्ध-ही-सुगन्ध फैल गई। जूडास को यह अपव्यय भला न लगा। दूसरे दिन ईसा बैथनी से यरूशलीम के लिए रवाना हो गया। सड़क के एक मोड़ पर से उसने यरूशलीम की शोभा को सराहा। गैलिली-निवासियों ने इस अवसर पर ईसा के लिए यरूशलीम में विजय-प्रवेश का भी आयोजन किया। उन्होंने एक गर्दभ को सुन्दर वस्त्रों से सजाया और ईसा को उस पर बिठाया। अनेकों ने अपने सुन्दर वस्त्रों को सड़क पर बिछा दिया और वृक्षों की हरी-हरी शाखाओं से सड़क की शोभा को और भी बढ़ा दिया। जनता में से अनेकों ने उसको 'यहूदियों का राजा' कहकर पुकारा। इस पर कुछ कुलीन यहूदियों ने बुरा माना और ईसा से कहा कि वह अपने अनुयायियों को ऐसा कहने से मना करे। ईसा ने उत्तर में कहा, "यदि ये चुप हो जायँगे, तो सड़क का एक-एक रोड़ा पुकार उठेगा।" इस उत्सव पर यरूशलीम में बड़ी भारी भीड़ थी। आगन्तुकों में बहुत उत्साह रहा। इसके बाद वह फिर बैथनी चला गया।

इस विजय-प्रवेश से यहूदियों में बहुत जोश फैला। वे क्रोध से अधीर हो उठे। काइआफ़ा के घर पर फिर सभा हुई और निश्चय हुआ कि ईसा को बन्दी बनाया जाय। काम गुपचुप होकर किया जाय। पुरोहितों के गुमाश्तों ने ईसा के शिष्यों में से जूडास को फोड़ लिया।

बन्दी बनाये जाने से पहले ईसा ने अपने सब शिष्यों के साथ ब्यालू किया और उस अवसर पर अपने शिष्यों से गम्भीरतापूर्वक कहा—"तुममें से एक मेरे साथ दग़ा करेगा।" सब शिष्य एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। उनकी समझ में न आया कि किसकी ओर इशारा था। जूडास भी उपस्थित था। उसने साहस करके पूछा—"प्रभु, क्या आपका सन्देह मुझ पर है ?"

ईसा के शिष्यों को ऐसा लगा, मानो कोई बड़ी भारी आफ़त आनेवाली है। जूडास को वह स्थान मालूम था, जहाँ ईसा प्रार्थना किया करता था। उसने पुरोहितों से कह दिया—"जिसका मैं चुम्बन लूँ उसी को तुम अपना बन्दी समझ लेना।" थोड़े-से रुपयों के प्रलोभन में पड़कर जूडास ने अपने को सदैव के लिए घृणा का पात्र बना लिया। जब पुरोहित जूडास को लेकर ईसा के पास पहुँचे, ईसा के सब शिष्य भाग खड़े हुए और ईसा बिना किसी आपत्ति के बन्दी बना लिया गया।

पाइलेट ने बाध्य होकर ईसा को पुरोहितों के सुपुर्द कर दिया। ईसा क्रूस पर चढ़ा दिया गया। क्रूस पर चढ़े हुए ईसा के मुख से ये अमर शब्द निकले थे—"परम-पिता, इनको क्षमा कर। ये नहीं समझते कि क्या कर रहे हैं!" उसके साथ दो प्राणियों को और सूली मिली। दफ़नाने के तीसरे दिन ईसा की क़ब्र सूनी मिली। कहते हैं, वह पुनर्जीवित हो गया था।

ईसा भी एक मनुष्य था, जैसे हम और आप हैं। परन्तु हम में और ईसा में एक महान् अन्तर था। वह अपने को जानता और समझता था और हम ऐसा न समझते हैं, न जानते हैं। काश कि हम भी उसकी तरह अपने को समझ पाते!

क्रिस्टॉफ़र कोलम्बस और नई दुनिया की खोज

साहसपूर्ण खोज की एक ओजपूर्ण कहानी

लगभग साढ़े चार सौ वर्ष पहले की बात है। उस समय, जब प्रायः अन्य सभी देश या तो अज्ञान के अंधकार में डूबे हुए जंगली जीवन व्यतीत कर रहे थे, या अपनी ही आंतरिक व्यथाओं अथवा विलासिता के कारण संसार की सुध-बुध खो बैठे थे, योरप के दूरदर्शी निवासी समुद्रयात्रा, अन्वेषण, व्यापार, धर्मप्रचार, उपनिवेशण और साम्राज्य-स्थापना के महत्त्व को खूब पहचान चुके थे। अपनी महात्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति करने के लिए उन्होंने आवश्यक साधनों को भी आविष्कृत कर लिया था। तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मार्को पोलो की एशिया और सुदूर पूर्व की स्थल-यात्राओं ने, तथा पंद्रहवीं शताब्दी में राजकुमार हेनरी के अफ़्रीका-संबंधी अन्वेषणों और बर्थलोमिउ डियाज़ के अफ़्रीका के चारों ओर के जल-भ्रमणों ने योरप-निवासियों का ध्यान संसार की ओर जागृत कर दिया था। लेकिन योरपवालों का यह संसार अभी वास्तविक संसार से कहीं भिन्न था। वे समझते थे कि सारा भूतल तीन बड़े-बड़े स्थल-खंडों—योरप, अफ़्रीका और एशिया—और अनेक अन्य छोटे-छोटे द्वीपों से ही बना हुआ है!

३ अगस्त, सन् १४९२, के दिन स्पेन के एक छोटे-से बंदरगाह पैलॉस में एक व्यक्ति अपनी सामुद्रिक यात्रा के प्रबंध में व्यस्त था। वह व्यक्ति अपने पार्थिव जीवन के पूरे ५६ वर्ष व्यतीत कर चुका था, लेकिन तब भी नवयुवकों को भी लज्जित कर देनेवाले उत्साह एवं महत्त्वाकांक्षा से वह स्फुरित हो रहा था। लंबा शरीर, सुंदर व्यक्तित्व, चौड़ा मस्तक, विचारशील नेत्र, और मुख पर एक अदम्य संकल्प! तीन छोटे-छोटे पुराने जलयान—'सांता मेरिया', 'पिन्ता' और 'नाइना'—उसकी यात्रा के लिए तैयार किये जा चुके थे। इनमें केवल सांता मेरिया में ही डेक लगे हुए थे, शेष दोनों अगले और पिछले भागों को छोड़कर खुले हुए थे। जो दर्शक इस यात्रा के साहसमय उद्देश्य से परिचित नहीं थे, उन्हें यही प्रतीत होता था कि ये नौकाएँ कदाचित् महाद्वीपों के किनारे-किनारे मछलियों के शिकार के लिए अथवा पड़ोस के देशों से व्यापार करने के लिए जानेवाली हैं। किंतु, जो उस व्यक्ति की प्रतिज्ञा से परिचित थे, वे यही समझते थे कि यह स्वयं भी डूबने और अपने साथियों को भी ले डूबने का प्रबंध कर रहा है!

क्रिस्टॉफ़र कोलंबस (१४४६—१५०६)

इस व्यक्ति का नाम था क्रिस्टॉफ़र कोलम्बस। इसका जन्म-स्थान इटली का जिनोआ नगर था। उसके माता-पिता जुलाहे थे, किंतु चौदह वर्ष की अवस्था में ही उसे नाविक बनने का शौक़ पैदा हुआ और उसने मल्लाही की नौकरी कर ली। जब वह लगभग ३० वर्ष का प्रौढ़ अनुभवी व्यक्ति हुआ, तो उसने अपनी सबसे पहली जल-यात्रा भूमध्य-सागर के एजियन समुद्र में स्थित 'किऑस' नामक टापू तक की। इस द्वीप में कुछ दिन रहने के पश्चात् उसने सुदूर पुर्तगाल, इँगलैंड तथा आइसलैंड तक की यात्राएँ

कीं और इस तरह सामुद्रिक यात्राओं में उसका शौक़ और साहस बढ़ता ही गया। लगभग ३३ वर्ष की अवस्था में वह पुर्तगाल आया और वहाँ उसने प्रसिद्ध नाविक राजकुमार हेनरी के एक कप्तान की एक लड़की से विवाह कर लिया। इस प्रकार उस कप्तान का बहुत-सा यात्रा-संबंधी साहित्य उसके हाथ लगा, जिसका उसने ध्यानपूर्वक अध्ययन किया। मार्को पोलो की यात्रा-संबंधी पुस्तक भी उसने पढ़ी और उसका समय भूगोल के अध्ययन और अनुभवी नाविकों से बातचीत करने में ही व्यतीत होने लगा। उसे विश्वास हो गया कि पृथ्वी गोल है, सारा भूखंड योरप, एशिया, अफ़्रीका तथा अन्य छोटे-छोटे द्वीपों से ही बना है, और इन महाद्वीपों में एशिया सबसे बड़ा और बहुत दूर तक विस्तृत है। इस समय तक सभी यात्रियों ने पूर्व की ही ओर यात्रा की थी, लेकिन अटलांटिक महासागर में पश्चिम की ओर आगे बढ़ने का साहस अभी तक किसी ने न किया था। कोलम्बस ने सोचा कि यदि पृथ्वी गोल है और एशिया बहुत दूर पूर्व की ओर फैला हुआ है, तो अटलांटिक महासागर में पश्चिम की ओर यात्रा करने से भी एशिया मिल जाना चाहिए। उसने, स्पष्टतः, ऐसा अनुमान इसलिए किया था कि वह पृथ्वी को अपने वास्तविक आकार से बहुत छोटा समझता था और एशिया को बहुत बड़ा। उसकी धारणाएँ कुछ अन्य बातों से और भी दृढ़ हो गई थीं। उसने सुन रक्खा था कि मदीरा और एज़ोर द्वीपों के पास कुछ ऐसे वृक्षों तथा बृहदाकार बेतों के तने बहकर आये हैं, जो एक अनजान देश के ही हो सकते हैं। इसके अलावा मनुष्यों द्वारा गढ़े हुए कुछ लकड़ी के टुकड़े भी अटलांटिक की धाराओं में बहते हुए पाये गये, और एक द्वीप के किनारे दो ऐसे मनुष्यों के शव आकर लगे, जो न योरप के हो सकते थे और न अफ़्रीका के—उनके शरीर तथा मुख की आकृति योरप तथा अफ़्रीका-निवासियों से सर्वथा भिन्न थी। इन समाचारों ने कोलम्बस की धारणाओं को और भी पुष्ट कर दिया और वह अटलांटिक महासागर में पश्चिम की ओर जलयात्रा करने के लिए उतावला हो उठा।

लेकिन, एक मामूली-सा व्यक्ति बिना पर्याप्त साधनों के इतनी बड़ी तथा साहसपूर्ण यात्रा कैसे कर सकता था? उसे जहाज़ों, सौ से अधिक मल्लाहों, खाने-पीने की सामग्री, धन तथा राज्य के संरक्षण की आवश्यकता थी। यह सब साधन कैसे जुटाए जायँ? कोलम्बस के समक्ष यह प्रश्न उपस्थित हुआ। उसने सबसे पहले पुर्त्तगाल के राजा जॉन द्वितीय के सामने अपना उद्देश्य प्रकट किया। बादशाह ने एक भूगोल-परिषद् के पास यह मामला विचारार्थ भेज दिया, लेकिन परिषद् कोलम्बस के विचारों से सहमत न हो सकी। तथापि बादशाह को कोलम्बस की धारणा कुछ जँच-सी गई और उसने कोलम्बस से छिपाकर एक गुप्त यात्रा की योजना की, किंतु यह यात्रा सफल न हो सकी। जब कोलम्बस को इस बात का पता चला, तो वह बड़ा ही व्यथित हुआ और उसने पुर्त्तगाल छोड़ देने का ही निश्चय कर लिया। सन् १४८४ में उसने चुपचाप लिस्बन छोड़ दिया और वह स्पेन आ गया। लगभग दो वर्ष स्पेन में रहने के बाद उसने अपना यात्रा-संबंधी प्रार्थनापत्र रानी आइसाबेला के पास भेजा। लेकिन उस समय राजा फर्डीनैंड और रानी आइसाबेला दोनों ही मूर लोगों को दक्षिण स्पेन से निकाल बाहर करने में जुटे हुए थे और उनसे युद्ध हो रहा था, अतएव कोलम्बस के प्रार्थनापत्र पर उचित ध्यान न दिया जा सका। लगभग छः वर्ष तक वह संरक्षण और सहायता की खोज में इधर-उधर भटकता रहा, लेकिन हर जगह उसे निराश होना पड़ा। उसने इंगलैंड के बादशाह सप्तम हेनरी को भी लिखा, लेकिन वहाँ से भी उसके प्रस्ताव अस्वीकृत होकर लौटे। इस बीच में उसके उत्साह को बनाये रखनेवाले कुछ नाविक और कुछ अन्य प्रभावशाली व्यक्ति ही थे, जिनसे उसने प्रगाढ़ मित्रता स्थापित कर ली थी। निदान जनवरी, सन् १४९२, में मूरों का प्रधान नगर ग्रैनाडा स्पेन के हाथों में आ गया और मूर लोग पराजित हुए। रानी आइसाबेला को अवकाश मिलने पर उसका ध्यान फिर कोलम्बस के उद्देश्यों की ओर आकर्षित किया गया और उसने कोलम्बस को सहायता देने के लिए निश्चय कर लिया। आइसाबेला और कोलम्बस में यात्रा-संबंधी समझौता हो गया, जिसके अनुसार रानी ने कोलम्बस की सारी आवश्यकताओं को पूरा करने का वचन दिया। साथ-ही-साथ उसे एड्मिरल की उपाधि दे दी गई और नवान्वेषित देशों के वायसराय का पद और उन देशों से प्राप्त धन का दशांश भी देने का वादा कर दिया गया। सबसे बड़ी कठिनाई कोलम्बस को साथियों के ढूँढ़ने में हुई। यहाँ तक कि जेल में पड़े-पड़े सड़नेवाले दंडित अपराधियों को इस शर्त पर छोड़ देने का वादा किया गया कि वे कोलम्बस के साथ चले जायँ, लेकिन वे भी राज़ी न हुए। बड़ी कठिनाइयों के बाद धन अथवा धमकी देकर १२० व्यक्ति इकट्ठे किये जा सके। 'सांता मेरिया' नामक जहाज़ का प्रधान नाविक स्वयं कोलम्बस बना, 'पिन्ता' का मार्टिन

पिंज़न, और 'नाइना' का मार्टिन पिंज़न का भाई यानेज़ पिंज़न। पिंज़न-बन्धु पैलॉस के प्रसिद्ध नाविक थे। सांता मेरिया १०० टन का जहाज़ था, पिन्ता ५० टन का और नाइना केवल ४० टन का था। बारह महीनों के लिए खाने-पीने की सामग्री भर ली गई, और ३ अगस्त, १४९२, को ये नौकाएँ अज्ञात की ओर चल पड़ीं।

अनुकूल हवा के झकोरों ने तीनों जहाज़ों को कनारी द्वीपों तक पहुँचा दिया। पिन्ता का पतवार इस छोटी-सी यात्रा में ही टूट गया था। वह एक जगह से चूने भी लग गई थी और पानी अंदर आने लगा था। कोलम्बस ने इन द्वीपों में भरसक प्रयत्न किया कि वह पिन्ता को किसी दूसरी नौका से बदल ले, लेकिन उसका यत्न निष्फल हुआ। लगभग तीन सप्ताह वहाँ रुककर अंत में कोलम्बस ने पिन्ता को सँभाला। अब तक जहाज़ कनारी द्वीपों के ही आस-पास तक प्रायः आया-जाया करते थे, उसके आगे पश्चिम की ओर क्या है, यह कोई भी नहीं जानता था। अब कोलम्बस अटलांटिक की अपरिचित तरंगों का भेदन करते हुए आगे बढ़ा। उसकी आशाएँ ही उसका निर्दिष्ट स्थान थीं, और सत्य और कर्म में अटल विश्वास ही उसे उनकी ओर खींचे लिये जा रहा था। कुछ ही देर में कनारी द्वीप दृष्टि से ओझल हो गये, लेकिन अब टेनरिफ़ द्वीप के अग्निपर्वत की गगनचुंबी ज्वालशिखा दीखने लगी थी। उसे देखकर कोलम्बस के भीरुहृदय और अस्थिर-चित्त साथी भयभीत हो गये! उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ, मानों उस अनजान देश में प्रवेश करते ही कोई बृहदाकार राक्षस आग उगलता हुआ उन्हें हड़प जाने के लिए उनकी ओर चल पड़ा हो! मल्लाह सहमकर शिथिल पड़ गये। कोलम्बस ने तीनों जलपोतों में जा-जाकर उन्हें समझाया कि ज्वालामुखी पर्वत क्या होता है, और उसके मुख से आग क्यों निकलती है। इस प्रकार उसने उन्हें धैर्य दिया। कुछ ही देर में ज्वालशिखा भी क्षितिज से मिल गई और धीरे-धीरे उसमें विलीन हो गई। यह ज्वालशिखा ही उनकी दुनिया का अंतिम चिह्न थी, अतएव उसके अंतर्धान होते ही मल्लाह फिर भयत्रस्त और खिन्न हो गये। उन्हें ऐसा जान पड़ा, मानो वे किसी दूसरी ही दुनिया में प्रेतों की भाँति विचरण कर रहे हों। 'क्या हम अपने वास्तविक जीवनमय जगत् में जीते-जागते फिर लौट सकेंगे?' इस विचार ने मल्लाहों के हृदय को कँपा दिया। कोलम्बस ने उन्हें धैर्य दिया—'देखो, हम ऐसे देशों की ओर अग्रसर हो रहे हैं, जहाँ सुवर्ण के ढेर लगे हुए हैं, जिनके समुद्रतटों पर मोती बिखरे पड़े हैं, जिनके पर्वत बहुमूल्य रत्नों से झलमला रहे हैं, और जिनकी भूमि क़ीमती मसालों के पौधों से आच्छादित है! ऐसे ही देशों में कुछ ही समय बाद हमारे जलयान लगेंगे। वहाँ हम अपने देश का झंडा फहराएँगे।' मल्लाहों की आँखें एक सुखमय आशा से चमक उठीं, उनकी नसों में एक नवीन शक्ति का संचार होने लगा। नावें अधिक तेज़ी से खेई जाने लगीं। वे योरप से सैकड़ों मील दूर पहुँच चुकी थीं, लेकिन कोलम्बस इस दूरी के रहस्य को कभी न खोलता और यही कह दिया करता कि नावें योरप से कुछ ही दूरी पर हैं। आगे बढ़ने में उत्तरपूर्वीय ट्रेड हवाएँ पूरी मदद दे रही थीं।

कोलंबस की यात्रा के पूर्व ज्ञात भूभाग
वे भाग जो ज्ञात थे श्वेत रंग में दिखाये गये हैं।

कुछ दूर और आगे बढ़कर (कनारी द्वीपों से लगभग ६०० मील की दूरी पर) कोलम्बस ने देखा कि उसकी मार्ग-प्रदर्शनी चुंबक की सुई इधर-उधर डोलने लग गई है। कोलम्बस स्वयं घबड़ा उठा, 'आखिर, इसका कारण क्या हो सकता है? क्या वह ऐसे संसार में आ गया है, जहाँ चुम्बकीय सिद्धांत लागू नहीं होता?' लेकिन मल्लाहों को सांत्वना देने के लिए उसने चट एक बात बना ली—'संसार के इस भाग में कुछ नये नक्षत्रों के प्रभाव से ही सुई में यह विकार उत्पन्न हो गया है।'

दूसरे ही दिन (१८ सितम्बर को) जलयानों के ऊपर एक बगुला जाति का पक्षी और एक अन्य पक्षी उड़ते हुए

दिखाई दिये। उन्हें देखकर सारे यात्री प्रसन्न हो गये। 'अवश्य ही आगे कुछ दूर पर स्थल होगा, नहीं तो ये पक्षी कहाँ से आ सकते थे?' कुछ ही दूर आगे कुछ ऐसे वृक्ष तैरते हुए दिखाई दिये, जो स्थल के ही हो सकते थे, और कुछ अन्य पक्षी भी आकाश के एक ओर से दूसरी ओर उड़ते हुए चले गये। सारे यात्री आनंद से पुलकित हो उठे। नीला आकाश, टिमटिमाते हुए नक्षत्र, सुगंधित वायु और क्रीड़ा-मग्न जलचर उनके चित्त को लुभाने लगे। "केवल नाइ-टिंगेल की ही कमी है", कोलम्बस बोल उठा।

लेकिन यह आनंद अस्थायी और आशाएँ स्वप्नमात्र प्रमाणित हुईं। दिन पर दिन बीतने लगे, लेकिन भूमि का कहीं पता न था। उत्तरपूर्वीय ट्रेड हवाएँ तीव्र गति से बह रही थीं और उन नौकाओं को न-जाने कहाँ घसीटे लिये जा रही थीं। 'जब इतनी दूर आने पर भी कोलम्बस द्वारा प्रतिज्ञात देश न मिल सका, तो इन हवाओं के प्रति-कूल फिर अपने देश में पहुँचना तो असंभव ही हो जायगा!' बहुत-से मल्लाह कोलम्बस को पागल, सनकी, हठी आदि कहकर बड़बड़ाने लग गये—'एक मनुष्य के पागलपन के कारण १२० मनुष्य भूख और प्यास से तड़प-तड़प कर जान दे दें, यह कहाँ का न्याय है?' मल्लाहों में विद्रोह बढ़ने लगा। लेकिन, उसी दिन संध्या समय पक्षियों का एक दल कलरव करता हुआ आकाश को पार कर गया। इनमें एक गौरैया भी थी, जो मनुष्य के घरों में ही अपना घोंसला बनाती है। 'अवश्य ही स्थल समीप होगा', नाविकों ने फिर सोचा। इसके साथ-ही-साथ उन्होंने देखा कि सागर की नीलिमा एक हरीतिमा में परिणत होती जा रही है और सागरतल सामुद्रिक घास से अधिकाधिक आच्छादित होता चला जा रहा है। यह भी यात्रियों को स्थल के निकट होने का ही चिह्न जान पड़ा। किंतु आगे चलकर यह घास इतनी घनी हो गई कि बजरों का उसमें होकर निकलना भी कठिन हो गया। 'क्या यहीं पर उलझकर हमें अपने प्राण दे देना होगा'—कोलम्बस के कातर मल्लाह फिर बड़बड़ाने लगे। कोलम्बस स्वयं चकित था, लेकिन उसने अपने साथियों को समझाकर शांत किया। वास्तव में यह घास सागर की ही थी।

सारगोसा सागर को पार करने पर, जब घास से छुटकारा मिला, तो मल्लाहों की सहायक उत्तरपूर्वीय ट्रेड हवाएँ एका-एक बंद हो गईं। विषुवत् रेखा के सामीप्य के कारण हवाओं का शांत कटिबंध आ पहुँचा था, लेकिन स्थल का फिर कोई चिह्न अवशेष न रह गया था। मल्लाहों में फिर बड़बड़ाहट शुरू हुई, 'बग़ैर हवाओं के कैसे किधर चला जाय?' इतने में ही एक बृहदाकार ह्वेल समुद्र में उतराती हुई दृष्टिगोचर हुई। कोलम्बस के भीरु साथी फिर घबड़ा गए। उनका धैर्य अब प्रायः समाप्त हो चुका था और उसका स्थान कोलम्बस के प्रति उनके क्रोध ने ले लिया था।

'हम लोग इसकी बात नहीं मान सकते', एक बोला।

'मारो, फेंक दो इसे समुद्र में', कई चिल्ला उठे।

कोलम्बस सब सुन रहा था। धैर्यपूर्वक उसने सारे अप-मान को सहा। व्यथित वह अवश्य था, लेकिन उसकी आशाएँ अब भी भंग न हुई थीं। 'स्थल तो मिलेगा ही', उसने नम्रतापूर्वक अपने साथियों को समझाया।

दिन अस्त होते-होते पिन्ता का कमांडर पिंज़न चिल्ला उठा—'धरती, धरती!' मल्लाहों में हर्ष और खलबली मच गई और ईश्वर को धन्यवाद दिया जाने लगा। लेकिन दूसरे दिन सबेरा होने पर कोहरे के साथ-ही-साथ पिंज़न के दृष्टिभ्रम का भी लोप हो गया—स्थल का कहीं पता न था। असंतोष फिर बढ़ चला,—'न कहीं द्वीप और न देश, न सोना और न हीरा! हम लोगों की बलि व्यर्थ ही दी जा रही है। धोखेबाज़, पापी, देशद्रोही कोलम्बस!' बहुत-से लोग बड़बड़ाने और फिर चिल्लाने लगे; यहाँ तक कि कोलम्बस को मार डालने तक पर उतारू हो गए। किसी को समझाकर, किसी की ख़ुशामद कर, किसी को डाटकर और किसी को धमकी देकर कोलम्बस ने अपने साथियों को कुछ शांत किया। 'ईश्वर के नाम पर मुझे तुम तीन दिन और दो। यदि इस बीच हम किनारे न लगें, तो तुम जो मन में आए करना', कोलम्बस ने कहा।

दूसरे दिन सूर्योदय के समय कुछ ताज़े उखड़े हुए पेड़, कुछ कुल्हाड़ी तथा अन्य यंत्रों से कटे हुए लकड़ी के टुकड़े, एक अम्लान पुष्पों से लदी हुई डाली, तथा एक घोंसला जिसमें मादा चिड़िया अब भी बैठी हुई अपने अंडों को से रही थी, एक-एक करके समुद्र की लहरों में बहते हुए पाए गए। दूसरे दिन (यानी ११ अक्टोबर, १४९२, को) निशीथ के अंधकार में निद्राहीन कोलम्बस की खोजती हुई तीव्र दृष्टि सहसा क्षितिज पर अग्निशिखा के एक क्षणिक प्रकाश पर पड़ी। उसने धीरे से अपने कुछ विश्वासपात्र साथियों से उस ओर इशारा करते हुए कहा—'कुछ देखा आपने?' फिर एक प्रकाश दृष्टिगोचर हुआ और एक क्षण में अंतर्धान हो गया। प्रकाश था अवश्य, सबकी आँखों को धोका न हो सकता था; लेकिन सब चुप रहे—कहीं यह भी धोका ही न सिद्ध हो! इतने में 'पिंता' ने, जो आगे-आगे खेती

हुई चली जा रही थी, एक बंदूक़ दागी। 'भूमि-भूमि' की आवाज़ गूँज उठी, हर्ष से कोलाहल मच गया!

कोलम्बस उस वेदना में तप चुका था और अब भी तप रहा था, जिससे महान् सत्यों का जन्म होता है। यही सत्य, जो कि अब तक आशाओं के रूप में था, मनुष्य के समक्ष अब प्रत्यक्ष होने जा रहा था। भाँति-भाँति की अपरिचित सुगंधियाँ स्थल की ओर से आकर यात्रियों को आनंदित करने लगीं। १२ आक्टोबर की पौ फटने पर सागर-तरंगों से परिवेष्टित एक द्वीप का आकार दृष्टिगोचर होने लगा। और आगे बढ़ने पर किनारे की पीली बालू स्पष्टतः दिखाई पड़ने लगी। फिर हरी-भरी भूमि दृष्टिगोचर हुई और आगे पहाड़ियों के ढालों पर लगे हुए सुंदर विशाल वृक्ष और पहाड़ियों के शिखर दिखाई देने लगे। बीच-बीच में लकड़ी और पत्तों के बने घर, उनमें से उठता हुआ धुआँ, और फिर निकट पहुँचने पर नग्न अथवा अर्द्धनग्न पुरुष, स्त्रियाँ और बच्चे भी दिखाई देने लगे।

कोलंबस का धैर्य अब टूटा। उसके नेत्रों से आँसू बह चले थे। वह व्यग्र हो उठा उस 'कुमारी' धरती पर पैर रखने, उस पर ईसाई धर्म और स्पेन का झंडा गाड़ देने के लिए। उसने सम्राट् द्वारा प्रदत्त एड्मिरल और वायसराय के पद के अनुसार अपनी शाही पोशाक पहन ली और तट की ओर बढ़ा। भूमि पर उतरते ही उसने घुटने टेके, धरती को चूमा और घास में अपना मुँह गड़ाकर फूट-फूटकर रोने लगा। ईश्वर को उसने भूरि-भूरि धन्यवाद दिए और ईसा के नाम पर उसने उस द्वीप का नाम 'सैन सल्वाडार' रख दिया।

कोलम्बस के साथी एक ओर हर्ष से उन्मत्त हो रहे थे, तो दूसरी ओर लज्जा से गड़े जा रहे थे। अभी दो ही दिन पहले उन्होंने अपने एड्मिरल को मार डालने, उसे समुद्र में फेंक देने तक का प्रायः निश्चय कर लिया था! पश्चात्ताप, क्षमायाचना और सम्मान के भावों से विचलित होकर वे उसके चरणों पर गिर पड़े।

उस द्वीप के नग्न ताम्रवर्ण निवासी यह सारा दृश्य देखकर भयभीत हो रहे थे। न उन्होंने ऐसी नौकाएँ देखी थीं, न ऐसे मनुष्य और न ऐसे चमकते हुए वस्त्र ही। उन्हें ऐसा मालूम पड़ा, मानो ये मनुष्य स्वर्गलोक से उतरकर पृथ्वी पर आये हों! पूजा और उपासना के भाव से आकर्षित होकर वे धीरे-धीरे सन्निकट आ गये। हाय रे

कोलंबस का यात्रा मार्ग और मुख्य नौका सांता मेरिया
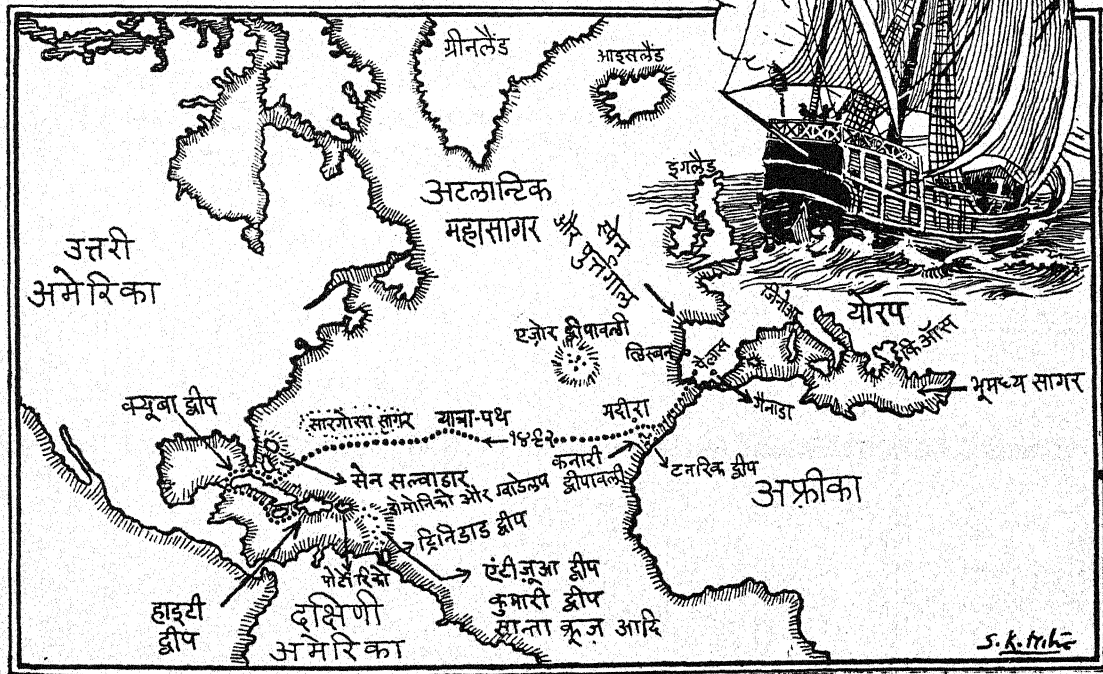
मूलनिवासी! तुम उस समय यह न समझ सके कि वे देवता न थे, तुम्हीं को जीवन-संग्राम में पराजित करने के लिए आये हुए ये तुम्हारे बंधु—मनुष्य ही—थे!

कोलम्बस समझता था कि वह एशिया के पूर्वीय द्वीपों में से एक में आ पहुँचा है। इसलिए उसने इन मूलनिवासियों को 'इंडियन' कहकर पुकारा। यद्यपि कोलम्बस का विचार ग़लत था तथापि बचे-खुचे मूलनिवासी इसी नाम से अब तक पुकारे जाते हैं।

सैन सैल्वेडर से चलकर सुवर्ण की खोज में घूमता हुआ कोलम्बस क्यूबा नामक द्वीप में पहुँचा। इस द्वीप को उसने जापान समझा। वहाँ उसने तम्बाकू और उसकी उपयोगिता से पहले-पहल परिचय प्राप्त किया। क्यूबा के किनारे-किनारे घूमते हुए और उसके प्राकृतिक सौन्दर्य की सराहना करते हुए वह दूसरे द्वीप 'हाइटी' में जा पहुँचा। इस द्वीप का नाम उसने 'हिस्पेनिओला' रक्खा। इस द्वीप के किनारे कोलम्बस का जहाज़ सांता मेरिया पानी में बैठ गया। अतएव उसने अपने ४४ साथियों को उस द्वीप में छोड़ दिया। सांता मेरिया से जो कुछ लकड़ी निकल सकी, उससे उसने उन मनुष्यों को रहने के लिए एक क़िला बनवा दिया। ४ जनवरी, सन् १४९३, को वह अन्य साथियों को लेकर स्पेन की ओर लौट चला। छोड़े हुए साथियों को उसने आश्वासन दिया कि वह शीघ्र ही लौटेगा और तब तक वे इस द्वीप के विषय में जितना ज्ञान प्राप्त कर सकें करें। बड़ी कठिनाइयों के बाद १३ मार्च को वह पैलॉस फिर पहुँच सका। अपने विजय-चिह्नों को प्रदर्शित करने के लिए वह अपने साथ अन्वेषित प्रदेशों के कुछ विचित्र तोते, अन्य बहुतेरी वस्तुएँ तथा कुछ मूलनिवासी लाया था। प्रजा और राजा की ओर से उसका खूब धूमधाम से स्वागत किया गया।

इसके पश्चात् कोलम्बस ने तीन यात्राएँ और कीं और इनमें उसने क्रमशः डोमिनिका, ग्वाडेलूप, ऐंटिगुआ, सांता क्रूज़, कुमारी (वर्जिन) द्वीपावली, पोर्टोरिको, जमैका, ट्रिनिडाड आदि अनेकानेक द्वीपों तथा दक्षिण अमेरिका की प्रधान भूमि का अन्वेषण किया। परन्तु कोलम्बस इनको एशिया के पूर्वीय द्वीपसमूह ही समझता रहा। कई वर्षों बाद कुछ अन्य यात्रियों ने, जिनमें एक अमेरिगो विस्पुकी था, अपने अन्वेषणों द्वारा यह सिद्ध किया कि जिसे कोलम्बस एशिया समझ रहा था, वह एशिया नहीं, किंतु अब तक के अज्ञात दो महान् महाद्वीप उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका हैं। इन महाद्वीपों का नाम अमेरिका कदाचित् 'अमेरिगो' के नाम पर ही पड़ा। कोलम्बस ने, वास्तव में, एक नई दुनिया को ढूँढ़ निकाला था, और पृथ्वी का वह अर्द्धगोल, जिसमें अमेरिकाएँ स्थित हैं, अब भी नई दुनिया के नाम से पुकारा जाता है।

अपनी दूसरी यात्रा में कोलम्बस बहुत-से जहाज़ और १५०० मनुष्य ले गया था, इस आशा से कि वह उपनिवेशों की स्थापना करेगा। जब घूमता हुआ वह फिर हिस्पेनिओला पहुँचा तो उसने देखा कि वह लकड़ी का क़िला, जो उसने वहाँ पहली यात्रा में बनाया था, नष्ट-भ्रष्ट पड़ा है और उन छोड़े हुए ४४ मनुष्यों में से किसी का पता नहीं। वे कदाचित् आपस में ही अथवा मूलनिवासियों से लड़कर मर-खप चुके थे। तथापि उसने फिर अपने साथियों को उपनिवेशित करने की योजना की। किंतु जलवायु अनुकूल न होने के कारण उसके मनुष्यों में घोर असंतोष फैल गया। वे कोलम्बस के व्यवहार से भी संतुष्ट न थे, अतएव स्पेन की राजसभा में उसकी शिकायतों पर शिकायतें पहुँचने लगीं और उसे लौटना पड़ा। तीसरी यात्रा में कोलम्बस के विरुद्ध इतनी शिकायतें हुईं कि वह गिरफ़्तार कर लिया गया और हथकड़ियाँ पहनाकर स्पेन वापस लाया गया। रास्ते में जहाज़ के कप्तान ने उसकी हथकड़ियों को खोल देने के लिए कहा, किंतु कोलम्बस राज़ी न हुआ। उसने कहा—"मैं उन्हें तब तक पहने रहूँगा, जब तक स्वयं राजा और रानी, जिनकी आज्ञा से मैं क़ैद हुआ हूँ, उन्हें न खुलवावें। यह हथकड़ियाँ मुझे राज्य के प्रति अपनी सेवाओं के पुरस्कार में मिली हैं, अतएव इस पुरस्कार के स्मारकस्वरूप मैं इन्हें सदैव अपने पास रक्खूँगा। ये मुझे इतनी प्यारी हैं कि मैं चाहता हूँ कि मेरे मरने पर वे मेरे ही शव के साथ गाड़ दी जायँ।" रानी आइसाबेला ने, जो कोलम्बस को बहुत चाहती थी, जब सारी कहानी सुनी, तो उसकी आँखों से आँसू बहने लगे। उसने बहुत दुःख प्रकट किया और कोलम्बस के अपमान की पूर्ति यथासाध्य धन एवं सम्मान द्वारा की। कोलम्बस जब अपनी चौथी और अंतिम यात्रा से लौटा, वैसे ही उसकी संरक्षिका रानी आइसाबेला का देहांत हो गया। जीवन के अंतिम वर्षों में निर्धनता और रोग के कारण उसने बड़ा कष्ट सहा और २० मई, सन् १५०६, को उसकी मृत्यु हो गई। जो कुछ भी हो, वह अपने जीवन में ऐसा कार्य कर गया, जिससे संसार के इतिहास में उसका नाम सदैव स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा; उसकी कथा जब तक पृथ्वी पर मनुष्य हैं, कही जायगी।

महत्वपूर्ण सम्मतियाँ

"मेरी राय में यह एक बहुत ही आकर्षक और बड़ी योग्यता तथा सजधज के साथ तयार किया हुआ प्रकाशन है। मैं इसकी सफलता चाहता हूँ।"

(पं०) जवाहरलाल नेहरू

"मुझे तनिक भी संदेह नहीं है कि यह ग्रंथ विषयों की टेकनिकल या बारीक बातों को छोड़कर जनता को वैज्ञानिक ढंग से शिक्षा देने में बहुत अधिक सहायक होगा। मैं इस कार्य की हर तरह से सफलता चाहता हूँ।"

(सर) स० राधाकृष्णन्,
[वाइस-चांसलर, काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय]

"चित्रसंचय, छपाई और विषयचयन, सभी दृष्टियों से यह उपादेय वस्तु है और भाषा भी सर्वथा विषयानुकूल है। इसके प्रकाशन और संपादन से संबंध रखनेवाले बधाई के पात्र हैं।"

(बाबू) संपूर्णानन्द,
[भूतपूर्व शिक्षा-मन्त्री, संयुक्त प्रान्त]

"यदि इसी योग्यता से इसका सम्पादन होता रहा तो इसमें सन्देह नहीं कि अन्य भाषाओं के ज्ञान-कोषों से किसी अंश में यह कम नहीं रहेगा।"

(पं०) अमरनाथ झा
[वाइस-चांसलर, प्रयाग-विश्वविद्यालय]